डा० वर्णेकर जी
कुलपति को
सादर
— नगेन्द्र
25-X-94

वैदिक राज-दर्शन

दयानन्द सरस्वती द्वारा पुनः प्रस्तुत

वैदिक राज-दर्शन

और

उसका भारतीय राजनीति में उपयोग एवं प्रयोग

प्रोफेसर डाक्टर रामेश्वर दयाल गुप्त
M.A., B. Sc., AMIETE, Ph. D. सिद्धान्त-शास्त्री
प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान-विभाग शि० द० पोस्ट ग्रेजुएट कोलेज-गाजियाबाद उ० प्र०
एवं
अध्यक्ष—त्रैत-वाद-पीठ, रामेश्वर कुन्ज—आर्यनगर, ज्वालापुर (हरिद्वार) उ० प्र०

लाइट एण्ड लाइफ़ पब्लिशर्स
नई दिल्ली रोहतक जम्मू

प्रकाशक :
लाइट एण्ड लाइफ पब्लिशर्स
2428, तिलक गली, पहाड़ गंज, नई दिल्ली
पि० को-110055

प्रथम संस्करण : 1979
[भोपाल विश्वविद्यालय से दिसम्बर 1976 में
डाक्टर ग्राफ फिलासफी हेतु स्वीकृत
शोध-प्रबन्ध]

मुद्रक : शान प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110032

अपनी स्वर्गीया स्नेहमयी माता
श्रीमती त्रिवेनी देवी को
समर्पित

जो कह गई थीं कि

"जीवन का चतुर्थांश वानप्रस्थ-आश्रम
में प्रवेश कर समाज-सेवा में लगा
कर ऋषि-ऋण से उऋण होना।"

भूमिका

डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्त द्वारा लिखित दयानन्द सरस्वती द्वारा पुनः प्रस्तुत "वैदिक राजदर्शन और उसका भारतीय राजनीति में उपयोग एवं प्रयोग" के सम्बन्ध में दो शब्द लिखते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

भारत अत्यन्त प्राचीन देश है। इसकी सभ्यता और संस्कृति इतनी पुरानी है जितनी विश्व में कम ही देशों की होगी। स्वयं भारतीयों को अपनी प्राचीनता का आभास और उस पर गर्व अवश्य था, किन्तु उसका तर्क-सम्मत आधार पश्चिम के विद्वानों ने ही प्रस्तुत किया। आधुनिक काल में जब भारत का पश्चिमी देशों से सम्बन्ध हुआ और उन्होंने इस देश में अपने राज्य स्थापित किए, तब से पाश्चात्य विद्वानों ने इस देश के साहित्य और संस्कृति का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। चूंकि उनका यह अध्ययन एक विजेता द्वारा विजित जाति के इतिहास का अध्ययन था और उन्होंने सैन्य बल से इस देश को पराजित किया था इसलिए सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में वे इस देश के मुकाबले पराजय स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। यद्यपि वास्तविकता यह रही है कि कला और वाङ्मय के क्षेत्रों में वे इस देश के मुकाबले बौने थे। इसलिए पश्चिम के विद्वानों ने हमेशा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारत की देन नगण्य है। बाद में जाकर दबी जबान से जहाँ इस देश की कला और साहित्य की श्रेष्ठता को उन्होंने स्वीकार किया, वहीं यह भी कहने लगे कि इन क्षेत्रों में मुसलमानों के आने से पूर्व जो भी उपलब्धि भारतीयों ने प्राप्त की वह यूनान की देन है और मुसलमानों के आने के बाद इस्लाम की। पश्चिम के ये विद्वान यह सिद्ध करने की कोशिश में लगे रहे कि मौर्य कला पर ईरान के रास्ते यूनानी प्रभाव है; और कालिदास के नाटकों पर यूनानी नाट्यकला का प्रभाव है। शंकर, मध्व, रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों का उद्भव दक्षिण भारत में इस्लाम के प्रवेश के कारण हुआ। ये विद्वान भक्ति आन्दोलन के उत्स सूफी दर्शन में ढूंढ़ते हैं। यहाँ हम मौर्य कला और कालिदास पर यूनानी प्रभाव और शंकर पर इस्लाम के प्रभाव या भक्ति आन्दोलन पर सूफी प्रभाव के ऊहापोह में नहीं जाना चाहते। यहाँ हम पश्चिम के विद्वानों की इस धारणा पर विचार करेंगे कि क्या ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन भारत की देन नगण्य है। ब्लूमफील्ड आदि विद्वानों ने कहा है कि "भारतीय मेधा अध्यात्म के चिन्तन में अधिक सुख पाती रही है। मानविकी विशेषकर राजनीति के क्षेत्र में उनकी कोई देन नहीं है।"

यहाँ संक्षेप में उनकी इस स्थापना पर विचार कर सकते हैं। जहाँ तक राज-नीति शास्त्र का प्रश्न है, अत्यन्त प्राचीन काल से इस देश में इस विषय का गम्भीर अध्ययन किया गया है और इस क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई। इस विषय के अनेक नाम प्राचीन-काल में मिलते हैं। "आपस्तंब धर्मसूत्र" (11.9.25) में इस विषय का विचार राज-धर्म के अन्तर्गत किया गया है। सूत्रकार ने लिखा है "अब तक हमने सामान्य और विशेष धर्म बतलाये। अब राज-धर्म का विशेष उल्लेख करेंगे।" "महाभारत" के शान्ति-पर्व (56-172) में राज-धर्म पर चर्चा की गई है। राज-धर्म पर विचार करते समय राज-शास्त्र के सिद्धान्तों और व्यवस्थाओं की विशद् व्याख्या की गई है। "मनुस्मृति" (vii) में भी राज-धर्म के अन्तर्गत इस विषय पर विचार किया गया है।

महाभारत के शान्ति-पर्व में ही इस के दूसरे नाम "राज-शास्त्र" का उल्लेख है। शान्ति-पर्व में कहा गया है कि सबसे पहले ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों में राज-शास्त्र की रचना की। "शिव विशालाक्ष" ने दस हज़ार अध्यायों में इसको संक्षिप्त किया। विशालाक्ष के ग्रन्थ को पढ़कर इन्द्र ने पाँच हजार अध्यायों में इसको संक्षेप किया, जिसका नाम "बाहु-दन्तक" था। बृहस्पति ने तीन हजार अध्यायों में इस बाहु-दन्तक को संक्षिप्त किया, जिसको काव्य-उशनस्थ अर्थात् शुक्र ने एक हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया। "काम-सूत्र" (1,58) में भी प्रजापति ब्रह्मा द्वारा लिखित एक हजार अध्यायों के राज-शास्त्र के ग्रन्थ की चर्चा की है। जिसका संक्षिप्त क्रमशः मनु, बृहस्पति और नन्दी ने किया। शान्ति-पर्व (69, 33-74) में ब्रह्मा के उस ग्रन्थ में जिन विषयों पर विचार किया गया है, उनका संक्षिप्त उल्लेख है।

अर्थशास्त्र और दण्डनीति भी इस विषय के अन्य नाम थे। नीतिशास्त्र और राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत भी इस विषय पर चर्चा की गई है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री विष्णुगुप्त अपर नाम कौटिल्य द्वारा रचित अर्थ-शास्त्र इस विषय का संसार में सबसे प्राचीन और सुव्यवस्थित ग्रन्थ है। ग्रन्थ का प्रारम्भ व अन्त शुक्र और वृहस्पति की वन्दना से होता है, जो राजशास्त्र के आचार्य थे। पुनः लेखक ने लिखा है "पृथिव्याः लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि, प्रायशस्तानि संगृह्य एकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।"

अर्थात् पृथ्वी के लाभ और पालन के लिए जितने अर्थशास्त्रों की पूर्वाचार्यों ने स्थापना की थी, प्रायः उनका ही संग्रह कर इस एक अर्थशास्त्र की रचना की गई। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कौटिल्य से पूर्व अनेक आचार्यों ने अर्थशास्त्र की रचना की थी। ग्रन्थ की पुष्पिका में लिखा है :—

दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्
स्वयमेव विष्णुगुप्तः चकार सूत्रं च भाष्यं च ॥

आचार्य विष्णुगुप्त को इस बात का बहुत क्षोभ था कि भाष्यकार शास्त्रों के

वचनों में बहुधा गोलमाल कर देते हैं, इसलिए उन्होंने स्वयं सूत्र भी लिखे और उनका भाष्य भी। जैसे अर्थशास्त्र सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य ने लिखा है :—
"मनुष्याणां वृत्तिः=अर्थः=मनुष्यावर्ती भूमिरित्यर्थः, तस्या पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रं-अर्थशास्त्रमिति।"

अर्थात् मानव-स्थिति के बोधक पदार्थ अर्थ हैं और इनकी आधारभूत पृथ्वी है। इस पृथ्वी के लाभ और पालन का शास्त्र अर्थशास्त्र है। आज भी राजनीति की इतनी व्यापक कल्पना नहीं की जाती। कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथम प्रकरण "विद्या-समुद्देश्य" में कौटिल्य के समय में जितनी विद्याओं का अध्ययन किया जाता था, उनका उल्लेख है। कौटिल्य ने लिखा है :—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः
त्रयीवार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः
वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः
दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः
चतस्त्र एव विद्या इति कौटिल्यः

इससे स्पष्ट होता है कि उस समय मनु, बृहस्पति और शुक्र के सम्प्रदाय थे। इनमें मनु के अनुयायी त्रैयी अर्थात् ऋक् साम और यजुर्वेद, वार्ता अर्थात् कृषि और वाणिज्य और दण्डनीति ये तीन विद्यायें मानते थे। बृहस्पति के अनुयायी वार्ता और दण्डनीति दो विद्यायें मानते थे और उशनस् अर्थात् शुक्राचार्य के अनुयायी दण्डनीति को ही एकमात्र विद्या मानते थे, जबकि कौटिल्य आनुवेक्षिकी, त्रैयी, वार्ता और दण्डनीति चारों को विद्या मानते थे। कौटिल्य के इस उल्लेख से एक बात स्पष्ट है कि उस काल का कोई भी आचार्य ऐसा नहीं था जो दण्डनीति को विद्या न मानता रहा हो। यहाँ तक कि शुक्राचार्य के अनुयायी तो दण्डनीति के अतिरिक्त और कोई विद्या ही नहीं मानते थे।

जैसा हमने ऊपर उल्लेख किया है कि प्राचीन काल के भारतीय यह मानते थे कि राज शास्त्र की उत्पत्ति ब्रह्मा के ग्रन्थ से हुई, अर्थात् इस देश में इसकी उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन है। कौटिल्य के समय तक आते-आते तो इसके कई सम्प्रदाय भी हो चुके थे। किसी सम्प्रदाय के निर्माण में निश्चय ही शताब्दियाँ गुज़र गई होंगी। अर्थशास्त्र में मनु, बृहस्पति और उशनस् के अतिरिक्त पराशर और आम्भीस सम्प्रदायों का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त राजशास्त्र के अनेक छिटपुट लेखकों का भी उल्लेख है जैसे—बाहुदन्तीपुत्र (इन्द्र), दीर्घ चारायण, घोटमुख, कणिक, भारद्वाज, कात्यायन, किंजलक, पिशुन, (नारद), बातव्याधि, (विदुर), विशालाक्ष (शिव) और कौणयदन्त (भीष्म)।

महाभारत के **शान्तिपर्व** में राजशास्त्र के आचार्यों में बृहस्पति, भारद्वाज, गौरशिरस, काव्य (शुक्र), महेन्द्र, मनु और विशालाक्ष (शिव) के नाम आये है। यदि

इन दोनों स्रोतों की तुलना की जाये तो इससे प्रतीत होगा कि प्राय: ये सभी नाम समान हैं। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में राजशास्त्र का हमारे देश में गहन अध्ययन होता था और इस विद्या के अनेक आचार्य हुए हैं और उनके अलग-अलग सम्प्रदाय थे, जो विभिन्न विषयों पर अलग दृष्टि से चिन्तन करते थे। उन्होंने इस विषय में अपने-अपने ग्रन्थ भी लिखे होंगे, जिनमें से प्राय: सभी कालान्तर में नष्ट हो गये। तथापि इनमें से कुछ मूल रूप में बच रहे हैं, शेष अपने परिवर्तित रूपों में अथवा परवर्ती ग्रन्थों में आये उद्धरणों से ज्ञात होते हैं। इस विषय के आदि ग्रन्थ राजशास्त्र के विभिन्न आचार्यों की चर्चा ऊपर आ चुकी है। मनु सम्प्रदाय के राजनीतिक विचारों का संग्रह संक्षेप में "मनुस्मृति" के 7वें अध्याय में मिलता है। शुक्र के विचार "शुक्रनीतिसार" में संगृहीत हैं। बृहस्पति की स्मृति लुप्त हो चुकी है हाँ, उनके यत्र-तत्र बिखरे वचनों के संग्रह "बृहस्पतिस्मृति" नाम से बड़ौदा की "गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज" में प्रकाशित हुए हैं। शेष लेखकों के वचन कौटिल्य के अर्थशास्त्र, महाभारत के शान्तिपर्व में बिखरे पड़े हैं। इसके बाद के ग्रन्थों में भी फुटकर वचन मिलते हैं। वस्तुत: हुआ यह कि जब इस विषय पर "कौटिल्य के अर्थशास्त्र" के रूप में एक प्रामाणिक कृति आ गई तो अन्य ग्रन्थों का महत्त्व घट गया और इस रूप में उनके अध्ययन-अध्यापन में भी अवरोध उत्पन्न हो गया। **महाभारत** के **शान्तिपर्व** में जहाँ इस विषय की अपेक्षाकृत विशद् चर्चा हुई है, वहाँ भी अनेक आचार्यों के वचन संगृहीत हो गये।

ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी तक जब अर्थशास्त्र की रचना हुई भारत में राजनीति विषयक तकनीकी शब्दावली स्थिर हो चुकी थी। सप्तांग राज्य, षाड्गुन्य, चार शक्तियाँ (साम, दाम, दण्ड, भेद) अष्टवर्ग, पंचवर्ग, सबके निश्चित अर्थ थे।

आधुनिक युग में हमारे प्राचीन शास्त्रों का उद्धार स्वामी (महर्षि) दयानन्द सरस्वती ने किया। वस्तुत: वे इस युग के कौटिल्य कहे जा सकते हैं। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ के अन्त में एक श्लोक में लिखा है :—

> येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भू:
> अमर्षणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥

कौटिल्य के समय में शास्त्र और शस्त्र और नन्दराजा के अधीन भारत-भूमि पतन को प्राप्त हुई थी। आचार्य कौटिल्य ने अमर्ष अर्थात् क्रोध के साथ शास्त्र, शस्त्र और पृथ्वी सब का उद्धार किया। उस काल में भाष्यकार शास्त्रों के अर्थ का अनर्थ-कर देते थे, इसलिए स्वयं आचार्य कौटिल्य को सूत्र और भाष्य दोनों लिखने पड़े। यही बात महर्षि दयानन्द सरस्वती के काल में भी थी। उस समय हमारे शास्त्र अन्धकाराछन्न थे और उन पर ढोंग की पर्तें चढ़ी हुई थीं। महर्षि दयानन्द ने शास्त्रों के सत्य अर्थ प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया था, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम **"सत्यार्थ प्रकाश"** रखा। इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि महर्षि

ने भी कौटिल्य की भाँति बड़े अमर्ष के साथ शास्त्रों का उद्धार किया था और पराधीन भारत की स्वतन्त्रता की नींव रखी थी ।

खेद की बात यह है कि महर्षि दयानन्द के समय तक कौटिल्य का **अर्थशास्त्र** अप्राप्य था । महर्षि दयानन्द ने राज्य का विवेचन करने के लिए मनुस्मृति और वेदों को आधार माना । वेदों में **सभा** और **समिति** का उल्लेख आया है । **सभा** और **समिति** की वास्तविक व्याख्या और उनके महत्त्व को सबसे पहले महर्षि दयानन्द ने पहचाना । अब तो प्राचीन भारतीय राज-शास्त्र के अध्येता इनकी विशद व्याख्यायें करने लगे हैं तथापि अभी तक **सभा** और **समिति** की जो व्याख्या स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की वह खण्डित नहीं हुई है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों का जो भाष्य डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्त ने अपने इस शोध ग्रन्थ में किया है वह एक प्रकार से स्वामी जी के सूत्रों पर वार्तिक जैसा ही है । यहाँ मैं "वार्तिक" शब्द का प्रयोग इसके बहुप्रचलित अर्थ, छन्दबद्ध टीका के रूप में नहीं कर रहा हूँ; अपितु उसके न्याय सम्मत तात्पर्य अर्थात् **उक्तानुक्तदुरुक्त-चिंतकम्वार्तिकम्** के रूप में कर रहा हूँ। स्वामी जी ने जो कुछ कहा है और उस परम्परा में जो उनसे अनुक्त रह गया है तथा उनके विचारों के सम्बन्ध में जो टीकाएँ अर्थात् दुरुक्तियाँ हैं, उनका चिन्तन डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्त जी ने अपने इस ग्रन्थ में किया है ।

डॉ० गुप्त ने न केवल प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का अध्ययन किया है अपितु वे पश्चिम के लेखकों की स्थापनाओं से भी परिचित हैं । डॉ० गुप्त की स्थापना यह है कि हीगल का द्वन्द्ववाद वास्तव में अथर्ववेद काण्ड 8, सूक्त 10 का अनुवादन ही है । अथर्ववेद के इस सूक्त की व्याख्या करते हुए डॉ० गुप्त ने यह दिखलाया है कि किस प्रकार राज्य का उद्‌भव और विकास हुआ । सबसे पहले वैराज्य की स्थिति थी जिसको पश्चिम के विद्वान Statelessness कहते हैं । वैराज्य की स्थिति के बाद प्रजा ने क्रान्ति की और फिर कुटुम्ब बने । कुटुम्ब के बाद गोत्र, गोत्र से आगे जातियों का विकास हुआ और जाति से **सभा** अर्थात् लोकसभा बनी और उसी से **समिति** अर्थात् अपर हाउस का विकास हुआ । अन्य अवस्थाओं को पार करते हुए क्रमश: पृथ्वीप्रेम और फिर राष्ट्रीयता का विकास हुआ ।

डॉ० गुप्त ने प्राचीन भारत के मनीषियों द्वारा प्रतिपादित सप्तांग राज्य की भी बड़े तर्क-सम्मत ढंग से व्याख्या की है । महर्षि दयानन्द सरस्वती ने धर्मार्य, राजार्य और विद्यार्य सभाओं के रूप में क्रमश: विधायी, कार्यकारी और विद्यानुदान शाखाओं में राज्य के समस्त कार्यकलापों का विभाजन किया है और कल्पना यह रखी है कि ये सभी समान शक्ति वाले होंगे और परस्पर सहयोग से राष्ट्र की उन्नति करेंगे ।

डॉ० गुप्त ने महर्षि दयानन्द सरस्वती की कल्पना के अनुरूप संविधान में कतिपय सुधार भी सुझाये हैं, जिन पर देश के संविधान-शास्त्रियों को विचार करना चाहिए ।

मुझे पूरा विश्वास है कि डॉ० गुप्त के इस शोधपूर्ण ग्रन्थ का विद्वानों के बीच समादर होगा। ज्ञान के क्षेत्र में उनके इस ग्रन्थ का मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ।

3, कृष्ण मेनन रोड
नई दिल्ली
शिवरात्रि (ऋषि बोध-दिवस)
25 फरवरी 1979

—शेर सिंह
प्रतिरक्षा राज्य-मन्त्री, भारत सरकार

दयानन्द सरस्वती द्वारा पुनः प्रस्तुत वैदिक राजदर्शन का स्वरूप श्रौर उसका भारतीय राजनीति में उपयोग एवं प्रयोग

अनुक्रम

शोध का पूर्वार्द्ध

(प्रथमांश)

सम्मुलास-1 से 5 तक

प्राक्कथन
वैदिक राजनैतिक त्रैतवाद
उसका श्रोत—वैदिक आध्यात्मिक त्रैतवाद
त्रैतवाद की मनुष्य सम्बन्धी मान्यता
त्रैतवाद में कर्मफल और कर्मफल-प्रदाता ईश्वर का अस्तित्त्व

सम्मुल्लास-1

प्राक्कथन

1
प्राक्कथन

1.01 राजनीति शास्त्र की सीमा और दर्शन से सम्बन्ध

संसार में ज्ञान एवं विज्ञान के प्रसार एवं प्रचार की बाढ़ आ गई है। विश्व व्यापार और उसके निवासियों की हर समस्या पर महानतम खोज हुई है। हर विषय पर इतना साहित्य-सृजन हो चुका है कि किसी भी एक विषय को ही आत्मसात करने में एक मनुष्य का सारा जीवन लग सकना संभव है। पदार्थों के गुण-दोष और गति, भौतिक विज्ञान (Physics) में वर्णित हैं। पदार्थों के मिलन और पृथक्करण की पद्धति रसायन-शास्त्र (Chemistry) में, पृथ्वी के गर्भ में स्थित पदार्थों का वर्णन भूगर्भ विद्या में तथा वृक्षादि का ज्ञान वनस्पतिशास्त्र (Botany) में आ जाता है। इन पदार्थों के उपयोग और दोहन हेतु इंजीनियरिंग का विशाल क्षेत्र है जिसके क्रमशः कृषि, जल, मशीन, विद्युत तथा आकाश-विचरण सम्बन्धी पृथक्-पृथक् विस्तृत विषय हैं।

पदार्थों के बाद मनुष्य के जन्म की कहानी, प्राणिशास्त्र (Ecology) में तथा उसके उत्थान-पतन और संगठन की कहानी इतिहास (History) से वर्णित है। मनुष्य क्यों पैदा हुआ, यह दर्शनशास्त्र (Philosophy) का विषय है। पैदा होकर कैसे जीवित है और पृथ्वी से अधिकतम भोग-पदार्थ कैसे प्राप्त करे, यह अर्थशास्त्र (Economics) में वर्णित है। उन पदार्थों का वितरण समाज में कैसे हो, ताकि निर्बल और सबल, सुख शान्ति से रह सकें, यह राजनैतिक-विज्ञान (Political science) का विषय है। जन समुदाय, अपना श्रम से बचा समय किस ओर खर्च करें, इससे ललितकलाओं (Arts) की ओर साहित्य (Literature) के सृजन एवं मंथन की आवश्यकता हुई और उनके भी पृथक् महान विषय बन गये—कविता, नृत्य, नाटक, प्रहसन, मूर्तिकला, चित्रकला और प्रकृति निरीक्षण। इस प्रकार सब प्रकार से यदा-कदा

सन्तुष्ट मनुष्य जब स्थायी सुख की खोज में पीछे लौटता है, तब वह विरक्त होकर आध्यात्मिकता की ओर झुकता है। संसृति से मानव ने इस यात्रा को पार करने के लिए अथाह खोज की है और हर विषय के ज्ञान को पुस्तकाकार करके आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रख दिया है। भोगों का सृजन, उनसे स्वयं और समाज के लिए सुख और आनन्द की धर्म-पूर्वक प्राप्ति, यही ऐहिक जीवन का भौतिक उद्देश्य रहा है। जिसमें सारे समाज के प्रति प्रेम होगा वह राजनीति में प्रवेश किये बगैर न रह सकेगा। गान्धी जी ने एक स्थल पर कहा है :

I Could not be leading a religeous life unless I identified myself with whole man-kind and that I could not do unless I took part in politics.

(जब तक मैं सारी मनुष्य जाति के साथ अपने को समाहित नहीं कर देता, मैं धार्मिक व्यक्ति कैसे कहला सकता हूँ ? और जब तक राजनीति में भाग न लूँ, तब तक वह समाहितता कैसे सम्पन्न हो सकती है ?)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक साधन-चतुष्टय का उल्लेख भारतीय वाङ्मय में बार-बार है। उसमें से अर्थ, काम और धर्म का समन्वय तो राजनीति में ही है। इन सब को भोगकर इनसे विमुख नहीं वरन पराङ्मुख होकर ही मोक्ष अर्थात अध्यात्म की ओर जाना हो सकता है।

सैमेटिक पुराणों के अनुसार मानवों ने संसार में प्रवेश न किया होता— यदि आदम ने अंजीर का फल न चखा होता। वे ईश्वर सानिध्य में ही मग्न रहे होते, पर न यह सृष्टि होती और न यह विश्व-वैचित्र्य। तभी शैतान ने कहा था कि दुनिया को प्रारम्भ कराने और चलाने का श्रेय उसको ही है। कहानी में शैतान सृष्टि का आदि राजनीतिज्ञ था जिसके प्रयत्नों के फलस्वरूप मनुष्य ऐहिक पदार्थों से आनन्द लाभ कर रहा है। मनुष्य जाति को उस आदि पुरुष शैतान का कृतज्ञ होना चाहिए।

समाजशास्त्र के सिद्धान्तों की अवहेलना समर्थ-मनुष्य ने सदा की है। उसके मत्स्य-न्याय की समाप्ति करने हेतु ईश्वर ने मनुष्य को राज्य संगठन के सूत्र दिये हैं और इस सूत्र के संचालन हेतु एक दर्शन शास्त्र दिया है, जिसके अनुसार वह सूत्र कार्य करके संसार में व्यवस्था लाकर मानव को सुख और शान्ति देकर उसकी शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति करेगा। दर्शनशास्त्र वह नपना है जिस पर औचित्य तौला जावेगा और राज्य शक्ति कानून बनावेगी, जिसका मानना हर नागरिक का कर्तव्य होगा। राज्य-तन्त्र शून्य में काम नहीं करता। उसके कुछ उद्देश्य होते हैं। उन्हीं उद्देश्यों की तराजू पर सब कुछ तोला जाता है।

1.02 दर्शनशास्त्र तथा आर्यों का दर्शन 'त्रैतवाद'

दर्शनशास्त्र के उदभव और विकास की पृथक् कहानी है। वह वास्तव में प्रकृति, मनुष्य और सर्वनियन्ता नियामक के परस्पर सम्बन्धों की एक कड़ी है। कोई इनमें से एक

को, कोई दो को. कोई तीनों को सर्वोत्तम शक्ति सम्पन्न एवं स्वतन्त्र सत्ता मानता है। इस प्रकार सारा दर्शनशास्त्र छः विचारधाराओं में बँटा है। $(3C2 = 3 \times 2 = 6)$ आर्यों का वैदिक दर्शन तीनों पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता मानने वाला होने से त्रैतवाद कहलाता है। वह इन तीनों के परस्पर सम्बन्धों का निर्देशन करता है। इसका आधार विश्व की सर्वप्रथम पुस्तक वेद में वर्णित है। पर कालान्तर में भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मत कहे हैं। किसी ने केवल ब्रह्म को माना और शेष संसार को उसी से उद्भूत पर मायावत कहा, किसी ने संसार को मूल प्रकृति रूप में अनादि किसी ने प्रवाह से अनादि, किसी ने आत्मा को अस्थिर एवं नित्यनिर्मित माना तो किसी ने अनादि। किसी ने जीव को पापमय और स्वभावतः क्रूर व पापी माना तो किसी ने स्वभावतः धार्मिक। किसी ने संसार की रचना उद्देश्यहीन मानी, किसी ने दुःख-पूर्ण तो किसी ने सुख से भरी हुई। किसी ने व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान किया तो किसी ने उसे मूलतः समाज या राज्य के लिए उत्पन्न मांस का लौंदा बताया। किसी ने प्रकृति के पदार्थों को भोग्य हेतु भूरि-भूरि विकृत करने की कही तो किसी ने उसे त्याज्य बताकर वैराग्य की बात कही। किसी ने कहा कर्म का फल स्वयं मिलता है तो किसी ने न्यायकर्ता की आवश्यकता बताई। किसी ने कहा कि यही एक जीवन है, तो किसी ने कहा जीवन अमर और बारम्बार है। किसी ने मनुष्य मात्र की बराबरी की घोषणा की, तो किसी ने उनमें जन्मतः आचारतः, रंग, नस्ल या जन्म लेने वाले देश की उच्चता के आधार पर उन्हें छोटा-बड़ा बताया। किसी ने सब विचारों और संस्कृतियों को फलने-फूलने की स्वतन्त्रता दी, तो किसी ने एकरूपता का नारा लगाया। और जिसने जिस विचार को ठीक समझा, राजनैतिक शक्ति हाथ में आते ही वैसा ही कानून बनाकर मानव को उन पर चलने को मजबूर किया। तभी रूसो ने कहा था कि--

Man was born free but everywhere he is in chains.

मनुष्य माँ के अंचल में स्वतन्त्र पैदा हुआ था। परन्तु आँखें खोलते ही उसने अपने को परतन्त्रता की उन जंजीरों में बंधा पाया जिन्हें राजनैतिक दर्शनकारों ने उस दर्शन के आधार पर कानून बनाकर विस्तृत जाल के रूप में सारी धरती पर बिछवा रक्खा था। यह जंजीरें ही हरेक देश की संस्कृति और राज्यव्यवस्था को एक विशेष रूप देती हैं।

1.03 दयानन्द सरस्वती के समकालीन व्यक्तियों की राजनैतिक विचारधारा

यूरोप में प्लेटो की राज्यव्यवस्था की अपरिहार्यता, अरस्तू के सुशासन के प्राकृतिक कानून और न्याय के रोमन चिन्तन, यहूदी विचारों में पले ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की सेवा-पूर्ण दयालुवृत्ति, उनपर आधारित राजा या पोप के सार्वभौमिक ईश्वरीय अधिकार, उनपर उस समय के बर्बर कहे जाने वाले ब्रिटिश और स्कैण्डेनेवियन देशों की प्रजा के अधिकार सम्बन्धी उद्बोधन, राज्यों की इयत्ता (सशर्त और बिना शर्त) के लाभ के ठेके के सिद्धान्तों तथा राज्य द्वारा प्रजा की आम इच्छा ही प्रस्फुटित होने

के सिद्धान्तों के आधार पर राज्यों के सर्वाधिकार और उनकी प्रभुसत्ता के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में पले और पनपे दृष्टिकोणों का अन्तिम रूप हमें हीगल (1780-1831) के राष्ट्रीय राज्यों के सिद्धान्त में परिलक्षित होता है। जैसाकि बाद में मुसोलिनी ने कहा था कि वास्तविकता में से सत्य निकालकर ही वादों का निर्माण होता है। सो वास्तव में अपने समय के जर्मन राष्ट्र का उदय करने के लिए प्लेटो से लेकर रूसो तक के चिन्तन में से हीगल ने राष्ट्रवाद का सिद्धान्त निकाला था, जिससे जर्मन राष्ट्र का उन्नयन हो। फ्रेन्च दार्शनिक गोबिन्यू ने नस्लों की पृथक्कता के सिद्धान्त भी पेश किये थे। इन सबका समीकरण हीगल ने अपने द्वन्द्व के दर्शन में किया। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी राष्ट्रों के सिद्धान्तों के उदय का समय रहा है। उसका भी आधार हीगल ने द्वन्द्व के दर्शन को माना था। द्वन्द्व को भौतिक क्रिया में लागू करके ही मार्क्स-ऐन्जिल्स ने बाद में साम्यवादी दर्शन प्रस्तुत किया था। अतः इन शताब्दियों की सांस्कृतिक गति समझने के लिए इस दर्शन को समझना अत्यावश्यक है। क्योंकि इधर भारत में राष्ट्रवाद के प्रस्तोता दयानन्द जिस वेद को आधार मानकर चले हैं, उसमें द्वन्द्व की यह पद्धति पूर्णरूप से वर्णित है।

हीगल के तुरन्त बाद के राजनैतिक दार्शनिकों के चिन्तन का सार भी यहाँ हम पहले देते हैं ताकि दयानन्द से ठीक पूर्व तथा उनके समकालीन चिन्तकों की विचारपद्धति का कुछ पूर्वाभास हो सके। इन उद्धरणों की आवश्यकता इसलिए भी है कि इनसे यह स्पष्ट होगा कि दयानन्द सरस्वती का चिन्तन इन किन्हीं पश्चिमी विचारकों से प्रभावित नहीं था। वरन वह वेदानुकूल और योरुप-निरपेक्ष था।

1.03.01. **उपयोगितावाद** (Utilitarianism)

प्रस्तोता : जर्मी बेन्थम (1746-1832) और जौन स्टुअर्ट मिल (1805-1873)

व्यक्ति और समाज : व्यक्तियों से ही समाज बनता है और उचित वही है जिसे व्यक्ति अपने तथा समाज के लिए लाभप्रद माने। मनुष्य के सब कार्य सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति के लिए हैं। अस्तु कर्म का अच्छा या बुरा होना इस पर निर्भर है कि किसी कर्म से उस समुदाय पर कैसा प्रभाव पड़ता है। कितने व्यक्ति कितने समय के लिए कितना सुख लाभ करते हैं। यदि अधिक लोगों को अधिक सुख मिलता है, तो वह कार्य अच्छा कहा जायेगा। बैन्थम ने 14 प्रकार के सुख और 12 प्रकार के दुख गिनाये हैं। इनमें से कुछेक का कारण व्यक्ति स्वयं न होकर कोई और है। अतः मनुष्य वातावरण की उपज है। कर्म का फल देते समय वातावरण का ध्यान रखना आवश्यक है। उसकी भावना ही मूल है जिसपर फल का अंकन किया जाना चाहिए। शिक्षा से मनुष्य को समझाया जा सकता है कि उसका हित और समाज का हित प्रायः एक ही है।

मिल ने प्रश्न किया कि वह सुख कैसा जो अनुभूत होते ही गायब हो जाता है, अर्थात क्षणिक है! सुख तब अनुभव होकर टिकाऊ होता है जब दूसरे लोग हमारे

योगदान से सुखी हों और मनुष्य मात्र ऊँचा चढ़ता दिखाई दे। सुख ऐन्द्रिक हो सकता है और बौद्धिक भी। इसमें बौद्धिक सुख उत्तमतर है। जनता को प्राय: निम्न श्रेणी का ही सुख मिलता रहा है, अत: वह उत्तम श्रेणी के इस बौद्धिक सुख से वंचित है। इस श्रेणी में बाग लगाना, ललितकला में अभिरुचि, मनो-विनोद एवं साहित्यसृजन आदि हैं। अस्तु समाज की उन्नति में ही अपनी उन्नति और संतोष होना चाहिए!

धर्म और नैतिकता : बेन्थम ने यह विचार प्रकट किया है कि प्रकृति ने मनुष्य को दो शासकों की प्रभुसत्ता में रखा है : एक है सुख और दूसरा है दुख। इन्हीं के वशीभूत वह निर्णय करता है कि उसके क्या कर्त्तव्य हैं। इनके सिंहासन के 4 पद हैं। सत्य और असत्य एवं कारण व प्रभाव। अधिक से अधिक आदमियों का अधिक से अधिक सुख—यही मानवीय क्रिया कलाप का लक्ष्य होना चाहिए। पर इसके दो विश्लेषण हो सकते हैं। एक तो सर्वाधिक सुख का योग फिर चाहे प्रति व्यक्ति कैसा ही असमान सुख का बँटवारा हो और द्वितीय बहुसंख्यकों को अधिक सुख की प्राप्ति! बेन्थम प्रथम प्रकार के सुख बाहुल्य का समर्थन करता है, क्योंकि पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को मिले सुख के योग का ही नाम पूर्ण समाज का सुख है। जनसेवी व्यक्तियों को चाहिए कि वे बार-बार जनहित के वे कार्य करें जो स्वहितों के अनुकूल और स्व-अनहितों के प्रतिकूल हों। ऐसे स्व-परक कार्यों से समाज को कभी-कभी हानि भी हो सकती है। पर राज्य शासन का कर्तव्य है कि वह दंड और पुरस्कार की प्रथा के माध्यम से इस हानि को सतत न्यून करता रहे। पर चूँकि कानून सदा निषेधात्मक होता है अत: इस हेतु नैतिक और सामाजिक नियमों का बन्धन भी प्रस्तुत करना चाहिए। समानता, देशभक्ति, साहस, मनुष्यता, दानवीरता, सम्मान और वैराग्य एवं निस्पृहता के आदर्शों के बखान और उपदेशों द्वारा भी यह हानि अति न्यून की जा सकती है। अत: हरेक को अपने स्वार्थों की पूर्ति सदा इस भावना से करती रहनी चाहिए कि उससे दूसरों को दुख न हो। मिल का कहना नैतिकता के बारे में यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य सदा दूसरों का ही ध्यान रखता रहे। संसार में मनुष्य 99 प्रतिशत कार्य अपने भले की ही दृष्टि से करता है। कहीं-कहीं ही इस नियम के व्यतिक्रम हो सकते हैं। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य औरों के हितों की बात भी यदा-कदा सोचता ही है। यह कार्य धर्म ही पूरा करता है। मनुष्य समाज की एकता और सार्वजनिक कल्याण की भावना; यही धर्म के मूल हैं। हर मनुष्य अपने धर्म का सामंजस्य मनुष्यता के हितों से करें और इस शक्ति का उपयोग मनुष्य में इस वैचारिक क्रान्ति के प्रजनन के लिए हो कि उसका सुख और सार्वजनिक कल्याण एक-दूसरे से सटकर रह जावें।

समानता और सम्पत्ति : मनुष्य समाज को अधिकतर सुख का सिद्धान्त सम्भव ही नहीं है जब तक यह बात हृदयंगम न कर ली जाये कि हर मनुष्य की गिनती एक ही है—एक से अधिक किसी की नहीं। हर व्यक्ति में सुखी होने की एक-सी इच्छा है—क्योंकि इच्छाओं में असमानता नापने का कोई ढंग नहीं है। समानता के भावात्मक नारों में बेन्थम का विश्वास नहीं है। समाज और राज्य की प्रक्रिया का यह उद्देश्य कभी

नहीं हो सकता कि सबको बराबर सुख दिया जा सके। हाँ अधिक से अधिक मनुष्यों को अधिक से अधिक सुख उपलब्ध कराया जा सकता है। एक ओर तो 1000 प्रसन्न एवं संतुष्ट कृषक हों, दूसरी ओर उन सबके योग के बराबर सुख सामग्री का मालिक राजा हो, तो राजा का सुख 1000 गुना नहीं होगा। 4-5 गुना हो सकता है। बैन्थम का विश्वास है कि समाज में भोग पदार्थों का विभाग जितना साम्यता की ओर अभिमुख होगा, समाज की सर्वांगीण संतुष्टि उतनी ही अधिक होगी। पर वह सम्पदा के पुनः विभाजन से जनता को अधिक सुख-प्राप्ति सम्भव नहीं मानता, क्योंकि छीना-झपटी-जन्य दुख अधिक है उस सुख से जो प्राप्त कर्त्ताओं और हरताओं को होगा। दूसरे सुरक्षा के भाव में कमी का जो भास होगा वह राज्य की जड़ें हिला देगा, क्योंकि सुरक्षा के लिए ही तो राज्य बना था। बैन्थम का सुझाव है कि नई धन-सम्पदा का सृजन इस नीति से किया जाये कि उसका लाभ अमीर के बजाय गरीब को जावे। अन्यथा कानून-हीन दशा में प्रचुरता नहीं आ सकती। इससे दुख दारिद्रय की समता तो अवश्य लाई जा सकती है, समृद्धि की नहीं। अतः जो इस समय की असमानता है उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए। अन्यथा लोग परिश्रम करना छोड़ देंगे और अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पन्न ही नहीं करेंगे। यदि हिंसा और रक्तपात से धन की साम्यता ला दी गई तो उस स्थिति को बनाये रखने के लिए भी एक स्थायी फौज चाहिए ताकि इस पद्धति से तालमेल न रखने वालों को न केवल सर न उठाने दे बल्कि उनका सफाया कर दे। समाज की आधी जनसंख्या शेष आधों को नियन्त्रित करने में लगाई रखनी पड़ेगी। अतः बैन्थम कहता है कि कोरी पूर्ण साम्यता की मृग-मरीचिका में न पड़कर साम्यता और सुरक्षा में तालमेल बिठलाना चाहिए। हिंसा से बचकर अन्य अनेक उपाय हैं जिनसे यह समता क्रमशः लाई जा सकती है। एक उपाय यह है कि जब कोई निसन्तान मरे, तो वह सम्पत्ति और किसी उत्तराधिकारी को न लेने दी जाय, वरन् वह सार्वजनिक बना दी जाए, ताकि लोग भूखों मरने से बचें। भूखों मरने का दुख कई गुना बड़ा है, उस दुख से जो सम्पत्तिवालों से 'थोड़ी सम्पत्ति' ले लेने से उन्हें होता है।

इस स्टेज से इस समस्या को और आगे जौन स्टुअर्ट मिल ले जाता है। उसने कहा श्रम और उसका मूल्य उलट क्रम में होने से तो अच्छा होगा साम्यवाद को मान लेना। मिल ने कहा कि प्रयत्न यह होना चाहिए कि सबका प्रारम्भ एक साम्य स्थान से हो, फिर घुड़दौड़ में लोग आगे बढ़ जायें तो कोई हानि नहीं है। परन्तु एक निश्चित सीमा से अधिक धन किसी के पास नहीं रहने दिया जाये, तथा राज्य को मुआवजा देकर सम्पति लेने का सदा अधिकार होगा। मिल ने Guild Socialism का समर्थन किया है, जिसमें मिल मजदूर वोट द्वारा निश्चित समय के लिए अपना मैनेजर चुन लेते हैं। परन्तु मिल सिवाए धरती के और किसी उद्योग के राज्यीकरण के पक्ष में नहीं था। हरेक का सब पर आधारित होना और सभी का हरेक पर नियंत्रण होना, इस साम्यवादी नारे के वह विरुद्ध था। समानता से स्वतन्त्रता का अभ्युदय उसे अभीष्ट था। हाँ हरेक व्यक्ति समाज और शासन से एक से व्यौहार की मांग बलपूर्वक कर सकता है। वह स्त्रियों

को बराबर अधिकार तथा वोट का हक दिलाने का भी प्रयत्न करता रहा। मिल का कहना था कि सारी जनता का शासन सारी जनता ही करे केवल बहुमत ही नहीं। अतः उसने एक तरकीब चुनाव की निकाली ताकि योग्य व्यक्ति संसदों में पहुँचकर कम बुद्धि वाले सदस्यों का पथ-प्रदर्शन कर सकें। हेअर से उसने वह स्कीम बनवाई थी। इसका मूल सिद्धान्त यह था कि हरेक वोटर चुनाव में सारे देश में खड़े हुए किसी भी उम्मीदवार को वोट दे सके। जितनी वोट संख्या देश में है उसमें जितने सदस्य निर्दिष्ट होने हैं, उस संख्या का भाग देने से जो भागफल निकले उतने वोट सारे देश में कहीं पाने वाले को विजित घोषित कर दिया जावे। हरेक वोटर को द्वितीय और तृतीय मत देने का भी अधिकार हो, ताकि यदि उसकी पहली राय अधिक बैठे तो उन दोनों मतों में उसको दूसरी और तीसरी राय का उपयोग हो सके। इस प्रकार संसद में सभी विचारों और हितों के व्यक्ति पहुँच सकेंगे। वास्तविक समता का चुनाव सम्पन्न हो सकेगा। हर चिन्तन के योग्यतम व्यक्ति संसद में पहुँच जायेंगे। वे बहुमत को सही दिशा दे सकेंगे। मिल वोट का अधिकार भी ऐसों को ही देना चाहता है जो कुछ पढ़े-लिखे थे और कम से कुछ न कुछ कर (टैक्स) शासन को अवश्य देते हों। अधिक योग्य व्यक्तियों को जिसके लिए योग्यता के मापदण्ड निर्धारित कर दिये गये हों, वह एक से अधिक वोटों का अधिकार भी प्रस्तावित करता है जिसे प्रस्तावित शर्तें पूरी करके सब लोग भी कालान्तर में प्राप्त कर सकें। अन्यथा यह सम्भव है, जैसाकि हो रहा है, कि कृषक या मजदूरों के प्रतिनिधि सारी व्यवस्था मात्र अपने हितों को दृष्टि में रखकर बनायेंगे। मिल की व्यवस्था से कम से कम इतनी व्यवस्था तो होगी कि हर दृष्टिकोण के लोगों की बात संसद के सम्मुख समान भाव से रखी जा सकेगी। दो साझीदारों में दोनों की बात को पेश करते समय समान मूल्य होना चाहिए, पर अमल उसी अंश पर होना चाहिए जो फर्म को लाभदायक हो। मिल ने कहा है कि वह विधान निकम्मा है, जिसमें अयोग्यता को भी उतना ही प्रश्रय दिया जाये जितना योग्यता को। वह योग्यता पर बल देता है।

राज्य का स्वरूप : बैन्थम का मत है कि एक स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी सरकार में अन्तर उसकी शक्तियों की मात्रा में न होकर उनके प्रयोग करने के प्रकार में है। यह शक्ति कैसे विभिन्न अंगों में बांटी गई है, उसका स्रोत क्या है, शासकों के उत्तरदायित्व क्या हैं, प्रेस को कितनी स्वतंत्रता है, संस्थाएं स्वेच्छा से संगठित की जा सकती हैं या नहीं, जनता की फरियाद सुनने की क्या व्यवस्था है, और जनता के पास उसे दूर करवाने के क्या मार्ग समुपस्थित हैं ? उस शासन से मनुष्यों को कितना सुख उपलब्ध है और राजा को अपनी प्रजा का कितना ख्याल है।

यों तो शासक और शासित के हितों में वैमनस्य मूलतः है। इसलिए शासक को बदलने की शक्ति प्रजा के हाथ में रहनी ही चाहिए। उसी के डर से शासक प्रजा से भली प्रकार बर्ताव करता है। वह अपने हरेक कार्य के लिए प्रजा के प्रति उत्तरदायी है। वह प्रजा की क्षमता, संस्कार, उसकी रुझान, शासन को पूर्ण परम्परा आदि सभी

बातों को ध्यान में रखकर ही शासन करते रह सकता है। शासन का रूप ही प्रजा में चरित्र और नैतिकता का सृजन करना है।

मिल का विचार है कि आदर्श शासन वह है जिसमें जनता के हर व्यक्ति को शासन सम्बन्धी कुछ न कुछ कार्य सौंपा ही जाये। तभी उसे भान होगा कि शासनतन्त्र उसका अपना है और यदि कोई शासक इन संस्थाओं को पादाक्रान्त करता है तो जनता को उनके अस्तित्व के लिए लड़ना चाहिए, अन्यथा प्रजातन्त्र का खोल मात्र शेष रह जाता है और कर्मचारी-तंत्र वास्तविक सत्ता हथिया लेता है। मिल का विचार है कि अर्धविकसित जातियों में यह जागरण न होने से यहाँ किसी शक्तिशाली स्वेच्छाचारी और विदेशी शासक का ही शासन चल सकता है जो उन्हें उत्तरदायित्व पूर्ण संस्थाओं को चलाने की शिक्षा दे सके। जो लोग जुल्म सह लेते हैं, अथवा स्थानीय समस्याओं के हलमात्र से संतुष्ट हो जाते हैं वे ऐसे उत्तरदायित्व के पात्र ही नहीं हैं।

मिल का यह भी विचार है कि विधान निर्मात्री का काम कार्य पालन स्वयं न करके कार्य-पालकों पर निगाह रखना है। उसे नियम निर्माण के कार्य हेतु उपर्युक्त माध्यम की नियुक्ति भी करना है। इस हेतु वह योग्य व्यक्तियों के कमीशन के पक्ष में है जिनके द्वारा प्रस्तावित बिल के ड्राफ्ट को स्वीकार या अस्वीकार करने का हक विधान सभा को हो। मिल उसे संशोधन करके स्वीकार करने का भी अधिकार नहीं देना चाहता। यह कार्य तो योग्य व्यक्ति ही कर सकते हैं। इसी प्रकार विशेष रूप से पारंगत व्यक्ति ही कानून पर अमल कराने में प्रवीण होते हैं। विधान-निर्मात्री का काम उन पर दृष्टि रखना है कि वे कोई काम जनहित के प्रतिकूल तो नहीं करते हैं।

1.03.02 आदर्शवाद (Idealism)
प्रस्तोता हीगेल (1770-1831)

व्यक्ति और समाज : हीगेल नामक जर्मन दार्शनिक को प्रो० फ्रेडरिक विलियम III ने बर्लिन विश्वविद्यालय में जर्मन राष्ट्र (आर्य-रक्त) की प्रभुता सिद्ध करने और उसे युद्धाभिमुख करने हेतु दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए अध्यापक रखा था। वह प्लेटो की ग्रीक नागरिक राज्य-भक्ति से प्रभावित था। वह प्रोटैस्टैन्ट होने से आत्मा के व्यक्तित्व और उसकी वीरता में भी विश्वास रखता था और यद्यपि संसार विकासोन्मुख हो एक ध्येय की ओर सदैव जाता है, ऐसा वह मानता था तदापि उसका विश्वास था कि मनुष्य युगधारा की दिशा बदलने में शक्य है। अतः संसार और मनुष्य दोनों उसकी मान्यता में एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। प्रकृति नटी की भी एक जागरूक ज्ञान भावना होती है और आत्मा की उन्नति भी उसी विश्वात्मा के ज्ञान के अनुरूप होती रहती है। हीगेल कहता है कि घटनाओं के समूह का नाम विश्व नहीं है क्योंकि एक घटना दूसरी से असम्बद्ध नहीं है। केलीडसकोप के खिलौने से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती जिसमें हर बार घुमाने पर रंग-बिरंगे काँच किसी एक समूह माला में अव्यवस्थित इकट्ठे हो जाते हों और उन्हीं को डिजाइन का नाम दे दिया जावे।

जगती तल पर उपस्थित हुए दृश्य उसके दृष्टिकोण से पूर्व नियोजित क्रम से होते हैं। यह नियोजन ही विश्वात्मा का रूप है, इसके क्रम व मोड़ में सत्य के दर्शन करने चाहिए। उसे वास्तविक ही मानना चाहिए। हर नये दिन प्रकृति का एक रूप प्रगट होता है। दूसरी ओर हीगेल ने यह भी कहा कि जो कुछ भी हो रहा है वह सब अच्छा ही हो, ऐसा भी नहीं है। हाँ, मनुष्य उसे अच्छा बना सकता है, उन्नति का सिद्धान्त यह भी मानता है कि जहाँ उन्नति के कीटाणु विराजमान है, उन बीजों को अनुभूत करने की भावना ही आत्मा है। सत्य पुरुष में दो भाव होते ही हैं :

(1) उसकी उन्नति में जो पथावरोध आते हैं, उन पर विजय पाने का दृढ़ निश्चय।

(2) यह भावना कि उसका अस्तित्व है और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह कुछ कर डाल सकता है।

हीगेल आगे कहता है कि पहले भाव का स्पष्टीकरण सर्वप्रथम परिवार में होता है। वह परिवार में उसका एक सदस्य होने के नाते है। परिवार अपने में से व्यक्ति को समुदाय के लिए भेंट करता है। एक मनुष्य का जीवनयापन, पेशा, उसकी प्रसन्नता और उसके कानूनी अधिकार सारे समाज से सम्बन्ध और उनपर आधारित हैं। परन्तु चूँकि एक व्यक्ति एक पेशा अपनाता है, अतः तत्सम्बन्धी पेशे के संगठन का अंग बन जाता है। उसी संगठन में उसका व्यक्तित्व है। खेतिहर, व्योपारी, शासक प्रत्येक के पृथक्-पृथक् कार्य-क्षेत्र हैं। कोई एक सब पर नहीं छा जा सकता।

पेशों के अपनाने में विकल्प की आज्ञा है, पर राज्य का अंग होना ऐच्छिक नहीं है। राज्य तो मानों मनुष्यों का अपना चिन्तन ही प्रगट हुआ है। हरेक का व्यक्तित्व राज्य के अंग होने में ही सुरक्षित है। राज्य से तात्पर्य किसी एक देश के राज्य से नहीं है, वरन राज्य प्रणाली से तथा राज्य सत्ता से है। हर व्यक्ति की महात्वाकांक्षा इस राज्यसत्ता के गन्तव्य उद्देश्यों के अनुसार ही होनी चाहिए। राज्यसत्ता से तात्पर्य समुदाय की आवश्यकताओं को जुटाने वाली शक्ति से है। परिवार और समुदाय की वह अंतिम परिणति है।

हरेक व्यक्ति का निश्चय राज्य के मुकाबिले में अधिक स्वार्थमय और क्षुद्र होगा। आखिर वह राज्य का छोटा सहायक ही तो है। अस्तु व्यक्ति की सच्ची स्वतंत्रता राज्य की सेवा करना ही है। सो व्यक्तिगत निश्चय तो एक विडम्बना मात्र है। कोई व्यक्तिगत मूल्य अपना अर्थ नहीं रखते। आवश्यक दृष्टिकोण तो यह है कि व्यक्ति ने अपने को जगत के कितने आधीन कर लिया है।

इतिहास का विकास और विकास का इतिहास यही है कि मनुष्यों की सामूहिक विचार शृंखला की छाप प्रकृति पर कितनी पड़ चुकी है जो कि तद्देशीय संस्थाओं और परम्पराओं के रूप में तत्र-तत्र कायम हुई है। फिर उन संस्थाओं और परम्पराओं के माध्यम से ही उस देश के वासी अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। उस देश के समुद्र, पर्वत और हिमादि प्राकृतिक चिह्न ही वहाँ के मनुष्यों में नई छाप

छोड़ने की उत्कट भावना जागृत करते हैं। आत्मा को सामाजिक सम्पर्क भी तो चाहिए जिसमें होकर उसका चिन्तन व गन्तव्य प्रगट हो। राज्य ही उस देश की कला, धर्म और संस्कृति का मिश्रण (Amalgam) है। इस मिश्रण को ही हम राष्ट्र कहते हैं।

राष्ट्र का सर्वोत्कृष्ट ध्येय है अपने अस्तित्व और अपनी प्रभुसत्ता का संस्थापन और संवर्धन। हर राष्ट्र को अपने उद्देश्य पूर्ण करने के लिए एक राज्य चाहिए। बिना ऐसे राज्य के उसका इतिहास नहीं बन सकता है। वास्तव में राष्ट्र तो एक प्रभु-प्रदत्त वरदान और विचार है। निश्चय से राष्ट्र तो संसार में प्रभु की इच्छा का प्रकटीकरण है कि वह किधर कैसा राष्ट्र बना के अपना उद्देश्य प्रगट करना चाहता है। State is the March of God through the Earth राष्ट्र ही ईश्वर है। जैसे मनुष्यों को अपना स्वास्थ्य बनाने के लिए, व्यायाम आवश्यक है, ऐसे ही राष्ट्र को स्वास्थ्यवर्धन के लिए युद्धों की आवश्यकता है। युद्ध से राष्ट्र स्थिर, चरित्रवान और त्यागमय बनते हैं।

युद्धों के द्वारा ही इतिहास में द्वन्द्व का सिद्धान्त प्रस्फुटित होता है। एक विचार-वादी राष्ट्र दूसरे द्वारा हनित होता है, और उसी में से उसको स्वयं हनन करने वाला तत्त्व प्रगट होता है। यह क्रम संसार में चलता रहता है।

धर्म और नैतिकता : पर हीगल नैतिकता और उच्च चारित्य में मतभेद करता है। चरित्र की श्रेष्ठता तो इसमें है कि मनुष्य अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी हो और इसी से नैतिकता का जन्म होता है। परन्तु चारित्रोच्चता का अर्थ संन्यास नहीं है। तथा इसका निर्धारण हर व्यक्ति की अपनी-अपनी परिभाषानुसार नहीं हो सकता। हरेक अपने हर कार्य का औचित्य ढूँढ़ निकालता है। उसका फल यह होगा कि उसमें स्वार्थ और नीचता ही होगी या फिर ऐसा व्यक्ति एकांकी होकर मात्र चिन्तन में ही मस्त रहेगा। परन्तु वास्तविक ठीक वह है जो सभी के लिए ही ठीक है। भाग्यवश मनुष्य समुन्नत समाज में पैदा हुआ है। जहाँ तक कि मानवता है और वह शीघ्र जान लेता है कि सामाजिक संस्थाओं और नैतिक नियमों का रूप क्या है। हीगेल व्यक्ति को यह अधिकार नहीं देता कि यह समाज में अपने बर्ताव का ढंग स्वयं निश्चित करे। उसे रीति-रिवाज, कानून, नैतिक सिद्धान्त जिन्हें कि परिवार, समाज और शासन मान्यता देता है, समझना चाहिए और उन पर आचरण करना चाहिए। परन्तु ऐसे अवसर आ सकते हैं जबकि सामाजिक मान्यतानुसार चलना सम्भव न हो। हीगेल के मतानुसार उस परिस्थिति में मनुष्य को मन मारकर स्वचिन्तन में लीन हो जाना चाहिए। पर बहुमत को तो राज्य द्वारा निर्धारित नैतिकता के अनुसार ही चलना चाहिए। जो सर्वसम्मत है वही फलदातृ है। जिस राष्ट्र में वह पला बढ़ा हैं, उस राष्ट्र की विशिष्टता मनुष्य को अपने में धारण करनी चाहिए। और राष्ट्र के ऐतिहासिक युग प्रवाह में अपने को आत्मसात् कर देना चाहिए। ईश्वर जो ईसामसीह में होकर प्रगटा है, या ईसा की जो क्रास पर मृत्यु प्राप्त हुई है—इस सारी कहानी का द्राष्टान्त यही है कि मनुष्य का व्यक्तित्व आत्मा की समग्रता में समा जाये। पर चर्च आत्मिक और चारित्रिक सब कार्यों का निर्वसन नहीं कर सकता। क्योंकि राष्ट्र मात्र भौतिक

प्रक्रिया न होकर नैतिक संसार की तार्किक अभिव्यक्ति और स्वतन्त्रता का प्रतीक है। चर्च कभी-कभी जिन चमत्कार पूर्ण पर असत्य किंवदन्तियों द्वारा समाज को और सामाजिक व्यवस्था को पंगु बनाने का उपक्रम करता है, राज्यशक्ति को चाहिए कि इस उपक्रम को नष्ट कर दे। बदले में राष्ट्र यह आवश्यक कर सकता है कि हर मनुष्य किसी न किसी चर्च का अनुयायी हो और चर्च को अपने अनुष्ठानों के प्रसारित करने की स्वतन्त्रता भी हो। इसीलिए कुछ व्यक्तियों को जो अहिंसा के महान व्रती हों, युद्ध की अनिवार्य भरती से उन्मुक्त किया जा सकता है, यदि वे सैनिक जीवन के स्थान पर राष्ट्र को अन्य करादि दें। पर उन्हें राष्ट्र की नागरिकता नहीं दी जा सकती है।

साम्यता और सम्पत्ति : हीगेल सम्पत्ति का स्रोत मनुष्य की इच्छा शक्ति को मानता है। सम्पत्ति मनुष्य के स्वभाव से ही उचित ठहरती है। जब मैं इच्छा करता हूँ तभी तो मेरा शरीर मेरा है, अन्यथा नहीं। यदि मैं शरीर को पाप का मूल मानूँ तो मैं इसे कष्ट ही दूँगा। यदि शरीर का कोई अंग मेरी आज्ञा में न चले तो वह मेरा कहाँ तक है? अतः मेरा शरीर मेरी सम्पत्ति है क्योंकि मेरी इच्छा इसमें सन्निहित है। जब मेरी कोई इच्छा इस शरीर के माध्यम से प्रगट होती है तब मैं बाह्य संसार में प्रवेश करता हूँ। इसी प्रकार संसार के अन्य अचेतन पदार्थों के साथ जब मेरी इच्छा संयुक्त होती है तो वे मेरे कर्तव्य से परिवर्तित हो जाते हैं। व्यक्ति को संसार की हर वस्तु में अपनी इच्छा केन्द्रित करके अपनी बनाने का अधिकार है। जिस वस्तु में मैं इच्छा केन्द्रित करता हूँ, वही मेरी सम्पत्ति है। यह परिभाषा बहुत विस्तृत है। स्वतन्त्र होने का प्रथम प्रत्यक्षीकरण सम्पत्ति है। इच्छा केन्द्रित करने के बाद आवश्यक है कि मैं उस पर कब्जा करूँ। तब वह मेरी बन जाती है। यह कब्जा भी तीन प्रकार से किया जा सकता है :

(अ) मैं उसको अपने नियन्त्रण में ले ही लूँ। परन्तु इसमें यह शंका है कि मैं वस्तु की इच्छा अस्थायी रूप में करता हूँ या स्थायी रूप में।

(ब) मैं किसी वस्तु को अपने इच्छित प्रोग्राम के अनुसार झुका (MOULD) दूँ ताकि उस पर मेरे श्रम की मुहर पड़ी दृष्ट पड़े।

(स) मैं उसका सदा प्रयोग सर्वरूपेण करता रहा होऊँ। और जब मेरे व्यक्तित्व की उस पर इस प्रकार पूरी छाप लग जावे तो वह मेरी है—कोई और उसे छीन नहीं सकता। जैसे ही मेरी इच्छा उस वस्तु के प्रति समाप्त हो जावे मैं उसे दूसरे को हस्तगत करा सकता हूँ। परन्तु स्वयं मेरी इच्छा, मेरा आचार और धर्म मैं स्वयं भी अपने से पृथक् नहीं कर सकता हूँ। मेरा व्यक्तित्व मेरा अपना है। वह किसी दूसरे की सम्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए यदि कोई गुलाम है तो उसे स्वतन्त्र होने का जन्मसिद्ध मौलिक अधिकार है। मालिक श्रम के लिए गुलाम पर आश्रित है और गुलाम मालिक पर अपनी सत्ता के लिए। परन्तु जब गुलाम अनुभव करता है कि मेरे भी बुद्धि है, तो वह समझने लगता है कि मालिक को तो मेरी आवश्यकता

है पर उसे मालिक की नहीं है। जो थोड़ा ही समय मालिक के काम को देता है, गुलाम की श्रेणी में नहीं है।

हीगेल उन दोनों की आत्माओं को उलझन में पड़ा हुआ और अपने को ही धोखा देनेवाला बताता है जो सेवा का अवसर पाकर उसमें धन संचय करते हैं अथवा वे जो धन की पूरी लालसा छोड़कर सम्पत्तिविहीन हो गरीबी का जीवन व्यतीत करना एक साधुवादिता समझते हैं। परन्तु वास्तव में जब हरेक अपने-अपने श्रम का आनन्द धन और सम्पत्ति से प्राप्त करता है तो वह वास्तव में अपने आनन्द में सारे समाज को भागीदार बना रहा होता है।

परन्तु शीघ्र ही हीगेल सम्पत्ति पर राज्य के पूर्ण नियन्त्रण की बात तुरन्त स्वीकार कर लेता है। हाँ राज्य अपने अधिकार का दुरुपयोग करके किसी अन्य व्यक्ति विशेष के लाभ के लिए वंचना द्वारा किसी व्यक्ति से उसकी सम्पत्ति नहीं ले सकता। परन्तु जीवन का मूल्य सम्पत्ति से सदा अधिक है। राज्य सार्वजनिक हित में कोई भी सम्पत्ति ले भी सकता है।

राज्य का स्वरूप : हीगेल की मान्यता है कि नैतिकता स्वयं राज्य बनकर प्रगट होती है। राज्य के माध्यम से ही मनुष्य का विकास होता है और वह सुन्दर जीवन प्राप्त कर सकता है। ईश्वर की इच्छा पृथ्वी पर राज्य संस्थान के रूप ही में प्रस्फुटित होती है। अतः यदि मनुष्य की कोई महत्त्वाकांक्षाएँ राज्य के प्रतिकूल हैं तो मनुष्य को चाहिए कि उनका शमन कर दे। राज्य की भी रूप के अतिरिक्त एक आत्मा है। उस देश का विधान ही उसका बाहरी रूप है। हीगेल आदर्श राज्य उसे मानता है जिसमें वैधानिक राजा हो तथा शासन की शक्ति विधान-सभा, कार्यपालिका और राज्य-क्षत्र (CROWN) में बंटी हो। इस क्षत्र के माध्यम से ही शेष दोनों एक मणिका में पुरोई हुई हैं। परन्तु इन अंगों को वह एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् नहीं मानता। यदि यह तीनों एक-दूसरे के प्रति शंकालु और ईर्ष्यालु होंगे तो उस राज्य का अन्त ही समझिये। राष्ट्र की एकता ही उनकी प्रभुसत्ता है। पृथक्-पृथक् अंग मिलकर एक शासन सत्ता नहीं बनती। वह सत्ता तो पूरे शरीरवत है, जिसके सारे अंग उस शरीर के स्थिरीकरण में रत हैं।

राष्ट्र की प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में ही परिलक्षित होती है। उस सर्वोपरि व्यक्ति को भी प्रभु से एक वरदान-प्राप्त व्यक्ति नहीं कह सकते। वह तो राष्ट्र का प्रतीक है जिसे राष्ट्र ने छाँटा है। हीगेल विधान-निर्मात्री सभाओं में पेशों के प्रतिनिधि और राष्ट्रस्थ छोटी इकाइयों के प्रतिनिधि लेने का सुझाव रखता है। विदेशों से सन्धि और देश में दंड-प्रदान, यह राष्ट्राधिपति के विवेक के क्षेत्र हैं। उपरोक्त प्रकार निर्मित सभाओं का काम बजट पास करना व कानून बनाना मात्र उसने बताया है। सभा एक प्रकार से राजा और प्रजा में बीच-बिचाव का काम करती है। वह हितों का प्रतिनिधित्व करती है, नागरिक व्यक्तियों का नहीं। किसानों के प्रतिनिधि होना आवश्यक है, जो बड़े ज़मींदार ही हो सकते हैं। व्योपारियों के प्रतिनिधि तो राजा

द्वारा नामजद होने चाहिए क्योंकि वे अज्ञानी-असंगठित और विविध-हित वाले होते हैं। उनके पृथक्-पृथक् संघ बने होने चाहिए। हीगेल सीधे वोट द्वारा इनके चुने जाने का विरोधी है। इन संस्थानों में सम्मिलित हुए बिना तो मनुष्यों को हीगेल मांस का लौंदा मात्र मानता है, जोकि प्रायः साधारण-ज्ञानी, बुद्धि-विहीन, भयावह और जंगली होते हैं। उनको वह अपनी राय बनाने और प्रगट करते रहने मात्र का ही अधिकार देता है। परन्तु राज्य के विरुद्ध किसी व्यक्ति को या प्रेस को ऐसा मत प्रगट करने का भी वह अधिकार नहीं देता जिसमें राज्य के अधिकारों को चुनौती निहित हो। इस मूल बात को छोड़कर प्रजा की राय के सम्मान किये जाने के वह पक्ष में है। इस आदर्शवाद के भी समर्थक स्वामी दयानन्द के समकालीन ही निम्न महान् राज-दर्शनकार और हुए हैं। उन्होंने उक्त मान्यताओं में न्यूनाधिक जो परिवर्तन किये, वह संक्षेप में यों थे :

(अ) थोमस हिल ग्रीन (1786-1832) : ने इस आदर्शवाद का इंगरेजो पहलू प्रस्तुत किया जिसके अनुसार राज्य के प्रति श्रद्धा भी बनी रहे और व्यक्ति का भी उत्थान हो। उसने राज्य को साधन मानकर व्यक्ति की आत्मोन्नति का साधन माना राज्य को व्यक्तियों की सामान्य इच्छा पर आधारित बताया। मनुष्य को चेतना की अभिव्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता चाहिए। स्वतन्त्रता के लिए समाज चाहिए, क्योंकि समाज ही व्यक्ति के अधिकारों की गारण्टी करता है। अस्तु राज्य अनिवार्य बुराई न होकर अनिवार्य संस्था है। वह मनुष्य को ईश्वर का अंश और आध्यात्मिक प्राणी मानकर चलता है। ग्रीन प्राकृतिक अधिकारों का अस्तित्व ही नहीं मानता था। अधिकार तो समाज में रहने से पैदा होते हैं। ईश्वरीय लहरों को प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न मात्रा में पकड़ता है। और उतनी ही उसकी योग्यता और उतना ही उसका व्यक्तित्व बन जाता है। राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करें जिनमें उसकी उन्नति में आने वाली बाधाओं को नष्ट किया जा सके। वह इतिहास के प्रत्युत्थान की पद्धति में भी विश्वास रखता था। पहले तो परिवार बना ताकि मनुष्य स्वार्थ से ऊपर उठे। राज्य परिवारों का परिवार है। वह राज्य को सारे सत्य और सत् का स्रोत मानता था। पर यदि राज्य अन्याय करें तो ग्रीन प्रजा को उसका प्रतिरोध करने का अधिकार देता है। शताब्दियों के ज्ञान का निचोड़ राज्य में निहित होता है। प्रजा की पीढ़ी दर पीढ़ी इच्छाएँ उसके साथ जुड़ी होती हैं। सो वे नियम प्रजा के विरोध के बावजूद अच्छे ही होंगे। पर यदि व्यक्ति यह समझे कि वे नियम किसी निहित स्वार्थ के प्रतीक हैं, तो वह राज्य का वैधानिक विरोध कर सकता है। युद्ध को वह हीगेल के समान आदरसूचक विशेषण नहीं देता, न शौर्य प्रदर्शन के लिए रक्तपात आवश्यक मानता है। उसकी आस्था अन्तर्राष्ट्रीय कानून में थी।

(ब) ब्रैडला (1846-1924) : इस अंग्रेज़ के मतानुसार समाज एक नैतिक शरीरवत है और व्यक्ति है उस विशाल शरीर का अंग। जन्म के समय ही बच्चे में

उस समाज के संस्कार प्रविष्ट हो जाते हैं, जहाँ वह पैदा होता है। जैसे ही वह बढ़ता है, उसका समाज भाषा बनकर उसके कान में घुस जाता है। समाज ही उसका, अपने में स्थान नियत करता है। अस्तु हर व्यक्ति को समाज द्वारा प्रदत्त अपने स्थान से संतुष्ट रहना चाहिए।

(स) **बोसाके** ((1848-1923) : वह मनुष्य की निजी इच्छाओं और सामूहिक हितवाली सामान्य इच्छाओं में मेल करता है, और राज्य को सामान्य इच्छा का सबसे बड़ा प्रतिनिधि मानता है। इस प्रकार राज्य सर्वोत्तम नैतिक संस्था है। अतः राज्य का कोई कार्य गलत हो ही नहीं सकता। राज्य का अपना जीवन है, अपना उद्देश्य है और अपनी इच्छा।

1.03.03 **द्वन्द्ववाद** (Dilectic)

हीगेल ने अपने राजनैतिक सिद्धान्त स्थिर करने से पूर्व कुछ दार्शनिक मान्यताएँ बनाई थीं, और उन्हें अपने उन सिद्धान्तों का स्रोत कहा है। उन मान्यताओं को उसने द्वन्द्ववाद की संज्ञा दी है। हमारे शोध-प्रबन्ध की एक यह भी मान्यता है कि इस श्रोत का भी श्रोत वेद में है। अतएव इस वाद को जैसा उसने प्रस्तुत किया है, हम यहाँ सार-रूप में देना आवश्यक समझते हैं। अंगरेजी में इस हेतु प्रयुक्त शब्द Dilectic वास्तव में ग्रीक भाषा के शब्द Dialigo से बना है जिसका अर्थ है वार्ता या वाद-विवाद। सुकरात ने सत्य के निर्णय हेतु यह पद्धति अपनाई थी जिसमें मूल सत्य की विरोधी बात का प्रश्नोत्तर द्वारा खण्डन करके मूल सत्य के द्योतक निष्कर्ष निकाले जाते थे। ग्रीक तत्त्व-वेत्ताओं ने यह भी कहा था कि किसी संस्था को बहुत प्रयोग करते रहने पर उसमें से उसके विरोध के कीटाणु जन्मते हैं। अतिशय राजतन्त्र में राजा के घोर निरंकुश होने पर प्रजातन्त्र का उदय होता है। प्रजातन्त्र के अतिशय प्रयोग से भीड़ का शासन जन्मता है और भीड़ के शासन के प्रतिरोध में अधिनायकवाद का जन्म होता है; जिसमें एक व्यक्ति शासन करता है। परन्तु शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि यह परिवर्तन त्रिकोणीय होता है न कि द्वन्द्वीय। वाद, प्रतिवाद और फिर सम्वाद। जिसमें द्वितीय स्थिति समझौता करके प्रथम की ओर वापिस आती है; और मध्यम मार्ग में समझौता होकर प्रयोग की रेखा खिंच जाती है। युगों-युगों में जन्म लेनेवाली आत्मा वही है। वह केवल वस्त्रवत भिन्न-भिन्न शरीर धारण करती रहती है। उसमें पूर्व संस्कार पिरोये रहते हैं, जो कि नवीन को समझौते पर बाध्य करके मध्यममार्ग निर्णीत करते हैं। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने इसे आर्य मध्यम मार्ग की संज्ञा दी थी, यद्यपि विश्व के आदि ग्रन्थ वेद में भी ऐसा ही वर्णित है।

हीगेल अपने को आर्य कहने वाली जर्मन उपजाति का ही प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री था। उसका मत था कि बुद्धि (आत्मा) के अतिरिक्त हरेक वस्तु में उसका विरोधी तत्त्व पूर्व से ही पिरोया हुआ है। उसके स्वभाव में परिवर्तन काल-क्षेम से होता रहता है। यह परिवर्तन त्रिकोणात्मक है; पर ऐसा होते हुए भी वह मूल विचार से सम्बद्ध

रहता है। अतः किसी वाद या वार्ता को समझने के लिए यह सोचो कि वह क्या है, क्या नहीं है। हर विचार का उदय होता है, फिर उसमें अपूर्णता दृष्टिगत होती है और उस अपूर्णता को दूर करने का आन्दोलन उठता है जो कि मूलवाद का प्रतिवाद होता है। फिर मूलवाद और प्रतिवाद में संघर्ष होता रहता है, जब तक कि एक मध्यम मार्ग नहीं निकलता है, जिसे सम्वाद कहते हैं। हीगेल ने Thesis (वाद), Anti Thesis (प्रतिवाद) Synthesis (सम्वाद) शब्द प्रयुक्त किए हैं। सम्वाद में वाद और प्रतिवाद दोनों के सत्यांश सुरक्षित रहते हैं।

यह पहिया फिर आगे बढ़ता है। धीरे-धीरे सम्वाद भी रूढ़ि पड़ जाता है। यह अगले त्रिकोण का जनक होता है। यह स्वयं वाद बन जाता है। इसका भी उत्तरपक्ष बनता है; तथा फिर दोनों में समझौता होकर एक मध्यममार्ग निर्णीत होता है; जो पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों से अधिक श्रेयस्कर होता है। विचार-मन्थन से यह प्रगति होती रहती है जब तक कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता है। वाद और प्रतिवाद परस्पर एक-दूसरे पर विजयी नहीं होते हैं क्योंकि संवाद में दोनों का अस्तित्व बना रहता है। सम्वाद दोनों में से किसी का विरोधी या नष्टकर्ता नहीं होता। सम्व.द वास्तव में वाद और प्रतिवाद का उन्नततर रूप है, जिसमें उनके परस्पर विरोधी भाव टकराकर एकाकार हो गये होते हैं। हीगेल की मान्यता है कि जो मूल सत्व तत्त्व है, उसका सर्वनाश कभी नहीं होता। उसका प्रकाश सदैव नवीन पर अधिक—पूर्ण रूप में होता रहता है। उसने जर्मनी में प्रयुक्त वैटिक नृत्य का उदाहरण दिया है जिसमें लोग शराब के नशे में चूर होते हैं, तो भी उनके पग गन्तव्य की ओर ही पड़ते हैं, हाँ पैर ऊपर-नीचे कैसे ही पड़ते रहें। इस प्रकार प्रतिवाद को वह वाद का वास्तविक विरोधी नहीं मानता। उन्हें वह उन्नति पथ के मील के पत्थर मानता है। सुकरात एक समय में एक सत्य मानकर, प्रतिज्ञा से साधारण प्रतिज्ञा सिद्ध करता था। पर हीगेल दोनों को पूरक मानता है। इस विरुद्धता को हीगेल के मत में बुद्धि और तर्क दूर कर देता है. जो कि ज्ञान का रूप है। वाद और प्रतिवाद में ही कुछ ऐसा वेग भरा है, जिससे रथ आगे बढ़कर विकास की ओर जाता है। यह त्रिकोणवाद ही विश्व-संस्कृति को आगे बढ़ाता है। यह सारी सृष्टि का ही मूल सिद्धान्त है।

इसी सिद्धान्त के अनुसार आत्मा प्रगति करके ब्रह्माण्ड रूप हुई है और इस प्रकार इतिहास का निर्माण हुआ है। आज जो विश्वात्मा का रूप है उसमें पूर्ववर्ती आत्माओं की सारी प्रगति समाई हुई है। अस्तु इतिहास में एक उद्देश्य निहित दीखता है। विचार-वस्तु में संस्थायें धीरे-धीरे अनजाने ही में बदलती रहती है जब तक कि एक (Latent Point) निर्दिष्ट विन्दु आता है; जबकि स्थिति बिलकुल दूसरी लगने लगती हैं, जैसे कि पानी गर्मी पाकर एक समय वाष्प में यकायक बदल जाता है। यह परिवर्तन प्रारम्भ में अरुचिकर लग सकता है पर इसमें पूर्व के बीज निहित होने से शीघ्र ही यह विकासोन्मुख लगने लगता है। तब तक मनुष्य रूढ़ि में प्रसन्नता अनुभव करते रहते हैं, क्योंकि प्रतिवाद के आने की प्रतीक्षा जो होती है। हीगेल ने इस प्रकार बहिर्गामी

न्यायनिष्कर्ष (Deductive logic) के स्थान पर अन्तःगामी (Inductive) पद्धति पर ही ज़ोर दिया है। इस उदाहरण से ही उसने इतिहास में यदा-कदा होने वाले दुःखमय वातावरण को सुन्दर भविष्य का सूचक बताया है। इस दृष्टिकोण में अनुदार-रूढिवाद (Conservatism) तथा क्रान्ति (Revolution) दोनों का समिश्रण है।

बुद्धि या ज्ञान की सहायता से ही व्यक्तिगत चेतना पूर्णत्व को प्राप्त होती है। बुद्धि (ज्ञान) का स्रोत स्वयं परब्रह्म है। इसे हीगेल गुस्ट (Gusto) कहता है : जो कि मनुष्य समूह में सर्वत्र विराजमान है। वह व्यक्ति की चेतना का सम्भाग है। शेष सारी सृष्टि उसी का रूप है। प्रारम्भ में वह गुस्ट सीमित थी, पर उसको ज्ञानमय होते-होते पूर्ण ज्ञान ही कह सकते हैं। ज्ञानार्जन की चरम सीमा पर पहुँचकर विकास की आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञान ही वास्तविक सत्ता बन जाती है।

हीगेल ने कहा कि मनुष्य की यह आत्मा उन्नत होकर राज्य की आत्मा में विलीन हो जाती है। उसके आगे और कोई परिवर्तन वांछनीय नहीं है। एकोऽहम् बहुस्याम्। फिर बहु के साथ साम्य को प्राप्त करके कुछ प्राप्त करना शेष नहीं है। अतः विकास की एक चरम स्थिति राष्ट्र में प्राप्त हो जाती है। यहाँ से हम प्रारम्भिक स्थिति को नहीं लौटते पर ब्रह्माण्ड के साथ एक रूप हो जाते हैं।

आगे हम दिखायेंगे कि यह चिन्तन अथर्ववेद में वर्णित क्रान्ति की स्थिति बनाने वाले मन्त्रों का अक्षरशः अनुवाद है। पर इसके पूर्व इस वाद पर आधारित द्वंद्वात्मक-भौतिक-वाद, तज्जनित साम्यवाद तथा राष्ट्रवाद और नस्लों की श्रेष्ठता के राज-दर्शन का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है, ताकि दयानन्द के समय के योरुप के पूरे राज दर्शन की पूरी पृष्ठभूमि सामने आ जावे। इसीलिए पारस्परिक प्रतिक्रिया रूप में उद्भूत व्यक्तिवादी चिन्तन की किंचित उहापोह करना भी आवश्यक है। उसी से प्रारम्भ करते हैं।

1.03.04 व्यक्तिवादी चिन्तन

उन्नीसवीं शताब्दी का यह भी एक मुख्य चिन्तन था। जॉन मिल में इसका नैतिक रूप प्रस्फुटित हुआ था। बढ़ती हुई औद्योगिक उन्नति में नये धनवान यह चाहते थे कि उन्हें अधिक धन कमाने में छेड़ा न जावे। उनका कथन था कि राज्यों ने अधिक शक्ति पाकर निरंकुश शासन प्रारम्भ कर दिया है और वे व्यक्ति को ही बदल डालना चाहते हैं जबकि व्यक्ति में पिता के सीमित गुण-दोष रज-वीर्य के साथ आये हैं। डार्विन ने जो सिद्धान्त प्रकृति पर लगाया था, कि योग्यतम की जीत होती है और निर्बल नष्ट हो जाता है, उसे इन दार्शनिकों ने व्यक्तियों और जातियों पर लगाया, ताकि मनुष्य द्वारा मनुष्य को समाप्त करने या उस पर शासन करने के सिद्धान्त का वैज्ञानिक समाधान मिल सके। प्रकृति की दण्ड-प्रक्रिया को उन्होंने अन्ततोगत्वा दयालु बताया यद्यपि प्रगट में वह असमानता और क्रूरता की प्रतिपादक ही लगती है।

हरबर्ट स्पेन्सर (1820-1903) : इस विचारधारा का प्रमुख अंग्रेज राजदर्शनकार

था जो स्वामी दयानन्द का समकालीन था। इंग्लैंड की औद्योगिक प्रगति से ऊपर उठे धन-सम्पन्न वर्गों के समर्थन के लिए उसने विज्ञान का प्रयोग करके एक दर्शन घड़ दिया। उसको मान्यता थी कि राज्य को केवल न्याय व्यवस्था का संचालन मात्र करना चाहिए। किसी आर्थिक क्रियान्वयन के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर राज्य को अंकुश नहीं लगाने चाहिए। दूसरी ओर सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार होने से उतनी सम्पत्ति के प्रयोग से अन्य लोगों की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है, अतः वह इसका विरोधी था। परन्तु खेतों के अन्न को मनुष्य के प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण उसे वह उसी मनुष्य को सम्पत्ति मानता था।

किसी व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति को आज्ञा देने का भी वह विरोधी था। राज्य को वह अन्यायी तथा अनैतिक संस्थान कहा करता था। अतः कम से कम राज्य शक्ति का भी वह विवशतावश ही समर्थक था। यदि इतना अंकुश भी मनुष्य न माने तो उसे राज्य की नागरिकता की कैंचुली उतार फेंकने का अधिकार स्पेन्सर देता था। समाज में राज्य का काम केवल सुरक्षा प्रदान करना है। राज्य को उद्योग में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, न इसे कोई राजकीय गिरजा स्थापित करना चाहिए, न सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए कदम उठाने चाहिये, न इसे नगर या राज्य बसाने चाहिए और न गरीबों की सहायता करनी चाहिए। प्रकृति की जो योग्य को जीवित रखने और अयोग्य को नष्ट करने की प्रवृत्ति है, उसमें राज्य को कोई बाधा नहीं पहुँचानी चाहिए। राज्य को स्पेन्सर एक सावयवी न मानकर सावयवी के समान ही मानता है। इसमें जीवन की कल्पना करना मूर्खता है। यह एक मानसिक ढांचा है, वास्तविक ढांचा भी नहीं है। हाँ वह समाज को जीवित सावयवी अवश्य मानता था। इसमें नसनाड़ी की मारफत दिमाग तक प्रेरणा का धक्का लगता है। दूसरा सिस्टम शेष अवयवों का है जो पारस्परिक सहयोगों से शरीर को जीवित रखते हैं। सो समाज में प्रथम सिस्टम की तुलना तो राज्य से तथा द्वितीय की उसकी उत्पादन संस्थाओं से की जा सकती है। इनके काम बंटे हुए हैं। वह उत्पादन सिस्टम को मुख्य मानता है। इसी की विजय होती है। तब राजनीति प्रजातन्त्र में बदल जाती है, धर्म स्वतन्त्र चर्च में और सामाजिक जीवन स्वेच्छापूर्वक किए परार्थ कार्यों में।

मनुष्य अपने कुछ अधिकार समाज को सौंप देता है। शेष उसके नैतिक अधिकार रह जाते हैं। मनुष्यों में श्रम विभाजन हो जाता है। उनमें परस्पर विनिमय होते हैं। राज्य को उन करारों का क्रियान्वयन कराना चाहिए।

राज्य को परिवार वत नहीं वर्तना चाहिए। जिसने किसी वस्तु के लिए श्रम नहीं किया है, उसको वह वस्तुएँ प्राप्त कराना ही गलत है। अन्यथा निर्वाह के लिए प्रयत्नों की जो घुड़दौड़ है वह समाप्त हो जावेगी। शेर को जंगल में घूमकर अपना भोजन प्राप्त करने की स्वतन्त्रता है। यदि वह यह घूमना बन्द करता है तो उसको मर जाने का अधिकार है। राज्य विभिन्न समुदायों में समन्वय करता है। विकास के साथ ऐसी स्थिति आ सकती है कि समुदाय पूर्ण विकसित हो जावे और राज्य

अनावश्यक हो जावे ।

मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों में उसका पूर्ण विश्वास था । वह राज्य को इसमें दखल देने का आद्योपान्त विरोधी था ।

1.03.05 समाजवादी चिन्तन और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

यह दर्शन भी मुख्यतः 19वीं शताब्दी की उपज है । पूँजीवाद और व्यक्तिवाद की जबर्दस्त प्रतिक्रिया समाज और राज्य को शक्तिशाली और सर्वशक्तिमान बनाने के उपक्रमों के रूप में हुई । इसमें मार्क्स-ऐन्जिल का नाम सर्व विख्यात है ही । पर कुछ इसके आदर्शवादी (Utopian) व्याख्याकार इनसे पूर्व भी हो चुके थे, यद्यपि ये सब लगभग समकालीन थे । हाँ, हिरोड्रोटस ने ईसा पूर्व में ग्रीकों के एक रसोईघर में समान भोजन करने की बात लिखी थी । प्लेटो कम से कम शासकों को परिवार और सम्पत्ति दोनों के रखने का अधिकार ही नहीं देता था । फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने राजाओं के विरुद्ध जनमत बनाया हुआ था । औद्योगिक क्रान्ति से मजदूर एक जगह बहुत संख्या में इकट्ठे होकर समानता की बात बलपूर्वक कह सकते थे । ईसाई धर्म की भी अमीरों के खिलाफ तथा जनता के समान ईश्वरपुत्र होने की शिक्षा का शताब्दियों का प्रभाव था ही । सिसमण्डो ने प्रतियोगिता-रहित औद्योगिक उत्पादन की बात कही थी । सैन्ट साइमन ने 1825 में वर्गों को समाप्त करने की बात कही थी । वह पैतृक उत्तराधिकार के भी प्रतिकूल था । उसने उत्पादन करने वाले मजदूरों को अधिक सम्मान देने का प्रस्ताव किया और एक नये प्रकार के वैज्ञानिक ईसाई धर्म का प्रचार किया । परन्तु वहाँ की सरकार ने 1831 में कानूनन इस साइमन धर्म को गैरकानूनी करार दे दिया । साइमन कहता था कि आदमी परस्पर एक दूसरे को न लूटकर प्रकृति को लूटें और भोग पदार्थ प्राप्त करें । फैरियर (1837) ने भी दोहन के खिलाफ आवाज उठाई और उत्पादक मजदूरों के कार्य को आकर्षक बनाने की बात कही । 400 परिवारों का एक पालंग (ग्राम) बसाने की योजना रखी जिसमें सारे गाँव की आय का 5/12 मजदूर को मिले, 4/12 पूँजीवालों को तथा 3/12 व्योपारियों को मिले । उसने सहकारी आन्दोलन भी चलाया और राज्य द्वारा गरीबी समाप्त करने का नारा लगाया । वह वास्तव में अपठित था ।

प्रौधाँ (1809-65) : इस फ्रेंच राजदर्शनकार को राज्य-शक्ति का परम विरोधी कह सकते हैं । वह साम्यवाद को गरीबी फैलाने का दर्शन कहा करता था । मार्क्स उसे दर्शनशास्त्र में गरीब चिन्तक कहता था । परन्तु वह श्रमिकों को उनका भाग दिलाने का समर्थक था । उनके संघ बनवाकर राज्य संचालन उन्हीं से करवाना चाहता था । उसका मत था कि हर सम्पत्ति चोरी का ही माल होती है । उसे श्रमिक उपार्जित करता है पर लगान, व्याज और लाभ के रूप में वह उनसे अन्यों द्वारा ले ली जाती है ।

राबर्ट ओवन (1771-1858) : यह एक अंग्रेज था । समाजवाद (Socialism)

का सबसे पहले उसी ने प्रयोग किया था। उसने कहा कि राज्य का उद्देश्य शासितों को सुखी करना है। समाज की परिस्थितियों को बदलकर सर्व-साधारण को सुखी बनाया जा सकता है। मजदूरों को सुख-सुविधा देकर ही उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, यह उसने सिद्ध किया। ट्रेड यूनियन तथा उपभोक्ता संस्थान बनाने की उसने योजना प्रस्तुत की थी। (A History of Socialism by Groves p-15)। परन्तु इन बिखरे विचारों को मार्क्स-ऐन्जिल ने एक वाद का रूप दिया जो जीवन के हर पहलू को छू सके। अतः उसका कुछ बृहद्दिग्दर्शन करेंगे।

कार्ल मार्क्स (1818-1883) **एवं फ्रेडरिक ऐन्जिल** (1820-1895)

परिचय : मार्क्स यहूदी थे और जर्मनी में पैदा हुए। एक वकील के पुत्र थे जो कि कालान्तर में ईसाई हो गये थे। 1848 में जर्मनी में जब विद्रोह हुआ तब उन्होंने कोलोन के निवासियों को कर न देने का परामर्श दिया था। तब उन्हें देश निकाला दे दिया गया, और शेष जीवन उन्होंने इंग्लैंड में बिताया। 1847 में कम्युनिस्ट पार्टी का मैनीफेस्टो वे जर्मनी में लिख चुके थे। इंग्लैंड में शेष पुस्तकें (Dascapital) आदि लिखीं। ऐन्जिल उनका धनाढ्य सहयोगी था। उसने आदर्शवादी समाजवाद का खण्डन करते हुए अपने तथाकथित वैज्ञानिक समाजवाद पर प्रचुर साहित्य लिखा है।

दार्शनिक भित्ति : अर्थव्यवस्था ही मनुष्यों की राजनीति, उनके धर्म और नैतिक नियमों का निर्माण करती है। उसी के अनुसार मनुष्य वर्गों में बँट जाता है और उनमें वर्ग-संघर्ष होता रहता है। हीगेल उसका गुरु था। परन्तु उन्होंने उसको उलटा खड़ा किया। उन्होंने कहा कि राज्यशक्ति समाज से उत्पन्न नहीं होती है। वह तो अपने समय के शक्ति सम्पन्न वर्ग का अपनी सत्ता बनाये रखने का साधन मात्र है। अतएव जो वर्ग शक्ति चाहता है उसे राज्यशक्ति (State Apparatus) पर कब्जा कर ही लेना चाहिए। हीगेल इतिहास के द्वन्द्वात्मक उद्देश्य में विश्वास रखता था, पर मार्क्स ने वर्गों के द्वन्द्व में उसे परिवर्तित करके यह आवाज उठाई कि मजदूर वर्ग के हाथ में सत्ता आना अनिवार्य है क्योंकि केवल वे ही परिश्रम और पसीने की कमाई खाते हैं। उसने इस उद्देश्य के क्रियान्वयन में अपना जीवन खपा दिया। आगे वह कहता है कि पशु तो प्रकृति से भोग्य पदार्थ प्राप्त करते हैं, पर मनुष्य प्रकृति से अधिकतम भोग्य पदार्थ निजी विवेक और उत्तम साधनों से प्राप्त करते हैं। यह साधन हाथों से बदलकर क्रमशः हड्डी, पत्थर, लोहा, ताँबा, प्रगति के कल-बल और औजारों में बदलते गए। इनकी उन्नति ही में मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता का विकास, मार्क्स सन्निहित मानता है। व्यक्तियों का स्तर भी वही होता है जैसी उनकी भौतिक उन्नति और सम्पन्नता होती है। उत्पादन की प्रचुरता के साथ ही मनुष्य वर्गों में बँट जाता है और उत्पादन के साधनों पर निम्न क्रम से विभिन्न वर्गों का अधिकार संसार के सब देशों में होता आया है, ऐसा मार्क्स ने दर्शाया है। वह क्रम निम्न प्रकार इतिहास के

उत्थान के स्वाभाविक विकास के सिद्धान्त में मार्क्स एवं ऐन्जिल द्वारा कहा गया है :

(1) प्रारम्भिक कबीले, (2) भूस्वामी और उनका आसामियों पर अधिकार (3) जमींदार और उसका किसान एवं मजदूरों पर अधिकार, (4) औद्योगिक युग में पूंजीपति/मिल मालिकों की मजदूरों पर प्रभुता ।

इन्होंने अपने दर्शन का नामकरण "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" करके किया है। इसके अनुसार हर व्यवस्था में कुछ लोग अधिक लोगों के परिश्रम की कमाई खाने वाले बन जाते हैं। पर प्रकृति का नियम है कि सतत ऐसा परिवर्तन होता रहता है कि उसी व्यवस्था के चर्मोत्कर्ष में उसके नाश के बीज सन्निहित होते हैं, जो उसे नष्ट करके उससे उत्तम-तर व्यवस्था को जन्म देते हैं। उपरोक्त 4 पद्धतियाँ भी इसी प्रकार अस्तित्व में आई हैं। मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवादी व्यवस्था ही मजदूर राज्य को जन्म देगी और मजदूर राज्य की परिस्थिति राज्य-शक्ति की मशीन को समाप्त करके अराजक साम्यवाद के प्रजनन का कारण बनेगी। उसने कहा कि इतिहास एक दिशा की ओर जाता है तथा वह दिशा ऐसी ही होगी जैसी उसने भविष्यवाणी की थी। मजदूर राज्य का होना समाजवाद में होकर होगा, जिसमें हर व्यक्ति को काम करना होगा और उसे उसके श्रम के अनुसार पारिश्रमिक दिया जावेगा। तदन्तर साम्यवाद की व्यवस्था में हर व्यक्ति को अपनी शक्ति भर कार्य करना होगा और उसे बदले में उसकी आवश्यकतानुसार भोग्य पदार्थ दिए जाएंगे।

व्यक्ति और समाज : समाज को और राज्य को इस दिशा की ओर ले जाने के लिए मार्क्सऐन्जिल ने यह प्रोग्राम रखा कि उत्पादन के स्रोतों और औजारों पर व्यक्तिगत स्वामित्व न होकर समाज का अधिकार हो। अन्य क्रान्तियों में विजेता वर्ग इन स्रोतों को विजित से छीन लेता था। पर मार्क्स उसे लेकर किसी वर्ग में पुनः बाँटने की बात नहीं कहता है।

विजित वर्ग अपने दर्शन और चिन्तन को ही राष्ट्रीय नीति बनाता आया है। अतः बुर्जुआ अर्थात उत्पीड़क और दोहनकर्ता-वर्ग राज्य की नीति और कानून ऐसे बनाते आये हैं कि किस प्रकार अनैतिकता, युद्ध-विजय या शोषण से प्राप्त एक दूसरे के धन सम्पत्ति की राष्ट्र शक्ति रक्षा करती रहे। इसलिए अंततोगत्वा राज्य की परम्परा को समाप्त करने का अराजक उद्देश्य उन्होंने अपनाया है। इसका वर्णन आगे करेंगे।

पूंजी के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि मजदूरों को उनके श्रम के अनुपात से कम और केवल उतना पारिश्रमिक दिया जाता रहा है कि वे मुश्किल से जिन्दा रह सकें और कई और अपने समान मजदूर बच्चे पैदा करके मर जावें। जो शुद्ध पारिश्रमिक में से इस प्रकार बचता है उसे उद्योगपति हड़प जाते हैं। इसलिए भी स्रोतों पर समाज का अधिकार होना चाहिए। यथेष्ट पारिश्रमिक बाँटकर जो बचेगा वह राष्ट्रोत्थान में ही पुनः लगाया जा सकेगा। अतः यह प्रोग्राम उन्होंने प्रस्तुत किया :

(1) बुर्जुआ प्रणाली की निजी सम्पत्ति को समाप्त करना।

(2) बुर्जुआ प्रणाली के परिवार की समाप्ति।

(3) राष्ट्र और राष्ट्रीयता की समाप्ति ताकि राष्ट्र की उच्चता की आड़ में एक देश अन्य कम उन्नत देशों का दोहन, युद्ध-विजय या व्यापार प्रणाली या कर्ज-प्रणाली द्वारा न कर सके।

धर्म और नैतिकता : इनके अनुसार जब समाज में श्रम-विभाजन हो जाता है, तो उत्पादकों के दो वर्ग हो जाते हैं। एक तो वे जो शारीरिक श्रम की कमाई खाते हैं और दूसरे वे जो मानसिक श्रम की। मानसिक श्रमिकों के चिन्तन से ही धर्म, दर्शन और नैतिकता के विभिन्न वादों का सृजन होता है। तत्कालीन योरुप की मार्क्स-ऐन्जिल ने 3 चारित्रिक धारायें बताई थीं। एक तो सामन्तवादी जो सम्पन्नता वालों की थी। दूसरी विकसित मस्तिष्क वाले मध्यम वर्ग से उत्पन्न होने से भौतिकवादी कही जा सकती है। और तीसरी मजदूर वर्ग की जो कि भविष्य में आने वाली पीढ़ी की सभ्यता (Morality) होगी। उदाहरणार्थ चोरी को वर्गवादी समाज में बुरा कहा गया है। पर समाजवादी संसार में किसी के पास चुराये जाने योग्य कुछ होगा ही नहीं और न किसी को चोरी करने की आवश्यकता होगी। अतः इस शिक्षा पर जोर देने की कोई जरूरत ही न रहेगी। जब दैनिक जीवन में भी अनुभव के आधार पर लोग वर्गों के अस्तित्व को भूल जावेंगे, तब मानव धर्म का उदय होगा। अभी तो समाज के 3 वर्गों ने धर्म को अपने स्वार्थ बनाये रखने का साधन मात्र बना रखा है, जबकि धर्म का आधार मनुष्य की सामाजिक आवश्यकतायें और ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर होना था। वास्तव में मनुष्य धर्म का निर्माता है न कि धर्म मनुष्यों का। अधुना तो धर्म पीड़ित मानवता की कराह है, क्रूर संसार की आतमा है। वह तो मानव को अफीम के नशे में भुलाये हुए है।

मध्यवर्ग का प्रजातन्त्रवाद राज्य को तो धर्म के चंगुल से छुड़ा देता है, उसे धर्म-निरपेक्ष बना देता है, पर व्यक्ति को धर्म के बन्धन में फँसा ही छोड़ देता है। साम्यवादी क्रान्ति के द्वारा परस्पर विरुद्ध हितों वाले व्यक्तियों को बदलकर सामाजिक शृंखला में बाँध दिया जाता है।

मार्क्स ने ईसाई-धर्म का कटु खंडन किया क्योंकि ईसाई धर्म ने गुलामी का तथा निम्न वर्ग के उत्पीड़न का समर्थन किया और इस उत्पीड़न को प्रभु-प्रदत्त पापों के दंड-प्रदान का रूप प्रभु-दर्शन का मार्ग कहकर उचित और श्लाध्य बताया कि प्रभु की अनुकम्पा कष्ट-ग्रस्तों को ही प्राप्त होती है। ऐन्जिल ने अवश्य प्रारम्भिक ईसाई आन्दोलन की कुछ प्रशंसा यह कहकर की है कि, रोमन साम्राज्य में पादाक्रान्त यहूदियों के त्राण के ही लिए ईसाई धर्म प्रगट हुआ था। पर वे भी इतने कमजोर थे कि अपना उद्धार मरणोपरान्त मिलने वाले जीवन में ही मानते थे। ऐन्जिल ने गर्व से कहा था कि उसका क्रान्ति का प्रोग्राम मनुष्य को यहीं और अभी सामाजिक पुनर्निर्माण के अमोघअस्त्र द्वारा त्राण प्राप्त करा सकता है; गरीबी से लदे इन्सान को वर्ग-भेद निजी-सम्पत्ति और राज्य की अन्धाधुन्ध शक्ति को समाप्त करके। उसने उदाहरण दिया कि 16वीं शताब्दी में धार्मिक क्रान्तिकर्ता लूथर ने जनता को पाप के चंगुल से

तो निकाला, पर उसे तत्कालीन राजा के सुपुर्द कर दिया था। बाद में तो सारी ईसाई परम्परा योरुप के सब देशों में निम्नवर्ग को दबाकर रखने में ही काम आई।

संक्षेप में साम्यवादी दर्शन पूँजीवाद के विरुद्ध नैतिक आवाज मात्र नहीं है। उसका उद्घोष है कि वह निःसन्देह पतनोन्मुख है। उसके स्थान पर यदि समाजवाद न आया तो हौब्स के प्राकृतिक धर्म और उसके द्वारा प्रस्तावित सर्व अधिकार सम्पन्न सरकार ही बनेगी जो पूर्णतया स्वेच्छाचारी होगी।

धर्म के विषय में लेनिन ने यों लिखा है :

"धर्म एक प्रकार का आध्यात्मिक दबाव है। जो लोग दूसरों के लिए काम करने के कारण दलित हो रहे हैं, आवश्यक वस्तुओं का अभाव जिन्हें व्याकुल कर रहा है, उन पर यह दबाव छाया रहता है। उत्पीड़कों के विरुद्ध संग्राम में पीड़ितों की असहाय दशा उनमें यह विश्वास उत्पन्न करती है कि मरने के अनन्तर सुखी जीवन अवश्य मिलेगा। यह धारणा जंगली लोगों की उस धारणा के समान है, जिसके अनुसार वे प्रकृति के विरुद्ध विषम संग्राम में पराजित होकर देवता, भूत और चमत्कार आदि में विश्वास करने लगते हैं। जीवन-भर श्रम से थके और सुखसाधनों से रहित मनुष्य को धर्म, शान्ति और संतोष के साथ इस लोक में रहने का उपदेश देता है। पर जो दूसरों के श्रम पर जीते हैं, उन्हें इस जन्म में भलाई करने के लिए कहता है। उसके सारे उत्पीड़न को न्यायोचित ठहराकर परलोक में स्वर्गीय सुख पाने के लिए सस्ते दामों पर प्रमाण-पत्र दे देता है। धर्म लोगों के लिए अफीम है। धर्म एक प्रकार का आध्यात्मिक-मद्य है, जिसमें पूँजी का दास अपनी मानवीय सत्ता और अपने मानवीय जीवन की आवश्यकता को डुबो देता है।"

(**नोट** : पर यह ध्यान रहे कि अभौतिक जीव और विश्व के सृष्टा ईश्वर आदि का निषेध, इनके दर्शनशास्त्र में, अन्य भौतिकवादी दार्शनिकों के समान युक्तियों द्वारा नहीं किया है। वे इनकी सत्ता को सामान्य-जनों के युक्ति विरुद्ध मिथ्या विश्वास पर आश्रित मानकर चले हैं। जैसे अनात्मवादी होकर भी सांख्य की एक धारा, जैन बौद्ध आदि, यम-नियमों को मानते हैं, जैसे ही आत्मवादी लोगों ने भी न्याय और साम्य का उद्घोष किया है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं है।)

समानता और सम्पत्तिः मार्क्स ऐन्जिल सम्पत्ति का महत्त्व उसके उत्पादन श्रोत होने में मानते हैं, न कि उसके द्वारा व्यक्ति की इच्छायें तृप्ति होने में। जैसे ही पशु और पृथ्वी पर व्यक्ति ने कब्जा किया, वे कबीला और गोत्र के हाथ से निकलकर व्यक्ति के कब्जे में पहुँच गये। आरम्भ में धन-धरती सारे समुदाय की होती थी जिसमें कुछ खेती करते थे, तो कुछ हस्तोद्योग। उनके औजार भी सीधे सस्ते थे। इसका फल यह हुआ कि राजघराने और राज्य का स्वरूप बदलता था, पर वे अक्षुण्ण बने रहते थे। ग्राम्य व्यवस्था में कृषक को संरक्षण मिलता रहा यद्यपि वह जमीदार के आधीन था। अतः उसकी हालत प्राचीन समय के गुलाम से अच्छी थी। अब कृषक उस भूमि का स्वामी होता है जिसे वह जोतता है। अथवा हस्तकलाकार के

औजार अपने होते हैं; तब ऐसी निजी सम्पत्ति में व्यक्तित्त्व का विकास होता है, क्योंकि मालिक उत्पादित वस्तु का मूल्य तो बाजार भाव पर लगाकर बेचता है पर मजदूरी यह सोचकर निश्चित करता है कि मजदूर कम से कम कितना वेतन पाकर मात्र जिन्दा रह सकता है, यद्यपि मजदूरी का बाजार मूल्य बहुत होता है। इन दोनों का अन्तर वह चुराकर जमा कर लेता है। उसी को पूँजी-निर्माण कहते हैं। जो उत्पादित होता है, यद्यपि उसमें मजदूर की इच्छा केन्द्रित हुई है पर वह आवश्यकतानुसार सृजित वस्तु नहीं है, वरन उच्च वर्ग के आनन्द-भोग के लिए है। कालान्तर में राज्य उत्पादन पर कब्जा कर लेता है। परन्तु राज्य चूँकि मध्यम वर्ग की संस्था है, अतः मजदूर मजदूर ही बना रहता है और मध्यम-वर्गीय नौकर पेशा उस पर कब्जा जमा लेते हैं। समाजवाद आने पर पहली स्टेज में मजदूर मजदूरी के पूरे बाजार भाव पर उजरत पावेगा पर उसमें से संचालन व्यवस्था का थोड़ा-सा अंश काट लिया जावेगा। इस कटौती में मशीन का घिसाव तथा रखाव और विस्तार, बीमा, स्वास्थ्य सेवाएँ और प्रबन्ध सम्बन्धी व्यय भी सम्मिलित हैं। इस स्थिति में सम्पत्ति पर समानाधिकार नहीं मिलता; हाँ समान परिश्रम के लिए समान पारिश्रमिक अवश्य मिलता है। मानसिक श्रमकर्ता को शारीरिक श्रमकर्ता से अधिक उजरत मिलेगी। यहाँ दृष्टव्य यह है कि तत्कालीन अर्थव्यवस्था का ही विश्लेषण है। "समाजवादी" व्यवस्था में अर्थव्यवस्था व व्यवस्था क्या होगी, इस पर वह मौन है।

परन्तु पूर्ण साम्यवाद में यह अन्तर समाप्त हो जावेगा। तब हरेक से अपनी योग्यतानुसार परिश्रम लेकर जो पारिश्रमिक दिया जावेगा, वह उसकी आवश्यकतानुसार ही होगा।

उस स्थिति को लाने के लिए मनुष्यों को समानता के नारे को भूल जाना पड़ेगा। समानता का नारा बुर्जुआ पूँजीवादी समाज में ही महत्त्व रखता है, जिसमें धन और विनिमय का बोलबाला है, और एक वर्ग दूसरे वर्ग का आनन्दमय जीवन देखकर वैसा ही आनन्द अपने लिए माँगता है। पर जब वर्गभेद समाप्त हो जावेगा तो वैसी ईर्ष्या समाप्त हो लेगी। तब समानता की माँग एक पुरानी प्रेम-लीला सी लगेगी।

जब तक यह साम्यवाद नहीं आता, ये विचारक एक वर्ग की सर्वोपरिता और भोगों की पात्रता पर विश्वास रखने को कहते हैं।

ऐन्जिल ने सेन्ट साइमन की मजाक उड़ाते हुए कहा था :

> They (Utopian Socialists) want kingdom of reason and Eternal justice. But it is as far off as Heaven from earth.
> (बुद्धि और न्याय पर ही पूर्णतया आधारित समाज की कल्पना तो मात्र मृग-मारीचिका है)।

राज्य का स्वरूप : मार्क्स यों तो हीगेल का शिष्य था पर वह प्रजा की सार्वभौम सत्ता का प्रस्फुटीकरण एक राजा के माध्यम से होना नहीं मानता था। चाहे सारी प्रजा ही मिलकर कानून बनाये, **पर उस कानून पर अमल तो नौकर-पेशा लोग ही करवाते हैं।**

मार्क्स कहता है कि इस व्यवस्था में सारी शक्ति प्रायः कार्य-पालिका के हाथ में चली जाती है। नौकर-पेशा अपने और राज्य को समानार्थक समझकर एक दूसरे का पोषण करते रहते हैं। अतएव वह वयस्क मताधिकार के पक्ष में है। इस क्रान्तिकारी सुझाव के कारण राजा, सभा और नौकर-पेशा इन सबके परस्पर सम्बन्धों में मूलभूत परिवर्तन हो जाता है। इससे विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग भी समाप्त हो जाते हैं। मार्क्स कहता है कि साधनहीनों का बहुमत सबको ही अपना जैसा बना डालता है। सम्पत्ति का नाश होने से नये समाज और नयी व्यवस्था का सृजन होता है। आज की व्यवस्था में राज्य का कैसा भी गठन और रूप होता रहे पर बुर्जुआ (सम्पत्ति-मूलक) अर्थव्यवस्था का पृथक् संगठन होता है। राज्य का विधान चाहे एकतन्त्रीय हो चाहे प्रजातन्त्रीय, बुर्जुआ अर्थतन्त्र का निराला ही एक-सा रूप सर्वत्र है। सम्पत्तिशाली लोग परदे के पीछे से राजतन्त्र को कठपुतली की तरह नचाते रहते हैं। अतएव कर्मचारी तन्त्र इस अर्थतन्त्र का सदैव संरक्षण करते रहते हैं। अस्तु बुर्जुआ समीकरण में यह वर्ग दूसरे वर्ग को दबाये रखने के लिए कानून और व्यवस्था के तन्त्र का प्रयोग करता है। प्रारम्भ में गुलामों को मालिकों ने इसी शासनतन्त्र के माध्यम से गुलाम बने रहने पर मजबूर किया, बाद में 'जमींदारों' ने किसानों को और अब मिल—मालिक मजदूरों को राज्य के माध्यम से दबाते हैं। कभी-कभी राजतन्त्र में दोनों पक्ष बराबर की शक्तिवाले भी हो जाते हैं। जहाँ वर्ग प्रमुखता की स्थिति नहीं आती, वहाँ भी राज्य निष्पक्ष बना रहता है। किसान वर्ग ऐसा है जो अपनी प्रमुखता होने पर भी अपने लिए कुछ नहीं कर सकता। वह ऐसे लोगों की तलाश में रहता है जो उसके प्रतिनिधि बन सकें और उनके मालिक बन-कर उनकी रक्षा कर सकें तथा उन्हें वर्षा का जल भी लाकर दे दें। उनके तन्त्र में तो नौकर-चाकर वर्ग ही सारे समाज पर छा जाता है। ऐन्जिल का यह विचार था कि ठीक इसी प्रकार बुर्जुआ वर्ग भी राज्यतन्त्र पर सीधे कब्जा करके उसे चलाने से दूर रहना चाहता है। अतएव वह योग्य वेतन भोगी व्यक्ति ढूँढ़कर राज्य-संचालन उनसे करवाता है। बदले में वे उसके अर्थतन्त्र को स्थायित्व प्रदान करते हैं। बुर्जुआ सीधा उत्तरदायित्व राज्य संभालने का मजदूरों के डर से भी नहीं संभा-लना चाहते। परन्तु प्रजातान्त्रिक राज्यों में ही मजदूर अपना संघर्ष जारी रख-कर सत्ता पर कब्जा कर सकने की स्थिति में है। इस पद्धति के ही द्वारा पूर्वकाल में मध्यमवर्ग ने सामन्तों से मुक्ति पाई थी और इसी के प्राङ्गण में मजदूर सम्पत्तिवाले बुर्जुआ वर्ग से सत्ता छीन सकेगा। सारे विद्रोह उपस्थिति-तन्त्र के पूरक होते हैं, उसके विध्वंसक नहीं। पर मार्क्स आगे कहता है कि इस प्रजातान्त्रिक ढाँचे से नये समाज का निर्माण नहीं हो सकता क्योंकि इसने एक नया देव पैदा कर दिया है जो है पेशेवर राजकीय नौकर-पेशा लोगों का वृहद् एकत्रीकरण क्योंकि इन लोगों के षड्यन्त्र स्वरूप उत्पादन की अनेक प्राग्विधियाँ और क्षेत्र प्रजा से छीनकर भूतकाल ही में राज्यतन्त्र के अन्तर्गत राष्ट्रीयकरण के नाम से ला रखे गये हैं। अतएव मार्क्स का प्रस्ताव था कि फौज विघटित करके हर नागरिक को फौजी शिक्षा राष्ट्र रक्षार्थ दी जावे तथा राज्य के सब

पदों का चुनाव हुग्रा करे; जजों का, मजिस्ट्रेटों का, मैनेजरों का। उनके वेतन भी मजदूरों जैसे ही हों। वे स्थानीय निकायों के संरक्षण में ही कार्य करें ग्रौर जिस प्रजा ने उन्हें चुना है उसे उन्हें वापिस बुलाने का हक हो। स्थानीय निकाय (कम्यून) स्वयं विधि-निर्मात्री, ग्रौर कार्यकारी ग्रंग हों। कम्यून की कल्पना राज्य को शिथिल ग्रौर क्रमशः समाप्त करने वाले ग्रायोजन के रूप में मार्क्स ने कही थी।

इन दोनों स्थितियों के बीच में मजदूर के शासन की स्थिति कुछ वर्षों रहना ग्रनिवार्य है, जिसमें वर्गों को ग्रौर उनके हितों को समाप्त किया जावे। ग्रनन्तर कोई मतभेद ही न रहेंगे जिन्हें दबाने के लिए राज्य की ग्रावश्यकता हो। उत्पादन के स्रोतों पर ग्रधिकार, यह राज्य का ग्रन्तिम कार्य होगा। राज्य विहीन समाज में पुरुषों पर शासन न होगा वस्तुग्रों का प्रबन्ध मात्र शेष रह जावेगा। राज्य का जो थोड़े बहुत कार्य शेष रह जावेगा, उनका वर्णन मार्क्स नहीं करता।

मार्क्स, ऐन्जिल ने हीगल के द्वन्द्व को भौतिकवाद का रूप दे दिया। ग्रात्मा के लिए कही बात को वस्तु ग्रौर प्रकृति पर घटा दिया। उसने एक परिवर्तन यह कर दिया कि जिसे हम सम्वाद (Synthesis) कहते हैं वह प्रतिवाद का ठीक उलटा होता है ग्रौर ग्रपने बाद वाली मूल ग्रवस्था को हिला देता है। राज्यों की चरम परिणति होकर ग्रराज्य स्थिति ग्रावेगी। वर्गों (Classes) की चरम परिणति होकर वर्गरहित (Classless) समाज ग्रावेगा। ग्रर्थात् संसार सदैव विकासोन्मुख न होकर पुनः ग्रविकास की ग्रोर लौट ग्राता है। त्रिकोण बढ़कर वृत में समाप्त हो जाता है।

मार्क्स ने इतिहास को किन्हीं सिद्धान्तों से पूर्व-निर्मित बताया ग्रौर साम्यवाद ने भविष्यवाणियाँ भी कीं।

प्रयोग के रूप में 1917 में रूस के राजनैतिक ढाँचे पर हिंसा से कब्जा करके उन्होंने 1957 में 40 वर्ष बाद घोषणा की कि पूँजीवादी ढाँचा नष्ट करके समाजवादी स्थिति ग्रा गई है। यह बाद (Thesis) है। इसका प्रतिवाद (Antithesis) साम्यवाद में होगी ग्रौर सम्वाद (Synthesis) के सम्बन्ध में रूस में ग्रराजक समाज का उद्भव भी 40 वर्ष में ग्रर्थात् 1997 तक हो जाना चाहिए। उसके बाद के इतिहास पर उनके दार्शनिक मौन हैं। पर निश्चित ही विश्व समाप्त न होकर चलता ही जावेगा।

ग्रात्मतत्त्व को नष्ट करके प्रकृतिलीन समाज तब क्या करेगा ? निश्चय ही ग्राध्यात्म की ग्रोर लौटेगा। इसकी प्रक्रिया शुरू हो गई है।

यहाँ हम नोवुल पुरस्कार-विजेता ग्रलेकजांदर सोल्जेनित्सीन का सोवियत संघ से निष्कासन से पूर्व का लेख देते हैं कि जो 12-2-74 को उसने लिखा था कि : "मैं साम्यवादियों में से हूँ। एक समय था जब हम फुसफुसा भी नहीं सकते थे। ग्रब हम समिन्दात में लिखते ग्रौर पढ़ते हैं, ग्रौर कभी-कभी जब हम विज्ञान संस्थान के धूम्रपान कक्ष में एकत्र होते हैं, एक दूसरे से खुलकर ग्रपने दुःख-दर्द कहते हैं।

वे हमारे साथ क्या चाल चल रहे हैं ग्रौर वे हमें किस ग्रोर घसीट रहे हैं ? ब्रह्मांडीय उपलब्धियों की ग्रात्म-तुष्ट डींगें जबकि देश में गरीबी ग्रौर विनाश है!

दूर असभ्य हुकूमतों की स्थापना। गृह युद्ध को उकसाना। और हमने बेपरवाह होकर माओत्सेतुग को पनपाया (अपनी कीमत पर) और उसके खिलाफ युद्ध में हमें ही भेजा जायेगा, और हमें जाना ही पड़ेगा!

क्या कोई निस्तार है? और वे चाहे जिसे मुकदमे में खड़ा कर देते हैं, और पागलखानों में स्वस्थ लोगों को रखते हैं—हमेशा वे ही, और हम शक्तिहीन हैं।

स्थिति लगभग रसातल जैसी है। एक सार्वजनिक आत्मिक मृत्यु हम सभी को छू चुकी है और जल्द ही भौतिक मृत्यु भड़केगी और हमें तथा हमारे बच्चों को निगल जायेगी। लेकिन हम अभी भी पहले की तरह जीभ दबाकर भुनभुनाते हैं।

पर इसे रोकने के लिए हम क्या कर सकते हैं? हम में वह ताकत नहीं हैं।

हम इस कदर मनुष्यत्वहीन किए जा चुके हैं कि आज मामूली रासन के लिए हम अपने सारे सिद्धान्त, अपनी आत्मायें, और अपने पूर्वजों के सारे प्रयत्नों और अपनी सन्तानों के समूचे भविष्य को छोड़ने के लिए तैयार हैं—बस हमारे सोंकिया अस्तित्व को बना रहने दो!

हममें न कठोरता है, न गर्व, न उत्साह। हमें सार्वभौम आणविक मृत्यु का भी डर नहीं, न ही तीसरे विश्वयुद्ध का। हम पहले ही खोहों में पनाह ले चुके हैं। हम सिर्फ नागरिक साहस की कार्यवाही से डरते हैं।

हमें डर लगता है सिर्फ झुण्ड से पिछड़ जाने में और अकेले एक कदम रखने में—और इस कारण एकाएक सफेद रोटी से वंचित रह जाने का, तापदायक गैस और मास्को का नागरिक नामा न मिल पाने का।

हमें राजनीतिक पाठ कूट-कूटकर पढ़ाये गये हैं और उसी तरह आरामदेह जिन्दगी जीना भी, और इस तरह सब कुछ ठीक होता होगा। आप अपने वातावरण और सामाजिक परिस्थितियों से बच नहीं सकते।

दैनिक जिन्दगी जागरूकता निर्धारित करती हैं। इसका हमसे क्या वास्ता है? हम कुछ भी नहीं कर सकते!

लेकिन हम कर सकते हैं—सब कुछ। लेकिन हम भरोसे के लिए खुद से झूठ बोलते हैं। और हर चीज के दोषी वे नहीं हैं—हम खुद हैं, केवल हम। कोई कह सकता है—पर आप दरअसल जो चाहे सोच सकते हैं।

हमारे मुँह में कपड़ा ठूंस दिया गया है। कोई हमारी सुनना नहीं चाहता और कोई हमसे नहीं पूछता। हम उन्हें सुनने पर बाध्य कैसे कर सकते हैं? उनका मन बदलना असम्भव है।

उन्हें चुनाव द्वारा खदेड़ देना स्वाभाविक होगा पर हमारे देश में कोई चुनाव नहीं होते। पश्चिम में लोग हड़तालों और विघ्न प्रदर्शनों से परिचित हैं, पर हम बेहद कुचले हुए हैं और इस पर सोचना भी हमारे लिए भयानक है।

कोई कैसे एकाएक नौकरी छोड़ दे, और सड़क पर आ जाये? मगर पिछली सदी में हमारे कड़वे रूसी इतिहास ने जिन दूसरे विनाशक मार्गों की छानबीन की है,

वे हमारे लिए नहीं, और सच ही हमें उनकी जरूरत नहीं।

अब जबकि कुल्हाड़ियाँ अपना काम कर चुकी हैं, जब हर बोयी चीज फिर से अंकुरित हो चुकी है, हम देख सकते हैं कि जिन नौजवानों और गर्वोन्मत्त लोगों ने हमारे देश को आतंक, खूनी विद्रोह और गृह-युद्ध के जरिये न्यायी और सुखी बनाने की सोची थी, वे खुद विभ्रमित हुए थे।

नहीं, शिक्षा-पिता, धन्यवाद। अब हमें पता है कि कुख्यात तरीके कुख्यात नतीजों को जन्म देते हैं। हमारे हाथ पाक-साफ रहने दो…।

चक्र क्या वह पूरे हो चुके हैं? और क्या सचमुच कोई निस्तार नहीं हैं? क्या और अब हमारे लिए केवल यही शेष है कि हम बिना कुछ किये इन्तजार करते रहें? शायद अपने आप कुछ होगा?

यह कभी नहीं होगा, जब तक कि हम रोज-रोज इसके सबसे प्रखर पहलू झूठ को स्वीकार प्रशंसित और मजबूत कर रहे हैं, और अपने आपको उससे अलग नहीं करते।

जब हिंसा शान्तिपूर्ण जीवन में प्रविष्ट होती है, उसका चेहरा आत्मविश्वास से दीप्त होता है, मानो वह एक ध्वज लिये पुकारती हो, 'मैं हिंसा हूँ। भाग जाओ, रास्ता छोड़ो, मैं तुम्हें कुचल दूंगी।'

लेकिन हिंसा जल्द ही बूढ़ी हो जाती है। कुछ ही वर्ष बीतते हैं और उसका आत्मविश्वास छिन जाता है और एक सम्मानजनक चेहरा बनाये रखने के लिए वह झूठ को अपना साथ देने के वास्ते बुला लेती है। क्योंकि हिंसा अपने आपको झूठ के अलावा किसी और चीज से नहीं ढक सकती, और झूठ केवल हिंसा से जरिये बरकरार रखे जा सारी सकते हैं।

और हिंसा अपने भारी पंजे हर दिन पर और हर कंधे पर नहीं रखती। वह हम में से केवल झूठों में आज्ञाकारिता और झूठों में रोजाना हिस्सेदारी माँगती है—वफ़ादारी उसी में निहित है।

और हमारी स्व-उपेक्षित मुक्ति की सबसे सरल और सुलभ कुंजी ठीक यही है। झूठ में व्यक्तिगत अ-भागदारी, असहयोग; हालांकि झूठ सभी कुछ समेट लेते हैं, हम इस बहुत ही छोटी बात पर अड़े रहते हैं। वे चाहे सब कुछ समेट लें, पर मैं उसमें कोई मदद नहीं करूँगा।

हमारी निष्क्रियता से उत्पन्न काल्पनिक घेरेबन्दी में यह काम एक दरार डालता है। यह हमारे लिए सबसे सरल काम है, लेकिन झूठों के लिए सबसे विध्वंसक। क्योंकि जब लोग झूठों को त्याग देते हैं, तो झूठ का अस्तित्व कट जाता है। संक्रामक रोग की तरह, वे केवल जीवित जैविक इकाई में जी सकते हैं।

हम खुद को उपदेश नहीं देते। हम अभी भी इतने परिपक्व नहीं हैं कि चौराहों पर जावें और सत्य को रोकें। यह जरूरी नहीं है। यह खतरनाक है, लेकिन आइये हम वह करने से इनकार कर दें, जो हम खुद नहीं सोचते।

यह हमारा रास्ता है, सबसे आसान और सुलभ जो हमारी अन्तर्निहित गहरी जड़ों वाली कायरता को भी ध्यान में रखकर चलता है। और यह काफी आसान है। (यह कहना भी खतरनाक है) बनिस्वत उस तरह की सिविलनाफरमानी के, जिसकी वकालत गांधी ने की थी।

और जिसमें अपनी आत्मा की रक्षा का भी साहस नहीं है। वह अपने प्रगतिशील विचारों पर गर्व न करे और यह डींग न मारे कि वह अकादमीशियन है या जनकलाकार या सुयोग्य व्यक्तित्व या एक जनरल। वह अपने आपसे कहे—मैं झुंट में हूँ और एक कायर हूँ। जब तक मुझे रोटी और बिस्तर नसीब हो रहा है, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता।

यदि हम निहायत भयभीत हैं, तो यह शिकायत भी बन्द कर दें कि 'कोई भी झुक जायें और इन्तजार करें, और हमारे बन्धु जीव-वैज्ञानिक उस दिन को नजदीक लायेंगे जब वे हमारे विचार पढ़ सकेंगे और हमारे जीन्स पुनर्निर्मित कर देंगे।"

1.03.06 राष्ट्रवादी विचारधारा

इस विचारधारा का योरुप में प्रस्तोता मैजनी (Mazzini) (1805-1890) नामक इटैलियन था। वह कानून का ग्रेजुएट था। आजीवन इटैली की एकता और स्वराज्य के लिए उसने संघर्ष किया, जेल गया और दो बार देश से निर्वासित हुआ। मनुष्य के कर्तव्य (Duties of man) नामक पुस्तक से यह सारांश उद्धृत है। मैजिनी ने मनुष्य के अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर जोर दिया; क्योंकि कर्तव्य करते रहने से सारे समाज का कायाकल्प हो जाता है। मनुष्य के तीन मुख्य कर्तव्य हैं—मनुष्य जाति के प्रति, अपने देश के प्रति और अपने परिवार के प्रति। पर मनुष्य समूह बहुत बड़ा है और मनुष्य स्वयं बहुत छोटा। अतः हमारा कार्यक्षेत्र हमारा देश है। उसमें किये कार्यों का लाभ सारे मनुष्य समाज को मिलेगा। जब तक एक देश के निवासियों से अपील नहीं की जावेगी तो सबसे सम्बद्ध कौन-सी समस्या के लिए लोग त्याग करेंगे ? हर देश की सीमायें नदी पर्वतों द्वारा प्रभु ने पृथक् बना दी हैं। जो अस्वाभाविक सीमायें कुराज्य या विजय से बनती है वे शनैः-शनैः क्षीण पड़ जाती हैं। पृथ्वी के उस भाग पर जहाँ एक भाषा बोली जाती हो, वह एक राष्ट्र है। उस राष्ट्र में निष्ठा न रखने वालों को आत्मसात किये बिना वहाँ के निवासियों को चैन नहीं लेना चाहिए। एक देश के लिए सीमा के अतिरिक्त एक रूप-व्यवस्था भी आवश्यक है। ऐसे एक देश को प्रजातान्त्रिक होना चाहिए जहाँ केवल योग्यता का ही मूल्य हो। तथा देश में एक भी व्यक्ति अशिक्षित और बेकार नहीं रहने देना चाहिये। परन्तु मैजिनी स्वदेश को अन्य सब देशों से सर्वोपरि बनाने और युद्ध द्वारा अन्य देशों के पादाक्रान्त करने के पक्ष में नहीं था। सब देशों को अपना-अपना विकास कराना चाहिये। वह राष्ट्रीयता में तो विश्वास रखता था, पर राष्ट्रवाद (Nation-ism) में नहीं। उसका यह भी विश्वास था कि राष्ट्रीय एकता के लिए धर्म और एक-सी शिक्षा

ग्रावश्यक है । पर वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ग्रतिरंजना में भी विश्वास नहीं करता था । स्वतन्त्रता का ग्रर्थ यह नहीं है कि मनुष्य को कुपथ-गामी बनने का भी ग्रधिकार है । हाँ उसे कई सुपथों में से एक को चुनने का ग्रधिकार है । राष्ट्रवादी किसी न किसी रूप में यह मानते ही हैं कि कई राष्ट्रों का शान्तिपूर्वक मानवीय सम्बन्ध रखते हुए सह-ग्रस्तित्व सम्भव है । एक राष्ट्र तो भाषा या रक्त या धर्म या सम्मिलित ऐतिहासिक-परम्परा ग्रथवा इनमें कुछ तथ्य सबके सामान्य होने पर ही बन सकता है । पर राज्य के लिए एक भौगोलिक सीमा में बाध्य क्षेत्रफल का होना ग्रतिग्रावश्यक है । एक राज्य में एक से ग्रधिक राष्ट्र हो सकते हैं । एक राज्य के सब लोग एक भाषा, धर्म, रक्त ग्रौर ऐतिहासिक परम्परा के नहीं हो सकते । ग्रतः बहुसंख्यक ग्रुप का ग्रल्पसंख्यक ग्रुप पर प्राबल्य बना रहता है । हाँ, पशु बल से संस्कृति ग्रौर सभ्यता, धर्म ग्रौर भाषा या रक्तैक्यता नहीं लादनी चाहिए ।

1.03.07 जातियों (Races) की श्रेष्ठता का राजदर्शन

काऊन्ट ग्रारथर डी गोबिनीयू (फ्रैन्च) (1853) इस मत का प्रस्तोता है जो कि मिल ग्रौर कार्ल मार्क्स का ही समकालीन था । चार ग्रनुभागों में उसने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम था 'मनुष्यों में नस्लों की ग्रसाम्यता' (Inequality of Races) । इस पुस्तक की रचना के कुछ ही वर्ष बाद मार्क्स, मिल ग्रौर डार्विन की विख्यात रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं । उसकी पुस्तक का जर्मनी में बहुत प्रचार हुग्रा । जर्मनी में वेगनर, इंग्लैण्ड में चैम्बरलन (1855-1926) उसके प्रख्यात शिष्य हुए । चैम्ब्रर्लन ने 1899 में एक पुस्तक लिखी '19वीं शताब्दी की ग्राधारशिला ।' जिसमें नस्लों की ग्रसाम्यता ग्रौर ग्रार्य-नस्ल की श्रेष्ठता पर शोध प्रबन्ध लिखा गया था । जर्मन सम्राट ने इस पुस्तक की लाखों प्रतियों छपवाकर बंटवाई थीं । गोबिनीयू की मुख्य धारणा यह थी कि जातियों में मूलतः ग्रौर स्वभावतः विभाजन है । उनमें जिस प्रकार शरीर के रंग, बालों के स्टाइल, नाक के उतार-चढ़ाव इत्यादि में भेद है, वैसा ही भेद उनके बौद्धिक एवं भावनात्मक चरित्र में है । यह गुण उनके खून में होने से सन्तानों में भी पहुँच जाते हैं । यदि भिन्न-भिन्न जातियों में विवाह सम्बन्ध होते हैं, तो सन्तान में युग्म के गुण हलके होकर पहुँचते हैं, ग्रौर वर्णशंकरता से जाति का ह्रास होता है । उसने यह भी कहा है कि नस्लों में न केवल भिन्नता है, बल्कि ग्रसाम्य भी है । उसने कहा मनुष्य न तो एक से ग्रौर बराबर पैदा हुए हैं, न जीवन में ऐसे बने ही रहते हैं । श्वेत जातियाँ, पीले रंगवाली जातियों से श्रेष्ठ, ग्रौर पीले रंगवाली जातियाँ काले रंगवाली जातियों से श्रेष्ठ हैं । तो भी हरेक नस्ल (जाति) में ग्रपनी-ग्रपनी विशेषता होती है । काली जातियाँ कला ग्रौर संगीत में पारंगत, पीली जातियाँ स्थिरता ग्रौर नियमानुशासन-बद्धता, ग्रालस्य-ग्रस्त द्वितीय श्रेणी के नागरिकों वाली तथा श्वेत-ग्रार्य जातियाँ स्फूर्ति-पूर्ण ग्रौर ग्रन्वेषणोन्मुख होती हैं । विश्व में उन्नत संस्कृतियों की संस्थापक ग्रार्य जातियाँ ही रही हैं । उसने एक स्थल पर यह भी लिखा है कि इन जातियों में यत्र-तत्र पर सीमित संख्या

में अन्तर्जातीय विवाह लाभप्रद भी है, क्योंकि संस्कृतियों का उत्थान ऐसे ही होता आ रहा है। परन्तु यदि इसकी अतिशयता हो जाती है तो पुराना रक्त नष्ट हो जाता है और पतन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। गोबिनीयू ने यह भी कहा कि शुद्ध आर्य रक्त इंग्लैण्ड और फ्रान्स में बसी धनवान और बुद्धिवादी मध्यममार्ग की आबादी में अत्यधिक है।

चैम्बरलेन ने यह और जोड़ दिया कि राष्ट्र की नस्ल की पवित्रता की रक्षा करनी चाहिये। प्रतीत होता है कि हिटलर ने आगे चलकर 1933 में स्वामित्व पूर्ण जाति का सिद्धान्त इन्हीं लेखों के आधार पर स्थापित किया। उसने कहा कि हर जाति के उत्थान के लिए एक राष्ट्र की आवश्यकता है। अपनी पुस्तक मीनकाम्फ में उसने लिखा है कि भारत आदि देशों में राष्ट्र इसीलिए नहीं बन सका कि वहाँ की जाति की जातीयता नष्ट हो गई थी। राष्ट्र के प्रतीक रूप उसने तीन चिह्न बताये हैं।

एक से ऐतिहासिक संस्मरण (Common Memory)
एक सी महत्त्वाकांक्षा (Common Aspiration)
एक सा बौद्धिक प्रभरण (Common Intelectual Nourishment)

राष्ट्रीयता से ही रक्त सम्बन्ध सुस्थिर होते हैं। जैसे सिंह मात्र सिंहनी से सन्तान उत्पन्न करता है, ऐसे ही जातियों को उचित है। उसने आर्य जाति के उन्नयन का एक मात्र उपाय बताया 'रक्त और भूमि' की श्रेष्ठता (Blood and Soil-Blut Underde) अर्थात् एक जाति, एक राष्ट्र और एक नेता। इसलिए उसकी राजनीति के दो अंग हैं। यहूदी जाति का निष्कासन और उन्मूलन तथा विभिन्न राज्यों में बसे जर्मन नागरिकों को मुक्त कराके एक बृहत्तर राष्ट्र में ले जाना।

यह तो 1933-1945 की बात है। पर बाद की दशाब्दियों में भी श्रेष्ठता का उद्घोष अरब संघ की स्थापना (1953) अफ्रीका के पृथकतावादी कानूनों (1946) में, तथा अमेरिका में इंडियनों के साथ के व्यवहार में दिखाई देता है।

1.04 वैदिक राज-दर्शन :

मैक्समूलर के कथनानुसार ऋग्वेद विश्व के पुस्तकालय की सर्वप्रथम पुस्तक है; जिसका समय वह 5000 वर्ष ईसा-पूर्व तक ले जाता है; जो कि बाइबिल के अनुसार इस सृष्टि की आयु है। आर्य चिन्तन में वेदों को भारत में सर्व विद्या-निधान माना गया है। वेद केवल आध्यात्मिक संकलन ही नहीं है, वे धर्म-ग्रन्थ भी हैं। धर्म वैयक्तिक-अभ्युदय और निश्रेयस दोनों का मार्ग प्रशस्त करता है। उसमें आत्मिक और लौकिक दोनों विषय आते हैं? उपनिषदें अवश्य मात्र आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। भारत में सामाजिक कानून की पुस्तकों को धर्मशास्त्र कहा गया है। मनु की कृति मनुस्मृति को इसलिए ही मानव धर्मशास्त्र कहा गया है। उसमें आर्य राष्ट्र का कानून और व्यवहार वर्णित है। इसी प्रकार राज-दर्शन का श्रोत भी आर्य-मर्यादा में वेद ही कहा गया है। उसमें धर्म, अर्थ, काम के बारे में अधिक कहा गया है। त्रिवर्गीय निष्ठा अध्यात्म-

निरपेक्ष (Secular) है। धर्म से तात्पर्य नीति-शास्त्र के कानूनों से है जो अर्थोत्पादन एवं वितरण के सम्बन्ध में है। वे काम की मर्यादा स्थिर करते हैं। अर्थ तो परिश्रम का फल है, और काम स्वाभाविक लालसाओं की पूर्ति है, ऐहिक कामनाओं में।

इन स्वाभाविक कामनाओं का संकेत वेद में निम्न दो स्थलों पर प्रचुर है जो इस बात का संकेत है कि वेद में तत्सम्बन्धी उपादानों और व्यवस्थाओं का विस्तृत उल्लेख है—

(1) स्तुतामया वरदा वेदमाता प्रचोद्यन्ताम् पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यम् दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ अथर्व०/19/71/1 ॥

मेरे द्वारा वेदमाता की स्तुति की गई है, वह पवित्रकर्त्री है, उससे मुझे आयु, प्राण, सन्तान, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मवर्चस तथा मोक्ष की प्राप्ति के साधनों की जानकारी की अपेक्षा है)

(2) तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्
पश्येम शरदः शतं/जीवेम् शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतम् प्रवबाम शरदः शतमदीनाः :
स्याम शरदः शतम् भूयश्च शरदः शतात् ॥ [यजुर्वेद 6/40]

वेदमाता चक्षुस्वयं अर्थात दिग्दर्शन कराने वाली है। सृष्टि के प्रारम्भ से विधान रूप है। उस प्रदत्त ज्ञान द्वारा सौ शरद पर्यन्त जीने, सुनने, बोलने की शक्ति आती है। वह जीना भी सम्पन्नतापूर्वक होता है। फिर जन्म-जन्मान्तर यही ऐहिक लाभ मिलते रहने की शक्यता आती है। इस प्रकार धर्म सम्बन्धी कुछ व्यवस्थायें तो शाश्वत कानून हैं, और इन्हें यम की संज्ञा दी गई हैं। शेष व्यवस्थायें वैकल्पित हैं और नियम कहलाती हैं। शाश्वत नियमों का सृष्टि के आदि में उपदिष्ट होना आवश्यक है। और वह वेद में ही सम्भव है। मनु महाराज का एक वाक्य एतदर्थ प्रसिद्ध है :

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ॥ मनुस्मृति ॥ 12-6 ॥

शतपथादि ब्राह्मणग्रंथ, तेत्तिरीयादि अरण्यक, रामायण एवं महाभारत प्रभृति महाकाव्य, षड्-दर्शन, मनुयाज्ञवल्क्य हारीत की स्मृतियों, शुक्र से चाणक्य तक की नीति पुस्तकों में सर्वत्र भूमिका में यही कहा गया है कि वेद-प्रणीत कानून को ही प्रतिभासित करने को वे रची गई है। यह प्रशस्ति यह मूल प्रतिज्ञा पुष्ट करती है कि आर्य राष्ट्र और जाति विधान के तन्त्र से अपने को आबद्ध समझती रही है। वेद सृष्टि का विधान हैं और हम सृष्टि के प्रारम्भ से ही उससे बँधे हुए हैं। मीमांसाकार आदि परिकल्पना और योजनावत होने से वेद को ही सृष्टि का निर्माता तक मानते थे।

पूर्व पृष्ठों में वर्णित योरुप के राजदर्शन के प्रस्तोताओं में हमें एक मुख्य तत्त्व दृष्टिगोचर होता है कि उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र की स्थिति को तथा तत्कालीन आन्दोलनों का रुख देखकर उनके समर्थन में किसी वाद या दर्शन (Creed) को गढ़ा है। प्रसिद्ध लेखक कालीन ने मार्क्स के बारे में एक स्थल पर लिखा है :

What Marks did was to provide a movement with creed; movements which hitherto had no theory.
(मार्क्स ने यही किया कि उन आन्दोलनों को जिनके मूल में कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं थे, सिद्धान्त देने का प्रयत्न किया)। उनके समर्थन में आधारभूत सिद्धान्त प्रस्तुत करने का बौद्धिक प्रयत्न किया।

और जो मार्क्स ने किया वही प्लेटो से लेकर डान्टे हीगल और बर्ट्रन्ड रसेल तक सभी ने किया है। पर भारतीय पद्धति में पहले सिद्धान्त निर्मित होता है और तदानुकूल समाज और राष्ट्र को ढाला जाता है। वेद में विधान है और तदानुकूल समाज को ढाला जाना यहाँ अभीष्ट रहा है।

वैदिक मान्यता पूर्व वर्णित पश्चिमी राजनीति-शास्त्र का कहीं पर तो श्रोत है, और कहीं पर उससे कतई तालमेल नहीं खाती है। कहीं-कहीं पर एक देशीय चिन्तन से वह प्रतिक्रियावादी (Reactionary) भी लग सकती है, परन्तु उसमें हमारे मूल्य (Values) निहित हैं, अतः उनको भी इस शोध में वैसा ही कह दिया है। पर पूरी तस्वीर खींचने पर वे न तो प्रतिक्रियावादी सिद्ध होते हैं, न निहित स्वार्थों के प्रति वफादार, बल्कि वे मनुष्य जाति के उत्थान के लिए आवश्यक सिद्ध होते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में इस ज्ञान का ईश्वर की ओर से प्रकाश हुआ था क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में इतना ज्ञान मनुष्य जाति निजी परीक्षण और उत्क्रम से कह ही नहीं सकती थी। इसीलिए वह ज्ञान निष्पक्ष और स्वार्थ-रहित है तथा जन-कल्याण ही उसका उद्देश्य है। सृष्टि की वे प्रथम पुस्तक होने से ईश्वरीय हैं। उस ज्ञान में राज्य-शक्ति के संगठन का विस्तृत वर्णन होने से हम राज्य-शक्ति को ईश्वरीय परिकल्पना भी कह सकते हैं।

1.04.02 वैदिक चिन्तन का भारत एव विश्व में प्रभाव

(क) भारत में : प्रागैतिहासिक काल की बात जाने भी दें, तो इतर काल में वेद के प्रति श्रद्धा सारे देश की इस तथ्य से भी प्रगट होती है कि उस पर वृहद भाष्य कहाँ-कहाँ और कब लिखे गये। स्कन्द स्वामी वल्लभी (गुजरात) के निवासी थे और उन्होंने 630 ई० में ऋग्वेद का भाष्य किया था।

यदि पूर्ववर्ती भाष्यकार रावण को राम का समयकालीन न माने तो भी दक्षिणात्य वेंकट माधव ने 12वीं शताब्दी में ऋग्वेद का भाष्य किया था, जो चोल देशान्तर्गत कावेरी-तट स्थित गोमान ग्राम के निवासी थे। द्वैतसिद्धान्त के प्रवर्तक माध्वाचार्य (उपनाम आनन्द-तीर्थ तथा पूर्व प्रज्ञ) ने 1300 ई० के लगभग वैष्णवी-परंपरा में वेद भाष्य किये थे और वे मद्रास प्रान्त के थे।

विजय नगर राज्य के प्रधान मंत्री सायण ने 12वीं शताब्दी में चारों वेदों का भाष्य 32 विद्वानों से करवाया था।

अवन्ति निवासी प्रसिद्ध काश्मीरी विद्वान उवट ने भी 1100 ई० के आसपास चारों वेदों का भाष्य किया था, जबकि राजाभोज वहाँ शासक थे।

इधर वाराणसी में प्रसिद्ध तांत्रिक ग्राचार्य महीधर ने 1645 ई० में वेदभाष्य किये। जयदेव विद्यालंकार ने ग्रजमेर (राजस्थान) में वेदभाष्य किये हैं।

भारत की 16 भाषायें (हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, सिन्धी, मराठी, तैलुगी, मलयालम, कन्नर, उड़िया, बंगला, ग्रसमिया, भोजपुरी, नैपाली, ग्रवधी, व्रजभाषा, राजस्थानी) ग्रौर उनके वाङ्मय में वर्णित कथा-क्रम, लोक-कथायें, शिक्षा तथा सिद्धान्त सबका स्रोत वेद की भाषा ग्रौर विषय-वस्तु ही है। इस विशाल देश के वन, पर्वत, मैदान, नदियाँ ग्रौर मनुष्यों के नाम वेद में प्रयुक्त हुए शब्दों से निर्मित कृदन्त तथा तद्धित ही हैं। भारत वेद-मय है।

भारत की परिवार प्रणाली, लोक-व्यवस्था, यम-नियम ग्रौर ग्रर्थनीति सभी का स्रोत वेद ही है। इसलिए भारत की कल्पना बिना वेद के है ही नहीं।

(ख) **वैदिक संस्कृति का भारतेतर देशों में ग्रार्यों द्वारा विस्तार 'स्थल मार्ग से' :** सुदूरभूत में जो दैत्यादैत्य ग्रथवा देवासुर संग्राम 300 वर्षों तक हुग्रा उसमें ग्रदिति की सन्तान ग्रादित्य विजयी हुए। ग्रदिति की बहिन (ग्रौर सौत) दिति की सन्तान हार गई। युद्ध में जो हार जाता है उसे क्रूर, ग्रधर्मी ग्रौर राक्षस कह निकलते हैं। ग्रतः राजा की दिति स्त्री से उत्पन्न सन्तान को राक्षस कहा गया ग्रौर दैत्य शब्द जो पहले ग्रच्छे भाव में प्रयुक्त होता था, बुरा माने जाने लगा। मारीच की तीसरी स्त्री कद्रू थी। उसकी सन्तान ने ग्रादित्यों का यत्र-तत्र साथ दिया था। उन्हें भारत के मध्य ग्रौर दक्षिणांचल में भेज दिया गया। पर दैत्य लोग पश्चिम की ग्रौर ग्रसीरिया, ईरान ग्रौर बैबिलोन की ग्रोर थल मार्ग से खदेड़ दिये गये। वे ग्रपने साथ संस्कृत भाषा ग्रौर वेद ले गये। उनके विद्वानों ने जिन्दावस्ता का निर्माण किया। उसके लेखक महात्मा जरदुस्थ की सब शिक्षायें वेदानुकूल ही हैं। वे पारसी धर्म के ग्रादि-पुरुष ग्रौर चिन्तक हैं, जिन्होंने ग्रग्नि-पूजकों का यह धर्म चलाया था। दारा के पिता हिस्तास्प या पौरुषात्र ही जरथुस्त्र थे जिन्होंने इस मत का पुनरुद्धार ईसा से ग्राठ शताब्दी पूर्व किया था। दारा की समाधि पर जो शिलालेख है उसमें ग्रपने को ग्रार्य जाति का एक ग्रार्य लिखा है ग्रौर ग्रपनी बोली को ग्रार्यन या ग्रर्वन तथा देश को ग्रार्यान कहा है। [जरथुस्त्री-धर्म (लेखक=विशंभरनाथ पांडे-प्रयाग-पृष्ठ 2)] इनकी धर्म पुस्तक का नाम भी ग्रवस्ता (ग्रा+विद=वेद) है।

मूल पुस्तक की टीका जेन्दू (पहलवी) भाषा में होने से उसे ज़िन्दावस्ता कहते हैं। ईरान के दक्षिण का प्रान्त पुर्स कहलाता था—वहाँ के राजा भी ग्रार्य थे। ग्रसुरिया प्रान्त में 835 ई०पू० में शालमनीश्वर का राज्य था ग्रौर उसने ईरान के भाटिया प्रान्त के राजा ज्ञानसेन, राभात्रिय ग्रौर रामेत को परास्त किया था। जरथुस्त्री धर्म ही का एक सम्प्रदाय मिथ्री था। वे मित्र (सूर्य) की उपासना करते थे। ग्रजरवेजान में ग्रग्नि के मन्दिर को 624 ई० में रोम के सम्राट हिरविलयस ने गिरवाया था। जरथुस्त्र से पहले भी ईरान में ग्रग्नि पूजा होती थी। वहाँ के समाज में यहाँ की तरह वर्ण व्यवस्था, फिर बाद में जाति व्यवस्था भी बन गई थी। 1215 ई०, में महात्मा मानी ने जन्मात

जाति व्यवस्था का विरोध किया था। तत्कालीन राजा ने उसे धर्म विरोधी घोषित करके उसकी खाल खिचवाई थी और उसमें भूषा भर के शाहपुर नगर के फाटक पर टाँग दिया था। 5वीं शताब्दी में मंसूर को भी इसी हेतु मृत्युदण्ड दिया गया था। सन् 636 ई०, में कोपोशिया के मैदान में अरबों ने ईरान को हराकर उन्हें मुसलमान बना लिया था पर ईरानियों ने अरबी भाषा और अरबी राष्ट्रीयता कबूल नहीं की थी। स्थल मार्ग की टुकड़ियाँ को मार्ग में मिले पहले समुद्र का नाम कष्यप के नाम पर कश्यप सागर (Caspean Sea) रक्खा था। वे बढ़ती-बढ़ती ब्रिटेन तक जा बसीं, यह इस शोध में सिद्ध किया गया है।

महाराज कृष्ण के जीवन में ही यादवों में गृह युद्ध हुआ था और उसमें कृष्ण जी स्वयं बहेलिया के बाण से मारे गये थे। तदन्तर द्वारिका तट से यादवों की टुकड़ियाँ 3 हजार वर्ष तक समुद्र मार्ग से मध्येशिया और मिश्र में जाकर बसती रहीं। राजा अजापति ने इजिप्ट को बसाया था। कर्नल अल्काट का भी यही मत था कि 5000 वर्ष पूर्व भारतीयों ने आकर मिश्र में राज्य स्थापित किया था। अफ्रीका प्रभृति देशों का नामकरण भारत के प्रान्त-अंग (Angolia) बंग (Benzula) कलिंग (Congo) के नाम पर हम देखते हैं। यादवों का अपभ्रंश ही ज्यू (JEW) शब्द है तथा ग्वाल से (Gaul) और अहीर से इब्रानी, पुरूवंशी से पारीशी, सरसेनी से सरेसेन अर्थात सीरियन जातियाँ बनी हैं। स्वयं विष्णु पुराण अन्तर्गत श्री भद्भागवत में आया है कि कृष्ण ने लोहित भील जाकर वरुण को जीता था। यही लाल सागर था। वे यूरोप में भी शनैः-शनैः फैले और अपने साथ कृष्ण की कथायें लेते गये। पाली भाषा में कृष्ण को क्रीष्टु कहते हैं। अतः मिश्र-प्रभृति देशों में बसने वाले यादवों ने यत्र-तत्र कृष्ण की गाथा अंकित की थी। 1700 ई०पू० में बने मेशकिन के मन्दिर में यह जीवन गाथा अंकित है पर उसमें जन्म गाथायें कृष्ण की तथा मृत्युगाथायें कंस की है। इन्हीं से सचमुच क्रीष्टु की जन्मगाथा परिकल्पित की गई थी अन्यथा 1700 ईसा पूर्व के मन्दिर में ईसा की जीवनगाथा कैसे पहुँची? जिसका उल्लेख जिनाल्ड मसी ने (Ancient Egypt) के इतिहास में भी किया है। बाद में प्रगटित ओल्ड टेस्टामैन्ट सीरियन भाषा में न होकर ग्रीक भाषा में है जो कि संस्कृति परिवार की है। मिश्र में क्रीष्ट पंथ (Essence of Egypt) द्वारा स्थापित हुआ था और (Scraphis) के मानने वालों को ही क्रिष्चियन कहते थे। क्रास का चिह्न क्रास तीर द्वारा कृष्ण के वध पर हुई कृष्ण की आकृति है? यादवों के परिवार को (Juda) कहते थे? एक माँ के गर्भ में आना, दूसरे के यहाँ पैदा होना, देश छोड़कर भेजा जाना, रास्ते में नदी सूखना, तत्कालीन राजा द्वारा बच्चों का वध, गौ और मधु दोनों का प्रेम यह कृष्ण और क्राइस्ट की सब समान गाथायें हैं। पर वध की कहानी कंस से मिलती है। क्राइस्ट की शिक्षाओं में वैष्णव परम्परा और बुद्ध के पहाड़ी पर के उपदेशों का समन्वय है। जैसा कि जस्टिस्स, जैकोलाइट ने अपनी पुस्तक बाइबिल इन इण्डिया में कहा है।

I believe in Krishna—philosopher and Moralist, I admire his

lessons so sublime and so pure that later the founders of Christanity in Europe perceived that they could not do better than imitate him.

यहूदी इतिहासकार फीलो ने लिखा है कि मिश्र देश में सब धर्मों के मानने वाले थे और उनके वहाँ मठ थे। इनमें पूर्व से आये ब्राह्मण भी थे जो चितपावन ब्राह्मण थे और जो कृष्ण के उपासक थे। यज्ञोपवीत का ही अपभ्रंश वपतिस्मा की प्रथा है। सीरियन, ईसाई अब भी श्राद्ध-नामकरण आदि संस्कार करते हैं तथा विवाह पर ग्रन्थि-बन्धन भी करते हैं। यहूदी धर्म यज्ञमय था और उसमें पुरोहितों का प्राधान्य था।

स्वयं टेलर ने लिखा है कि : There is certainly Evidence of some small Colonies having come from the mouth of Indus to the shores of Africa and penetrated upto Nile (Land marks of Ancient History)

आगे तो वे यहाँ तक लिखते हैं कि नीलकंठ मिश्र ने जो राज्य स्थापित किया था, उसी भूभाग को मिश्र कहते हैं। स्वयं टाड ने अपने राजस्थान के इतिहास में पृष्ठ-77 पर लिखा है कि यहूदा ने हर पहाड़ी पर एवं पीपल के पेड़ के नीचे बलकेश्वर महादेव और उनके नांदिया (Bull) की मूर्ति स्थापित की थी और हर पूर्णिमा को इस पर धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ाते थे और यज्ञ करते थे।

मूसा ने इसमें अवश्य परिवर्तन किया और मूर्तिपूजा तथा इस नांदिये के सम्मान को समाप्त करने के लिए बैल की बलि की प्रथा चलाई। पुराने अहदनामें में से उद्धरण करके लूक, मत्ती तथा योहन्ना आदि चार सन्तों ने नई बाइबिल प्रस्तुत की।

पुरानी बाइबिल पुस्तक तौरेत का निकास है। तौरेत शब्द (वेद) त्रयी तथा त्रैत-वाद के त्रैत का अपभ्रंश है। तौरेत का संशोधन ही मत्ती आदि विरचित बाइबिल में तथा कुरान में हैं। ह० मुहम्मद ने भी अपने को बाइबिल की पेशीन गोई के अनुसार आया बताया था। कुरान का तो वर्गीकरण भी वेदों की नकल है। मंडल, को मंजल सूक्त को सूरत और श्लोक को आयत कहा है। सारे कुरान को सूरत अर्थात् श्रुति भी कहते हैं। हजरत मुहम्मद से 2400 वर्ष पूर्व अरबी कवि लावी ने कहा था—

अया मुबारकल अर्जेमोशम्ये नूहामिनल हिन्देफाराद
कत्ला हो मैथंयानज्जेला ज़िक्रतुन।
(हे हिन्दुस्तान की जन्म भूमि। तू आदर करने योग्य है क्योंकि तुझ में ईश्वर ने अपने सत्य ज्ञान (वेद) का प्रकाश किया है।)

स्वयं कुरान में वेद का संकेत तीन स्थलों पर स्पष्ट लक्षित होता है :

1. सूरत हम सजदत आयत—43
तलों जअलनाहों कुरआनन, अजाभियान
हा कालू लो ला फुस्सिलत आया तोहूँ
आजाभियुं व अराबियुव
[यदि हम अजमी भाषा (संस्कृत) में तुम पर कुरान उतारते तो तुम कहते

हम तो अरबी भाषा-भाषी हैं। और कुरान अजमी में क्यों ?]

2. सूरत मरियम

फाइन्नामा यस्सारनाहू बिलिसानति।
लि तु बशिरा बिहित मुताकीना।
(सो हमने आसान किया तेरी भाषा में कि तु (मुहम्मद) ईश्वर का भय मानने वाले लोगों को खुदा का शुभ संदेश सुना सके।)

3. सूरत जरबरफ।

'अल कुरान रोशन करने वाली है। इसको अरबी में इसलिए बनाया कि तुम्हारी समझ में आवे। वस्तुतः यह सब एम्मुल किताब में लिखा है जो हमारे पास है और जिसमें हिकमत की चीजें हैं।' इस प्रकार सारे मध्येशिया में जो कानून और राजनीतिक तंत्र है उसका स्रोत तो कुरान है, पर कुरान का स्रोत वह उम्मुल किताब है।

यह मत हमारा ही नहीं है। अपनी पुस्तक में कोलब्रुक ने जो मत स्थापित किया है वह यों है :

There is very little of light, thought and inspiration in Christianity which canot be traced to one or other successive influences of Hindu ideas, either to Hinduised hellonism of Pythogoras and Plato, the hinduised Maz de ism of Guostics, to the hinduised Judaism of kabalista, to the hindu ised Mohammadanism of Moorish philosphies, to say nothing of the hinduised socinianism of new England and trascendentalists.

'ईसाई चिन्तन में ऐसा कोई भी तो विचार नहीं है जिसका मूल स्रोत एक न एक हिन्दू तत्त्व-दर्शन न कहा जा सके। चाहे पेथोगोरस और प्लेटो की हिन्दू, प्रभावित हीलिनिज्म हो, चाहे गुरटोक का मज्दा दर्शन हो, चाहे कविलिस्ट का यहूदा दर्शन हो, चाहे मूरों का हिन्दुत्व से भरा इस्लामी चिन्तन और चाहे इंग्लैंड का हिन्दुत्त्व पूर्ण सोसनियन-चिन्तन या आत्मनिष्ठता-सभी के सब आदि के हिन्दू चिन्तन से प्रभावित हैं।' इस आध्यात्मिक चिन्तन के अतिरिक्त कुछ और तथ्य भी हैं जो वैदिक संस्कृत के आर्यों द्वारा विस्तारित किये जाने के साक्षी हैं। संसार की श्रेष्ठ भाषायें ईरान, अरब, केल्टिक, गैथिक, फ्रान्स, ग्रीस, ब्रिटेन और स्कन्डेनेविया में बोली जाती हैं। उनके व्याकरण, क्रिया-रूप तथा शब्द-निर्माण का क्रम, वैदिक संस्कृति से लिया गया है। अतएव उन्हें कहते ही हैं आर्य-भाषा का समूह।

इसके अतिरिक्त वेद-प्रसूत परिवार-प्रणाली, स्वजनों को प्रयुक्त शब्द, विरासत के कानून सबका आदि स्रोत वैदिक चिन्तन है और यह पश्चिम में यूरोप के अन्तिम छोर और पूर्व में जावा सुमात्रा तक वैसे ही दिखते हैं जैसे आर्य पुरुषों ने भारत में स्थापित किये थे।

निष्कर्ष

घटनाओं के तारतम्य को अब्बे डूबस (Abbe Dubous) ने निम्न प्रकार प्रकट किया है :

> India is world's Cradle, thence it is that common mother is sending her children to the utmost west. It has testimony of our origin, whence inspired Hebrew Greek and Roman law and economic regulations.

(भारत विश्व का जन्म झूला है। यह आदि माता है जो कि अपने पुत्रों को सभी देश में भेजती रही है, चाहे वे पश्चिम की अनन्त सीमा पर ही स्थित हों। इसी बात से अविकल सिद्ध है कि हमारा पश्चिम वालों का निकास कहाँ से है। भारत के चिन्तन से ही हैब्रू ग्रीक और रोमन कानून और अर्थ-तन्त्र का विकास हुआ है।)

1.04.03 वैदिक राजदर्शन के पुनः प्रस्तोता दयानन्द (1832-1883)

जब योरूप में उपरोक्त वर्णित वैचारिक ऊहा-पेह मची थी, भारत में केवल एक ही मूल चिन्तक दिखाई देता है। वह है दयानन्द सरस्वती। द्वन्दवाद, व्यक्तिवाद, साम्यवाद, आदर्शवाद, नस्लवाद एवं अतिशय राष्ट्रवाद सभी से अप्रभावित। दयानन्द सरस्वती अंग्रेजी जानते ही नहीं थे परन्तु उन्होंने एक पूर्वापर सम्बद्ध दर्शन और राजदर्शन प्रस्तुत किया और उसका मूल स्रोत बताया वेद को। उन्होंने कहा कि वेद सब सत्य विद्या की पुस्तक है। अन्य विद्वान वेद को केवल यज्ञ-परक अथवा आध्यात्मिक ग्रन्थ ही मानते थे। पर दयानन्द ने उसमें से आध्यात्मिक मान्यता के रूप में तो वेदों के आधार पर आस्तिक सम्प्रदायों में जो महत्तम समावर्तक (Highest Common Factor) निराकार ईश्वर था, वह ले लिया। सम्प्रदायों को परस्पर पृथक् करने वाले साकार या व्यक्ति पूजा का वाद और उसकी पद्धति को उन्होंने नीर क्षीर-विवेक से निकालकर एक शुद्ध तत्त्व की ही उपासना करने का पक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने दर्शन के क्षेत्र में वैज्ञानिक तथ्य के आधार पर वेदानुकूल स्थापित त्रैत-वाद की प्रस्थापना की। ईश्वर जीव और प्रकृति की स्वतन्त्र अनादि सत्ता मानकर उन्होंने लघुत्तम समापवर्तक (Largest Common Multiple) का पथ अपनाया। दयानन्द के त्रैतवाद में अद्वैतवादियों के ब्रह्म, प्रकृति-वादियों की प्रकृति और जीव के अस्तित्व मानने वाले अर्थात् तीनों को एक-दूसरे का पूरक बताया गया है। साथ ही प्रकृति को भोग्य और आनन्दप्रद और सुखद भी उन्होंने घोषित किया। इस शोध में उनके इस दर्शन का विशद विवेचन है।

प्रकृति को भोग्य मानने के कारण उन भोगों के सृजन और वितरण की नीति निर्धारित करना आवश्यक था। मनुष्यों की क्रमशः विवाह, परिवार, गोत्र, वर्ण, जाति, राष्ट्र, संघ, लोक की परिणति की क्रान्ति का स्रोत उन्हें अथर्ववेद के 8वें काण्ड में मिला है। यह त्रिकोणात्मक है। हीगेल के द्वन्द्व से ऊपर है। भारत और विश्व के राजदर्शन का विकास इसी अध्याय में वर्णित क्रम से हुआ है।

1.04.04 राजनैतिक त्रैतवाद

मनुष्य समाज में शासकीय प्रवृति का क्रान्ति द्वारा अवश्यम्भावी क्रमिक विकास अथर्ववेद काण्ड 8 सूक्त 10 में यों वर्णित है ।

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदिय-
मेवेदं भविष्यतीति । 1 ।
सोदक्रामत्सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् । 2 ।
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद । 3 ।
सोदक्रामत्साहवनीयेन्यक्रामत् । 4 ।
यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रिया देवानाम् भवति य एव वेद । ० ।
सोदकामत्सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् । 6 ।
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद । 7 ।
सौदक्रामत्सा सभायां न्यक्रामयत् । 8 ।
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद । 9 ।
सोदक्रामत्सा समितौ न्यक्रामत् । 10 ।
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद । 11 ।
सोदक्रामत्सामन्त्रणे न्यकामत् । 12 ।
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्राणो यो भवति य एवं वेद । 13 ।

(आरम्भ में राजा से विहीन प्रजाशक्ति ही थी या होती है। इस राज-विहीन व्यवस्था को देखकर सब भयभीत हुए या होते हैं कि क्या यही अवस्था बनी रहेगी । तब प्रजा में क्रांति हुई या होती है और उसकी शक्ति (Sovereignty) में बदल गई या बदल जाती है । कुटुम्ब बने और उनके स्वामी की कल्पना हुई या होती है । 2-3 । क्रमशः प्रजा में फिर क्रान्ति हुई या होती है और यह यज्ञाग्नि में परिणित होती है । जो ऐसा जानता है वह देवों का प्रिय होकर ऐसा जानता है । 4-5 । उसमें फिर क्रान्ति हुई या होती है और वह दक्षिणाग्नि (Proficieney) में परिणित हो जाती है या हुई । जो यह जानता है वह योग्य बनता है । वह, प्रजाशक्ति फिर सभा के रूप में क्रान्ति के माध्यम से सभा बनाकर प्राप्त हुई या होती है। जो यह जानता है वह सभा के योग्य बनता है। 8-9 । तदनन्तर प्रजा में फिर क्रान्ति होती है जो समिति बन कर प्रकट होती है। जो यह जानता है वह समिति के योग्य बनता है । 10-11 । तदनन्तर वह प्रजाशक्ति फिर क्रान्ति को प्राप्त होकर आमन्त्रण (मंत्रिमण्डल पद्धति) मे परिवर्तित होती है। जो यह जानता है वह इस आमन्त्रण पद्धति के योग्य बनता है । 12-13 । इसमें द्वन्द्व के बाद एक त्रिकोण बनता है। तद्न्तर उसका स्थान दूसरा त्रिकोण लेता है । वैराज्य, नियमानुसार परिवार, प्रवर, वर्ण, सभा समिति और आमन्त्रण सबका युग आता है, पूर्व परम्परा अग्रिम से सम्मिलित ही मिली-जुली परम्परा को जन्म देती है। इन मन्त्रों में उतक्रामत् न्यक्रामत् तथा एवं वेद शब्द उभयनिष्ट है ।

उतक्रामत् का अर्थ है क्रान्ति अथवा परिवर्तन द्वारा ऊपर को जाना। अग्रारोहण या ऊर्ध्वारोहण दोनों प्रगति और विकास के द्योतक हैं। इस क्रमशः प्रगति के अन्त तक वाद की स्थापना हो जाती है। इसे ही हम (Thesis) पक्ष की स्थिरता कहेंगे। फिर उस परिवर्तन से पीछे लौटना प्रारम्भ होता है। इन परिवर्तनों के पीछे स्थल पर केन्द्रित हो जाने पर प्रतिवाद (Anti Thesis) की स्थापना होती है। एक स्थल पर यह स्थिर हो जाते हैं। तब दोनों क्रान्तियों के मूलतत्वों का चिन्तक विचार करते हैं और उनके रूप के यथेष्ट संस्करण पर भी ऊहापोह करते हैं। (य एवं वेद)। ज्ञान की प्रक्रिया से ही समाज के दोनों रूपों को जानकर जो इनको मिलाता है वह अपने को और समाज को नये परिवर्तन के श्रेष्ठांशों के योग्य बनाता है। सम्वाद स्थिति में वाद और प्रतिवाद का तर्क सिद्ध श्रेष्ठांश जिन्दा रहता है। बदलकर सर्वांश में नई स्थिति का सृजन नहीं होता है और न पूर्व स्थिति ही वापिस आती है। यह स्थिति त्रिकोण रूप में इस समुल्लास के अन्त में दर्शाई गई है।

यस्तर्केणानुसन्धते सधर्म वेद नेतरः ।। मनुस्मृति का उद्धरण ।।

(जो तर्क की सहायता से अन्वेषण करता है, वही धर्म को जानता है, उससे अन्य कोई धर्म नहीं है।)

यास्क ने भी तर्क को ऋषि कहा है। जब ऋषि दिवंगत हो गये तो मनुष्यों ने प्रभु से पूछा अब हमारा ऋषि कौन होगा ? उत्तर मिला। उत्क्रमण के बाद तर्क ही तुम्हारा ऋषि होगा :

ऋषिषूत्क्रामत्सु मनुष्या देवानपृच्छन् !
को व ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्यः तर्कं ऋषिं प्रायच्छन्।

यह परिवर्तन पथ देशकाल से अबाधित है। सृष्टि के आदि-ग्रन्थ में इनका वर्णन तब नहीं हुआ जब इन अनुभवों में से भारतीय इतिहास गुजर चुका था। वेद तो सृष्टि के प्रारम्भ में जन-मानस के पथ प्रदर्शनार्थ प्रगट किए गये थे। वे सृष्टि का विधान थे। यह स्वयंसिद्ध है कि न केवल भारत में वरन विश्व-भर में इतिहास इसी रूप में घटित हुआ। इसके व्यवधान (Exceptions) भी हैं, पर वे मूल प्रस्थापना को सिद्ध करने हेतु प्रयुक्त (Exception prove the Rules) हैं। वे चेतावनी देते हैं कि पाथेय किधर है। उससे विमुख न हुआ जावे। इस शोध में भारत को इंगित करके इस साधारण प्रतिज्ञा को ही हम सिद्ध करेंगे।

इसका मूल विचार अन्यत्र वर्णित है :

यां मंधां देवगणाः पितरश्चोपासते
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं
कुरु स्वाहा।
मेधाम्मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापति : मेधामिद्रश्च
वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा। यजु० 32/14-15)

जिस मेधा (संस्कृति को) हमारे पूर्वजों और विद्वानों ने स्थापित किया था,

अद्य अपनी पीढ़ी में) ही हम विकसित करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करते हैं।

वरुण, अग्नि, इन्द्र वायु आदि सारे पार्थिव पदार्थों का वैज्ञानिक उपयोग तथा प्रजापति (राजा) के सुशासन का सारा उपयोग उस मेधा को सुस्थिर करने के ही लिए हो।

क्रान्ति प्रकरण में वेद (ज्ञान) शब्द है। फल के स्वरूप में मेधा अर्थात् ज्ञान-जन्य संस्कृति है।

दूसरी परिणति (State and Territory)

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सभा (Direct Democracy) समिति (Oligarchy) आमंत्रण (Govt by मन्त्रणा) की स्थिति ही राज्यशक्ति में परिवर्तित हो गई और उन्होंने अपना एक सभापति निर्दिष्ट कर लिया। उसे राजा कहने लगे (या लगते हैं)। यह वाद है। वाद की सुस्थिरता राजा द्वारा समुदाय की आवश्यकताओं का स्थाई और सुलभ प्रबन्ध करना होता है। फिर राजा के द्वारा सेना के माध्यम से स्वेच्छाचारिता सम्भाव्य होती है, जो प्रतिवाद है। अनन्तर समन्वय के रूप में राजा अपने निर्माण में सहायता देने वाली सभा और समिति और सेना तीनों के समन्वय से आदर्श राज्य व्यवस्था की स्थापना करता है। यह अगला द्वन्द्वात्मक त्रिभुज है।

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽ जायत ॥ अथर्व 15-8-1

(सः) वह (अरज्यत) प्रेम करने लगा, रंजन करने लगा, (ततः) इसलिए (राजस्यः) राजा (अजायत) बन गया।

जो लोगों का रंजन, जनता के ऊपर प्रेम करता है वह राजा होता है।

सविशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठित् ॥ 2 ॥

विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्यच प्रियं धाम भवति यं एवं वेद ॥ 3 ॥

वह (सबन्धून विशः) बन्धुजनों सहित प्रजाओं के प्रति अन्न (अन्नार्थ) खाद्य-पेयादि का (अभिउदतिष्ठत्) प्रबन्ध करता रहा। इसलिए बांधवों सहित सब प्रजाओं के अन्न तथा खाद्यपेयादि का उत्पादन जन्मभूमि में कराता रहा। जो यह जानता है वह भी वैसा होता है।

चरम परिणति : समाज की 8वीं उत्क्रान्ति और 9वीं स्थिति—किसी समाज के परिवार के रूप में गृहपति के अनुशासन में अनुबन्धित होने से प्रारम्भ होकर एक भौगोलिक सीमा में परिवेष्टित होकर मातृभूमि की निष्ठापूरक पद्धति के निर्माण तक आते-आते, उसमें हर बार पुरानी और नई पद्धति मिलकर (अर्थात् हर पद्धति के आवश्यक अंग का संरक्षण और अनावश्यक अंग का विसर्जन करते हुए)—एक स्थिति आती है जब उन सबके रस निचोड़ से एक मिश्रित पदार्थ बनता है जो उस जाति का समुच्चय होता है। इसका निर्माण शताब्दियों की परम्परा से होता है। यही उसका अपना स्वत्व है, उसकी उपलब्धि हैं, गौरवपूर्ण थाती हैं। जाति अपनी

श्रेष्ठ विरासत में से किसी वस्तु को छोड़ने को तैयार नहीं होती। उस अवस्था का वर्णन यों है :

स विशोऽनु व्यचलत् ॥ 1 ॥
तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्
सभायाश्चसवै समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥3॥

[अथर्व वेद काण्ड 15 सूक्त 9]

राज्यशक्ति का प्रतीक राजा (विश:) प्रजा के (अनु) अनुकूल (व्यचलत) आचरण करता हो। उसके लिए सभा समिति सेना और ऐतिहासिक (सुरी) महापुरुषों की गौरव गाथा में आस्था, इस प्रकार जो जानता है वह सभा, समिति, सेना (राज्यशक्ति) संस्कृति और जन्मभूमि-प्रेम को जानकर इनसे उत्पन्न ओज को जानता है। अब उत्क्रमन या निष्क्रमन न होकर व्यचलन है। लगातार चलके एक मंजिल पर पहुँचे कि सब क्रान्तियों में कालक्रम से जो कुछ प्राप्त किया था, उसका अनुरक्षण किया जावे। इन सब की रासायनिक क्रिया से जो उत्पन्न हुआ फल है वह संरक्षणीय है। इसके बाद निष्क्रमन (Anti Thesis) प्रतिवाद नहीं होगा। क्योंकि सब उपलब्धियाँ परीक्षित हो गई। वे दैनंदिन में जीवन का अंग बन जायेंगी। तब मनीषी मन्त्रणा करते हैं कि अब क्या किया जावे ?

राष्ट्र की स्थापना :

भद्रमिच्छन्त ऋषय: स्वर्विदस्तपा दीक्षां उपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

अथर्व वेद—(19-41-1)

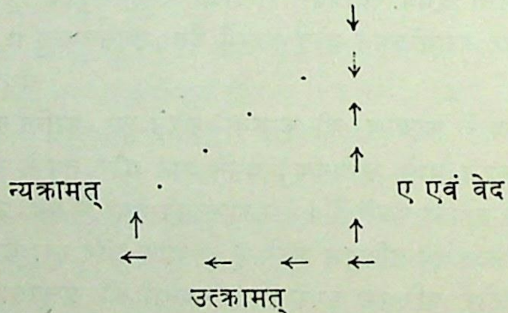
—समाज के कल्याण की कामना करते हुए क्रान्ति दर्शी (अर्थात् आगे की चिन्ता करने वाले ऋषिगण) अपने ज्ञान और तप से राष्ट्र-बल और राष्ट्र-ओज को उत्पन्न करते हैं। उस राष्ट्र की सेवा में सब उपस्थित-कटिबद्ध रहें।

देशों के नेता तब परिश्रम करते हैं। शोध और स्वाध्याय कराते हैं। उनके साथ प्रजाजन कठोर परिश्रम करके भोग पदार्थों की प्रचुरता उपस्थित करते हैं। उनके पालक अपनी भूमि की रक्षा के लिए सैन्य निर्माण करते हैं। बस राष्ट्र की स्थिति आ जाती है। राष्ट्र (Nation) का जन्म होता है, और सब उस राष्ट्र की सेवा में उपस्थित रहते हैं।

इसके निर्माण में सारे गृहपति, सारे प्रवर-पति, सब पेशेवर वर्णों के संघ, सब जातियों के संस्थान और भौगोलिक सीमा के अन्दर रहने वाले सब निवासी-उद्योग करते हैं, और इसका उद्देश्य होता है सबका कल्याण (भद्रं)।

जन-मानस को राष्ट्र की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाने हेतु कटिबद्ध रहना चाहिए। और यदि कोई, राष्ट्र परतन्त्र है तो स्वतन्त्रता उसका जन्मसिद्ध अधिकार होने से 'यतीमहे स्वराज्ये' अर्थात् स्वराज्य के लिए हर सम्भव प्रयत्न करने की अनुज्ञा है।

राज्य की स्थापना और उसके स्थिरीकरण से राष्ट्र बनता है। राष्ट्र में नियम-परिवार जातीय संस्कृति-वर्ण-सभा-समिति-आमन्त्रण-राजा-राज्यशक्ति के बारे में उस भूमि (भौगोलिक प्रदेश) की सारी विरासत का समीकरण होता है। राष्ट्र से लोक अन्तिम श्रेणी है। पर लोक विस्तार केवल संस्कृति के विस्तार के लिए होता है। इस हेतु चक्रवर्तित्त्व अवश्यम्भावी है। पर वह चलता फिरता होगा। कभी किसी राष्ट्र का कभी किसी का। उसका निर्णय सहमति अथवा बल दोनों से हो सकता है। दयानन्द आर्यों के चक्रवर्तीत्व की कामना करते हैं। इस शोध के पूर्वार्ध के पार्श्व अंश में दयानन्द द्वारा प्रस्तुतः इस राजदर्शन की चर्चा है। ऋषियों की परम्परा में उत्पन्न इस आर्य-पुत्र ने इस दर्शन पर आधारित समाज-निर्माण करने के लिए एक राजनैतिक पार्टी भी बनाई। जिसका नाम आर्य समाज रखा। आर्य-भाषा में इस दर्शन को प्रस्तुत करके आर्यावर्त को उसका पूर्व निश्चित पथ दर्शाया कि जिसके माध्यम से भारत का शासन-विधान बने और उसकी सत्यता के आधार और अनुभव पर सारे विश्व को आर्य मर्यादा में लाया जा सके। राजनैतिक योजना बनाते-बनाते उनका स्वर्गवास हो गया। दुर्भाग्य से अभी तक उनकी पार्टी में लेनिन, स्टेलिन-वत नर-पुत्र नहीं निकल पाया जो त्रैत-दर्शन के आधार पर बुद्धिबल या सैन्यबल से तदनुरूप स्थाई विधान बनाकर भारत में उसे लागू करता। पर तत्सम्बन्धी सम्भावनाएँ बनी हुई हैं। यही इस शोध के उत्तरार्द्ध का विषय है।



2

वैदिक दर्शन की मनुष्य सम्बन्धी मान्यता

2.01. मनुष्य क्या है ?

राजनीति-दर्शन और राज्य मनुष्य की सुख-सुविधा और शान्ति का प्रबन्ध करते हैं। परन्तु मनुष्य है क्या ? इसे समझने के लिए दर्शन-शास्त्र की ओर जाना पड़ेगा। आइये हम पहले यह सोचें कि मनुष्य क्या नहीं है।

2.01 मनुष्य क्या नहीं है ?

1. यह भौतिक पदार्थों से बना शरीर ही नहीं है, क्योंकि मृत शरीर और जीवित शरीर में वे सारे तत्त्व उसी परिमाण में मौजूद होते हैं।
2. मनुष्य कर्मेन्द्रियों का समूह मात्र भी नहीं है, क्योंकि स्वप्न में वे भी काम नहीं करतीं, यद्यपि मनुष्य जीवित होता है।
3. मनुष्य ज्ञानेन्द्रिय (आँख, कान, नाक, जिह्वादि) भी नहीं है, क्योंकि गाढ़ निद्रा में जब स्वप्न नहीं देखता, यह इन्द्रियाँ कार्य नहीं करती हैं, पर मनुष्य तो भी जीवित होता है।
4. मनुष्य मन, बुद्धि, चित्त या अहंकार भी नहीं है, क्योंकि बेहोशी अथवा तुरीय-व्यवस्था में यह कार्य नहीं करते, पर मनुष्य तो भी जीवित होता है।
5. तत्त्वों में एकत्रित होने पर उत्पन्न विशेष चेतना मात्र भी मनुष्य नहीं है, क्योंकि लाश में वे सब तत्त्व होते ही हैं। फिर जिन तत्त्वों में अपनी चेतना नहीं है, उनमें मिलकर भी चेतना नहीं आ सकती। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।
6. मनुष्य जो जन्म के समय था, वही वर्षों बाद भी रहता है, यद्यपि बचपन में

शरीर के जो कोष थे वे सब बदल जाते हैं। वह बदलने वाला (क्षणिक) नहीं है। इस सबमें निहित एक-रस तत्त्व है।

7. मनुष्य इस योनि में धँसा-फँसा ऐसा व्यक्तित्व नहीं है, जो केवल फल भोग रहा है। क्योंकि वह अपनी स्वतन्त्र स्वेच्छा से अनेक कार्य कर सकता है और उन्नति का इच्छुक है।
8. मनुष्य ब्रह्म का अंश नहीं है क्योंकि अंश में पूर्ण के गुण रहते हैं और वह ईश्वर की भाँति पूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान या निरवयव नहीं है।
9. मनुष्य कुछ नहीं है, ऐसा भी नहीं है। यदि ऐसा होता तो सब विश्व-व्यापार निरर्थक हो जाता।
10. मनुष्य गुप्त चेतना मात्र भी नहीं है क्योंकि चेतना कभी गुप्त नहीं हो सकती।
11. मनुष्य माता-पिता से उत्पादित नहीं है। माता तो गर्भ में जानती भी नहीं है कि क्या बन रहा है। न ही माता-पिता के सब गुण सन्तान में आते हैं। एक ही माता-पिता की विभिन्न संतानों के गुण अलग-अलग होते हैं। माता के गर्भ में परिश्रमी जीव वीर्य और अन्न के साथ आकर मनुष्य का निर्माण करता है। अधिकारी जीव के रूप में तो गर्भ के 7वें मास में ही आत्मा उसमें प्रवेश करती है।

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥
(अथर्व वेद/काण्ड 5/सूक्त-25-मंत्र 5)

(विष्णु ही—गर्भाशय में क्या होगा—इसकी परिकल्पना करके योजना बनाता है। यह धाता प्रजापति ही गर्भ को सब प्रकार से सींचता है।

2.02 मनुष्य का अस्तित्व

1. मनुष्य सोचता है, इसलिए अवश्य है।
2. ऐसा बुद्धि से परे है कि कोई मनुष्य या मैं कभी नहीं होऊँगा। मुझमें सदा रहने की आशा है। अतः मैं अमर हूँ। आशा का धर्म ही है अमरता।
3. इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान होता है, उसका प्राप्तकर्ता मनुष्य का आत्मा है। इन्द्रियाँ स्वयं तो जड़ हैं। जो शरीर का अधीक्षक आत्मा है वही इन इन्द्रियों से कार्य लेता है।

एषहि द्रष्टा स्पृष्टा घ्रोता रसयिता भ्राता मन्ता।
बोद्धा कर्ता। विज्ञानात्मा पुरुषः॥ प्रश्नोपनिषद् 4/9॥

4. मनुष्य कोई नैतिक कार्य कर सकता है, उसे करने से इन्कार कर सकता है, और उसका उलटा भी कर सकता है।
5. इस प्रकार कर्म करने में मनुष्य स्वतन्त्र है और कर्मों का संचय करता है।
6. कुछेक कर्म इच्छा न होते हुए भी उसे करने पड़ते हैं और उसके कुछेक उद्यम

परिश्रम-साध्य होते हुए भी असफल रहते हैं। अस्तु मनुष्य आत्मा या जीव + शरीर है।

2.03 जीव के लिंग = चिह्न

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख-दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगम् ॥वैशेषिक दर्शन 3/2/4 ॥

1. मनुष्य में इच्छायें हैं।
2. उनके पूरे करने का प्रयत्न करता है।
3. उसे दूसरों की उन्नति देख द्वेष होता है।
4. वह प्रयत्नों में सफल होने पर सुखी होता है।
5. वह प्रयत्नों में असफल होने पर दुखी होता है।
6. ज्ञान प्राप्त करने की सतत लालसा उसमें है।
7. उसमें सतत श्वासोच्छवास की प्रक्रिया है जो अनैच्छिक है। पर उसका बाहर निकालना उसी की इच्छा से है।
8. सतत पलक मारने की क्रिया—भीतरी भाग को छूने पर फड़फड़ाहट—भीतरी स्वामी की आज्ञा से होती है।
9. मनोगत विचार-शृंखला के सदा बने रहने का अविकल रूप।
10. एक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान को दूसरी इन्द्रिय द्वारा क्रिया-शीलता में बदलने का उद्यम जारी रहता है।
11. शरीर की क्षति-पूर्ति, घाव का भर जाना। ज्वर का उतर जाना। इसकी शक्ति किसी और से है।

कुछेक आधुनिक शरीरशास्त्र-विशारदों का मत है कि चेतना का स्रोत मस्तिष्क है। मस्तिष्क में भूरे, सफेद व काले रंगों की ग्रन्थियाँ होती हैं जो क्रोध, प्रेम या कामवासना जागृत करती हैं। परन्तु यह सब तो पार्थिव पदार्थ हैं; इनमें ज्ञान और चेतनता कहाँ से आ सकती है ? फिर निम्न भावों के लिए प्रेरणा तरंगों और उनकी केन्द्रीय थैली का अस्तित्व अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

1. गणित का प्रश्न हल करने की युक्ति-दर्शक।
2. ईश्वर भक्ति और तन्मयता सृजक।
3. सुन्दरता निरूपक।
4. अनुमान उपमान या अर्थापत्ति से निष्कर्ष निकालने वाली प्रवृत्ति।
5. सब मानसिक विचार जो परिवर्तन से पहले होते हैं।

अन्तःकरण (Mind) और मस्तिष्क (Brain) भी पृथक्-पृथक् हैं। यह अपना कार्य समानान्तर भी नहीं करते हैं। न ही हर विचार के लिए एक पृथक् तरंग हृदय में हो सकती है। इसी प्रकार विभिन्न इन्द्रियाँ वात-संस्थान द्वारा मस्तिष्क केन्द्र में सूचना भेजती हैं। उससे भूरे और काले रंग की थैलियों में लहर उठती है। पर एक थैली का ज्ञान दूसरी में कैसे जाता है ? सिर पर वार होता है। नेत्र यह आक्रमण

मस्तिष्क को बता देते हैं। तुरन्त रक्षार्थ दोनों हाथ उठ जाते हैं। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान की समन्वय—कर्ता यह थैलियाँ नहीं है। कोई और है। फिर स्मृति, कल्पना तथा स्वप्न तो किसी नस, नाड़ी और थैली के विकार नहीं है। यह सब किसे होता है ? मन भी इस समन्वय का कर्ता नहीं है, क्योंकि उसमें तो एक समय में एक ही विचार रह सकता है।

युगपद्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिंगम् ।।न्याय दर्शन।। 1/1/16

इसी प्रकार दो आँखों से देखा ज्ञान एक जगह कहीं समन्वित होना चाहिए। यह भी देखा गया है कि प्रबल मानसिक विचार मन और इन्द्रियों को रोक सकते हैं।

अस्तु, इस समन्वयन की क्रिया का अधिष्ठाता इस पार्थिव शरीर का कोई अंग नहीं है। कोई पृथक् अधिष्ठाता अवश्य है। वही जीव है। उसी के चिह्न व गुण ऊपर वर्णित कर दिये हैं।

2.04 हर मनुष्य का पृथक् व्यक्तित्व

उपरोक्त निरीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि हरेक व्यक्ति का पृथक् व्यक्तित्व है। हरेक जीव पृथक् है। दूसरे जीव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने-अपने कर्म से हर जीव के पृथक् स्वभाव और संस्कार निर्मित हुए हैं। अतः हरेक व्यक्ति की रुझान, नैतिक सोपान में स्थिति, ज्ञानार्जन में रुचि और क्षमता तथा उसकी पसन्द अलग-अलग हैं। किसकी कौन सी आकांक्षायें सन्तुष्ट हैं तथा कितनी शेष हैं, उसी के अनुसार उसमें संसार से तन्मयता या विरक्ति का परिणाम पृथक्-पृथक् होता है। ज्ञान के किस विषय में वह पारंगत है और किसमें निरक्षर-भट्टाचार्य, यह स्थिति भी प्रत्येक की पृथक्-पृथक् है। पर हर मनुष्य में कुछ न कुछ गुण अवश्य हैं। दूसरी ओर कोई भी मनुष्य न तो पूर्ण ज्ञानी और न कोई एक मनुष्य सदा-सर्वदा के लिए अनुकरणीय आदर्श हो सकता है। सभी अतृप्त इच्छाओं वाले हैं और तृप्ति हेतु प्रयत्नशील हैं।

2.05 आत्मा की स्थिति

द्वैत-दर्शन के प्रणेता माध्वाचार्य जी ने जीवों की स्थितियें यों बताई थो :

1. वे जो स्थूल शरीरों में है, पर मुक्त होने के अधिकारी हैं।
2. जो सदा एक जीवन से दूसरे में जाते रहेंगे और मुक्त होने के अधिकारी नहीं है।
3. जो सदा सर्वदा के लिए नारकीय योनियों में हैं और जिनके उद्धार की कोई आशा नहीं है।

पर त्रैतदर्शन के प्रस्तोता दयानन्द सरस्वती ने इस बात से इन्कार किया कि ऐसे भी जीव हैं जो सदा नारकीय जीवन में रहेंगे अथवा सदा के लिए मुक्ति की अवस्था में रहेंगे। क्योंकि कैवल्य-पद सीमित कर्म से मिला है, अतः उसका असीमित

फल नहीं हो सकता। सीमित फल भोगकर फिर इसी संसार में आना होता है।

2.06 मनुष्य के अधिकार

1. हर व्यक्ति का अधिकार है कि वह बुद्धि पूर्वक अपने गन्तव्य का निश्चय करे। प्रत्येक हितकारी कार्य करने में वह स्वतन्त्र है, पर चूँकि समाज में ऐसे ही अधिकार वाले अन्य व्यक्तियों के साथ उसे रहना है, अतः यह उसका कर्तव्य है कि सामाजिक सर्वहितकारी नियमों के पालने में वह परतन्त्र रहे।
—(आर्य समाज का 10वाँ नियम)।
2. हर व्यक्ति का अधिकार है कि अपनी शारीरिक, सामाजिक व आत्मिक उन्नति करे पर यह उसका कर्तव्य है कि वह सदा परोपकार में लगा रहे ताकि अन्य जीवों का, चाहे वे मनुष्य योनि में हों, चाहे वे पशु योनि में—सबका मंगल साधन हो। —(आर्य समाज का 8वाँ नियम)
3. विद्या के प्राप्त करने का सबको अधिकार है, अतः सबका यह कर्तव्य है कि विद्या की वृद्धि और अविद्या के नाश में सदैव बद्ध-परिकर रहें। (आर्य समाज का 9वाँ नियम)।
4. सब जीव प्रभु के साम्राज्य की प्रजा हैं। अतः नागरिक रूप से सब बराबर हैं। हर जीव का अधिकार है कि दूसरे से बराबरी का व्यवहार पावे। इसीलिए हरेक का कर्तव्य है कि दूसरे से प्रीतिपूर्वक वर्ते। परन्तु उनकी अधार्मिक वृत्तियों का समर्थन न हो—धर्मानुसार ही सहयोग हो। यह व्यवहार भी यथायोग्य होना चाहिए। बिना हेतु किसी पर न अनुग्रह करना चाहिए न कोप।—(आर्य समाज का 7वाँ नियम)
5. हर व्यक्ति को 100 वर्ष या उससे अधिक भी जीवित रहने का अधिकार है, पर उसका कर्तव्य है कि यावज्जीवन कर्म (Labour) करता रहे। किसी एक कर्म में न चिपक जावे, यथावश्यकता पर पेशे को बदलने को भी तैयार रहे।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
—(यजुर्वेद 40/2)।

2.07 मनुष्य के कर्तव्य

पाँच ऋणों के रूप में ही कर्तव्यों का वर्णन वैदिक पद्धति में है—
शतपथ ब्राह्मण में मनुष्य के ऋण वाली बात यों वर्णित है—

ऋणं ह वै जायते योस्ति। स जायमान एव।
देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्यभ्यः॥
—(श० ब्रा०1 /7/2/1)

प्रत्येक मनुष्य भोजन, वस्त्र, औषधि आदि अपने कल्याण और जीवन की स्थिति बनाये रखने के लिए अन्यों का मुहताज होता है। इसीलिए वह उनका ऋणी है। उस ऋण से उऋण होने के लिए प्रत्येक दूसरे मनुष्य को मनुष्य की सहायता करते रहना चाहिए। यह उऋणता, धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष प्राप्त कराती है। पहला पितृ-ऋण है। इस ऋण को चुकाने का अर्थ है कि तुम्हें पिता से शरीर प्राप्त हुआ है, तुम भी एक शरीर बनाकर छोड़ जाओ ताकि जगत की स्थिति रहे। इस सन्तान को अपने से योग्य बनाना चाहिए।

दूसरा ऋण देवों का है, और उसे उतारने से तात्पर्य है कि प्रकृति से हम जल, वायु, अग्नि तथा भोजन के रूप में कार्बन और नाइट्रोजन शुद्ध रूप में लेते हैं पर दूषित करके वापिस करते हैं। अतः प्रकृति को शुद्ध रखने हेतु श्रम करना अभीष्ट है। अग्निहोत्र इसका श्रेष्ठतम साधन है।

तीसरा ऋषि-ऋण है और उससे उऋण होने का अभिप्राय है अज्ञान को मिटाकर ज्ञान का प्रसार करना। चौथा ऋण मनुष्यों के समूह अर्थात समाज का है। समाज को बदले में उचित मुआविजा देते रहना चाहिए।

पाँचवाँ ऋण प्रभु का है, जिसके अनन्त उपकार हैं। अतः प्रभु की आज्ञा पालन और उससे मिलने की इच्छा सदैव हृदय में बनाये रखना चाहिए। प्रभु की सृष्टि का संरक्षण और सम्वर्धन करना चाहिए, उच्छेद नहीं।

2.08 मनुष्यों की समानता

1. ईश्वर पिता और पृथिवी माता के पुत्र होने से सब मनुष्य बराबर हैं। यह भाव निम्न मन्त्र से परिलक्षित होता है।

   अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम्भ्रातर वावृधुः सौभगाय
   युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुदभ्यः।

   (ऋग्वेद 5/60/5)

   [सब मनुष्य (बिना लिहाज रंग, जाति और नस्ल के) भाई-भाई है। उनमें कोई छोटा, कोई बड़ा नहीं है। वे सब मिलकर सौभाग्य की वृद्धि के लिए उन्नतशील हों। उन सबका एक ही पिता परमेश्वर है। (जो शक्ति सम्पन्न, सर्वरक्षक और सबको मर्यादा में रखने वाला है)। और उन सबकी एक ही माता धन-धान्य देनी वाली यह पृथिवी है।]
2. प्रत्येक जीव में ईश्वरीय शक्ति होने से सब बराबर हैं। जो सम्पूर्ण जीवों को ईश्वर में और ईश्वर में सब जीवों को देखता है वह निंदित कर्म नहीं करता।
3. ईश्वरीय ज्ञान-ज्योति अर्थात् विद्या प्राप्त करने का सबको बराबर अधिकार है।
4. ईश्वर की सृष्टि में जो कुछ भी भोग पदार्थ हैं, अथवा प्राप्त किये जा सकते हैं, उन्हें स्व-स्वश्रम से प्राप्त करने का अधिकार हर मनुष्य को है, बशर्ते वह

समाज को उसके बदले में उतना ही भोग प्रत्यावर्तन में दे। जैसा कि यजुर्वेद (40/1) में कहा है—

ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्याम् जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधःकस्य स्विद्धनम् ।।

(जो कुछ इस जगत में भोग्य है, सब ईश्वर से परिवेष्टित है। उसका भोग करके, बदले में उतना ही जगत को दो। दूसरे के श्रम से अर्जित भोगों पर गृद्ध-दृष्टि न रखो।) अर्थात् पुरुषार्थ का अवसर पाने और कार्मिक जीवन व्यतीत करने में सब बराबर हैं।

5. न्याय के लिए न्याय-कर्त्ता के सम्मुख सब बराबर हैं।

(2.09) मनुष्य की असमानता

समानता की लहरों से व्याप्त वातावरण में असमानता की बात अजीब-सी लगती है। पर विश्व में और मुख्यतया योरुप में नस्लों और जातियों में असाम्य की बात डंके की चोट कही गई है। श्वेत, यहूदी, अरब जातियों के पृथक् राष्ट्र बने हैं और हर नस्ल अपने को श्रेष्ठतम बताकर असाम्य का ढिढोरा पीटती हैं। उन्हीं को दोष क्यों दें।

विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने सम्प्रदाय वाले अनुयायियों की मुक्ति सुलभ करके, राष्ट्रवादियों ने अपने-अपने राष्ट्रों की प्रशंसा और युगान्तरकारी काल्पनिक विश्व संस्कृति में योगदान की महती धारणा विस्तृत करके, साम्यवादियों ने मजदूर-वर्ग की ही श्रेष्ठता और ऐतिहासिक युग-प्रवाह में उसकी अनिवार्यता का प्रचुर प्रोपेगेन्डा करके जो विश्व-चिन्तन में पृष्ठ जोड़े हैं, वे जातीय-वैषम्य की डिमडिम से भिन्न नहीं है। उसी मणिका की कड़ियाँ हैं। वैषम्य मानवीय चिन्तन की उभयनिष्ठ इकाई है। पर हम निम्न 5 असमानताओं को कह देने में संकोच नहीं करेंगे—

1. जन्म-जन्मान्तरों के कृत कर्मों के संस्कारों के कारण हर मनुष्य की बुद्धि-ग्राह्यता, प्रकृति, महत्त्वाकांक्षा, स्वास्थ्य एवं परोपकार-वृत्ति असमान है। जब सत-रज-तम सब में समान हो जाते हैं, तब वह स्थिति तो प्रलय की होती है। सांख्यकार कपिल ने स्पष्ट कहा है कि जब उस साम्यावस्था में व्यवधान होता है, तभीसृष्टि प्रगट होती है, और चलती रहती है।
2. मनुष्यों के जीवन की आयु असमान है।
3. श्रमानुकूल होने से भोगों की प्राप्ति असमान है, क्योंकि प्रत्येक के श्रम का परिमाण असमान है।
4. मनुष्यों में विद्या-ग्रहण की क्षमता असमान है।
5. कर्म करने में स्वतन्त्र होने से हर जीव की अभिरुचि, कर्म और पुरुषार्थ की इच्छा असमान है।

यह भाव वेद में यों अनुप्राणित है—

समौचिद्धस्तौन समं विविष्ट
सम्मातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि,
ज्ञातो चित्सन्तो नं समं पृणीतः ।। (ऋग्वेद 10-117-9)

(मनुष्यों के दोनों हाथ बराबर शक्ति वाले नहीं होते । एक गाय की ही दो बछियायें बराबर दूध देने वाली नहीं होती । एक माता के दो पुत्र जो एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, बराबर शक्ति वाले नहीं होते । और एक समाज में एक ही स्तर के दो व्यक्ति बराबर दान नहीं देते ।)

(2.10) मनुष्यों के बीच अनिवार्य कानूनों का पंचक

वैदिक वाङ्मय में 5 अनिवार्य नियम कहे हैं, जिनके अनुसार व्यवहार कराने को मनुष्यों को बाध्य करना राज्य का धर्म कहा है। योग दर्शन (1-2-30) में इनकी संज्ञा यम कही है ।

"अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमः ।।"

इनमें से हरेक पर दयानन्द सरस्वती का विलक्षण भाष्य हम यहाँ उद्धृत करते हैं जो कि उन्होंने अपनी पुस्तक व्यवहारभानु में कहा है ।

1. **अहिंसा :** प्रथम अहिंसा अर्थात् सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से बर्तना । जब अहिंसाधर्म का निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैर-भाव छूट जाता है, किन्तु उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैर-भाव छूट जाता है ।

2. **सत्य :**

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च बचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ।
(ऋग-7-104/12)

दूसरा अर्थात् जैसे अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने । सत्याचरण का ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करता है, तब वह जो योग्य काम करता है और करना चाहता है, वे सब सफल हो जाते हैं ।

3. **अस्तेय :** अस्तेय अर्थात् पदार्थ वाले की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसे चोरी-त्याग कहते हैं । अशास्त्रपूर्वक (Illegaly) दूसरे के धन का स्वीकार करना या उसमें लालसा करना स्तेय है। चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के बिना अधर्म से उसकी चीज को कपट से या छिपाकर ले लेना ।

चोरी त्याग से यह बात होती है कि अस्तेय अर्थात् जब मनुष्य अपने युद्ध मन से चोरी छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सब उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं ।

4. **ब्रह्मचर्य** : चौथा ब्रह्मचर्य अर्थात् विद्या पढ़ने के लिए बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और 25वें वर्ष से लेकर 48वें वर्ष पर्यन्त विवाह न करना, पर-स्त्री, वेश्या आदि का त्यागना, सत्य अनुगामी होना, विद्या को ठीक-ठीक पढ़ के सदा पढ़ाते रहना और उपस्थेन्द्रिय का सदा नियम करना।

ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थेन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता-पढ़ाता रहे, पर स्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मनवचन कर्म से त्याग देवे, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् व्रत बढ़ता है, एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है।

5. **अपरिग्रह** : पाँचवाँ अपरिग्रह अर्थात् विषय और अभिमानादि दोनों से रहित होना।

अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और मुझको क्या करना चाहिए, अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभ गुणों का विचार मन में होता है। वस्तुत: अपरिग्रह का अर्थ है संग्रह न करना।

साधू गांठ न बाँधहि समय चहाता लेय।
आगे पीछे हरि खड़े जब माँगे तब देय।। (कबीर)

भारतवर्ष में विधिकारों ने हिंसा के प्रतिकूल (इंडियन पेनल कोड I. P. C.) के दण्ड विधान की धारायें 324 से 328 तक, 336 से 338 तक तथा 302 से 309 तक की बनाई हैं। असत्य के प्रतिकूल धारा 193 से 208 आई० पी० सी० प्रभृति हैं। स्तेय के प्रतिकूल 206-207 एवं 328-329, 379 से 386, 392 से 399 एवं 411 और 421 आई० पी० सी० में है। इसी प्रकार व्यभिचार के प्रतिकूल धारायें 292 से 294, 354, 312, 366, 376, 377 एवं 509 आई० पी० सी० है। और यह सब प्राय: दस्तन्दाज अर्थात् पुलिस हस्तक्षेपनीय (Cognizible) हैं। पर परिग्रह के प्रतिकूल ऐसी धारा क्यों नहीं बनी; जब कि पतंजलि महाराज यह कहते हैं कि अपरिग्रह से ही इस जन्म का वास्तविक मूलोद्देश्य प्रगट होता है। मूलोद्देश्य है=इदं न मम।। यह मेरा नहीं है।। दान, बलि (कर) आदि की प्रक्रिया एतद्धेतु ही है।

(2.11) मनुष्यों के बीच वैकल्पित नियम :—

यह वे नियम हैं जो प्रत्येक हितकारी हैं। आर्य समाज के 10वें नियम में दयानन्द सरस्वती ने यह प्राविधान किया था कि यद्यपि सामाजिक सर्वहितकारी नियमों के पालने में सब परतन्त्र हैं, पर प्रत्येक हितकारी नियम पालने में सब स्वतन्त्र हैं।

योग दर्शन में ये 5 नियम यों दर्शाये हैं—

शौच संतोष तप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा: ।

(योग० 1/2/32)

1. शौच (Personal Hygiene)
2. सन्तोष (Contentment)
3. स्वाध्याय (Self Study)
4. तप: (Manual Labour)
5. ईश्वर प्रणिधान (Worship of God)

इनका पालन करना व्यक्तियों की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। यदि वे इनका पालन करेंगे तो, सुखी रहेंगे।

2.12 मनुष्य के विषय में पश्चिमी विचारधारा से तुलनात्मक अध्ययन

मनुष्य के स्वभाव के बारे में कुछ अन्य दृष्टिकोण—

01. **प्लेटो** : यह दार्शनिक Pessimistic अर्थात् मनुष्य के नीच बन जाने में विश्वास करता था। उसका विश्वास था कि सब मनुष्य अच्छे नहीं हैं। केवल दार्शनिकों को शासन सौंपा जा सकता है, ताकि वे शेष लोगों का उन्नयन करें।

02. **अरस्तू** : की मान्यता थी कि प्रकृति तो चाहती है कि मनुष्य अच्छा बने पर मनुष्य वैसा है नहीं। अतएव उसे सुधारने वाले संस्थान चाहिए। बुद्धिपूर्वक कार्य करना चाहिए।

03. **एपीक्युरियस**—(341-270 **बी० सी०**) : का कहना था कि विश्व की जैसी झलक मिलती है उसमें वह क्रमबद्ध तो है पर हृदयहीन अंधों जैसा और अशुभ है। इसलिए मनुष्य की प्रकृति का विरोध करके उसकी वक्रता का नाश करना अनिवार्य है। क्योंकि मनुष्य-मात्र स्वभाव से स्वार्थी हैं, उनके सुधारने के लिए नियम आवश्यक हैं।

04. **जीना** (301-**बी० सी०**) : संसार में पाप का आधिक्य मानता था, पर कहता था कि अच्छे आदमियों को उस पाप का दमन करना चाहिये। प्रकृति में नियम है, अत: मनुष्यों को नियमबद्ध होना चाहिए। प्रकृति में सत्यानुगामिता होने से मनुष्य को अन्तरात्मा की आज्ञा मानना चाहिए।

05. **सेनेका** (51 **ए०डी०**) : का मत था कि सुदूर भूत में एक आदर्श समय था जब सब व्यक्ति निर्दोष और आदर्श थे। कालान्तर में वे पापी हो गए हैं।

06. **सैन्ट आगस्टाइन** (314-458 **ए० डी०**) : का मत था कि मनुष्य अपनी स्वार्थ लिप्सा का दास है। मनुष्यों का बहुमत ज़ालिम है। वह मानव-समाज के पशुवत् व्यवहार से दुखी था। वह मनुष्य को पापी और संसार को दुखमय मानता था और उसे कष्ट मिलना ईश्वरेच्छापूर्वक ही मानता था।

07. **पैलेलियस** (41-**ए० डी०**) : यह मनुष्य के पुण्यमय होने तथा उसके, कर्म

स्वातन्त्र्य में विश्वास रखता था। उसने कहा कि यदि मनुष्य के कर्म प्रभु द्वारा निश्चित हैं, तो उसे कष्ट मिलना ही नहीं चाहिए और न कोई दण्ड। वह क्षमा के सिद्धान्त के भी बिल्कुल प्रतिकूल था।

08. **मछियावेली** (1469-1520) : मनुष्य को क्रूर और झूठा मानकर चला है। उसने कहा कि वे शक्ति के आगे स्वभावतः झुक जाते हैं, अतः उनके प्रति शक्ति-प्रयोग होना ही चाहिए।

09. **हौब्स** : ईश्वर को मनुष्य का निर्माणकर्ता तो स्वीकार करता है, और उसमें तर्क बुद्धि का होना भी मानता है, पर इस बुद्धि को ईश्वर की देन न मानकर उसे मनुष्य द्वारा स्वनिर्मित मानता है। मनुष्य के कर्म भी या तो इच्छा का फल होते हैं या अनैच्छिक। इन्द्रिय संघात से या तो वस्तु प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है या उसके प्रति घृणा। इन्हीं के फल रूप उसका प्रयत्न आरम्भ होता है। इसीलिए मनुष्य इच्छाओं की तृप्ति के पीछे पागल बना रहता है और अधिकाधिक सत्ता पर अधिकार करता रहता है। इसलिए हर मनुष्य हर दूसरे मनुष्य का स्वभावतः शत्रु होता है। उसे सदा दूसरे के हाथों मारे जाने का भय रहता है। वह सोचता रहता है कि विपत्ति से कैसे बचें।

10. **स्पिनओज़ा** (1634-1677) : मनुष्य को स्वभावतः अच्छा मानता था, और निराशावादी नहीं था। मनुष्य के ऊपर न हँसना चाहिए, न रोना। उसे समझना चाहिए। मनुष्य को वह सामाजिक जन्तु मानता था जो बिना समाज के रह ही नहीं सकता। बुद्धि से मनुष्य की महत्वाकांक्षाओं पर कन्ट्रोल हो सकता है। बुद्धि का वितरण स्वाभाविक कारणों से है, ईश्वरेच्छा से नहीं।

11. **जानलाक** (1670) : मनुष्य स्वाभाविक स्थिति में पूर्णतया स्वतन्त्र थे कि वे चाहे जो कुछ करें और अपनी सम्पत्ति या शरीर को जैसे चाहें वैसे बर्तें, बिना किसी दूसरे की चिन्ता किये हुए। परन्तु उसके अनुसार प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत मनुष्य का क्रियाकलाप होना चाहिए। मनुष्य बुद्धिवादी प्राणी था। अस्तु; सत्य-चिन्तन, एवं नैतिक-चरित्र का निर्माणादि मनुष्य के स्वाभाविक मान्य मापदण्ड रहे हैं। यही ईश्वर की भी इच्छा है कि मनुष्य सत्यशील और चरित्रवान् बने, जैसा कि प्रभु स्वयं है। अतः ईश्वर द्वारा बनाये जीव में यह दो गुण अवश्य होने चाहिए। परन्तु कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो तर्क और सत्य के अनुयायी नहीं है। वे जंगली जानवरों की नकल करते हैं। वे अपने स्वार्थों की ही चिन्ता करने लगते हैं और जब कोई तीसरी बड़ी शक्ति बीच में नहीं होती है, तो एक-दूसरे का दोहन करने लगते हैं। यह शक्ति तब बीच-बचाव करती है। उससे यही समझौता किया जाता है। अस्तु, यह शक्ति अन्याय करने लगे तो समझौता भंग होता है, और इस शक्ति को समाप्त किया जा सकता है। ऐसा समझौता प्रायः हर पीढ़ी में शासित और शासक के बीच होना चाहिए, क्योंकि एक पीढ़ी अपने बाद वाली पीढ़ी

को सदा के लिए एक प्रकार के समझौते से नहीं बाँध सकती।

12. **विको** (1968-1744) : यह प्रारम्भिक मनुष्य को ग्रादर्श नहीं मानता। पर उसमें भी तीन स्वाभाविक भावनाएँ थीं :
    (ग्र) ईश्वर की सत्ता में विश्वास, जिससे धर्म चला।
    (ब) पिता या माता बनने की इच्छा—जिससे बिवाह पद्धति चली।
    (स) ग्रपने मृतकों को दफनाना—जिससे स्थापत्य-कला चली।
13. **मान्टेज्क्यू** (1690-1755) : इसका मत है कि व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य बहुत धूर्त है। पर जब वह समाज में सम्मिलित होता है तब स्वच्छता ग्रौर ईमानदारी से बर्ताव करता है। वह मनुष्य को (Noble Savage) भला जंगली कहा करता था। मनुष्य की बुद्धि द्वारा ग्रच्छे निर्णय किये जाने की क्षमता में भी यह फ्रेन्च राज दर्शनकार विश्वास रखता था।
14. **रूसो** (1712-1792) : रूसो की धारणा थी कि मनुष्य में सदा दो भावनाएँ रहती हैं। प्रथम तो निजी स्वार्थ ग्रौर उसी के साथ उदात्त स्वार्थ। कुछ कार्य वह यह समझकर करता है कि इनके करने से उसका तुरन्त लाभ होता है। ग्रौर समाज का ग्रंग होने से ग्रन्ततोगत्वा हर परोपकार मय कार्य में भी उसी का लाभ निहित है। वह होब्स की तरह मनुष्य के नीच ग्रौर दुष्ट होने में विश्वास नहीं करता है। परन्तु रूसो लाक के समान उसे स्वभावतः चरित्रवान् ग्रौर सत्यशील भी नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि स्वाभाविक स्थिति में वह एकांकी, संकोची ग्रौर काहिल प्राणी है जो ग्रपने भोजन, निद्रा ग्रौर मैथुन सम्बन्धी ग्रावश्यकताग्रों को तृप्त करने मात्र में लगा रहता है। वह जीवित रहना चाहता है। हाँ उसमें करुणा का भाव ग्रवश्य है। इसी भाव के कारण ग्रपनी स्वार्थपरता पर वह स्वयं ग्रंकुश लगाता है। इसीलिए उसमें परोपकार की भावना जागृत होती है। इसी से परिवार का जन्म होता है। पर जब सम्पत्ति बनने लगती है, तब उसमें साथियों से ग्रागे जाने की महत्त्वाकांक्षा जागृत होती है ग्रौर तब ग्रमीर गरीब को मूँड़ते हैं तथा गरीब ग्रमीर के यहाँ डकैती डालता है। इससे बचने के लिए राज्य-शक्ति की स्थापना की जाती है। शनैः-शनैः राज्य-शक्ति सबको जकड़ लेती है ग्रौर स्वतन्त्र मनुष्य जंजीरों में बँध जाता है। ग्रस्तु, मनुष्य को ग्रपनी उन्नति के कार्यों में स्वतन्त्र रहना चाहिए। यों तो रूसो यह कहता है कि ऐसी परिस्थितियाँ मनुष्य न उत्पन्न होने दे जो उसके स्वार्थों को उसके कर्त्तव्यों से टकरावे। स्वार्थों ग्रौर कर्तव्यों का प्रयोग इस प्रकार हो कि एक का दूसरे से समर्थन हो। रूसो की मान्यता उल्टी थी कि, प्राकृतिक ग्रवस्था में मनुष्य को ग्रच्छे ग्रौर बुरे का कोई ज्ञान ही नहीं था। नैतिकता तो समाज में रहने के बाद बनी है। नैतिकता से समाज नहीं बना है। वह प्राकृतिक नियमों की उच्चता से इन्कार तो नहीं करता है, पर यह बार-बार कहता है

कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक बुद्धि मात्र के चिन्तन से ही नैतिकता के अच्छे नियमों के निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता था।

रूसो मनुष्य में दो प्रकार की असाम्यता भी स्वीकार करता है, एक तो स्वाभाविक और प्राकृतिक है जिसका सम्बन्ध उसकी आयु, स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति और मानसिक एवं आत्मिक गुणों से है, जिनकी विभिन्नता लिये हुए मनुष्य पैदा होता है। दूसरी में असाम्यता मनुष्य निर्मित है—जो राजनैतिक है और जो प्रतिष्ठा, प्रभाव और प्रचुरता की विभिन्नता में दिखाई पड़ती है। दोनों असाम्यताओं में रूसो परस्पर सम्बन्ध नहीं मानता, क्योंकि शासकों में शरीर और बुद्धि की प्रचुरता सदा ही पाई जाती हो, ऐसा नहीं देखा गया है।

15. **वालेस** (1858-1932) : ने कहा कि मनुष्य सदैव बुद्धि के अनुसार ही कार्य करनेवाला प्राणी नहीं है। उसमें अन्य अनेक मनोवैज्ञानिक गुण हैं। उनमें मनोभावना के उद्रेक का परिमाण भी एक पृथक् गुण है। अकेले में मनुष्य जो सोचता है, भीड़ में तथा समाज में उसके विपरीत ही सोचता है।

2.16. मैकडूगल (1871-1938)

मनुष्य भावनातिरेक से कार्य करता है, बुद्धि से निकाले हुए नियमों के अनुसार नहीं। मनुष्य में निम्न 12 भावनायें हैं :

1. डर से भागना	2. उलझ पड़ना
3. उपेक्षा	4. सम्पत्तिशाली होना
5. कामेच्छा	6. हँसना
7. डर में कराहना	8. ऊब जाना
9. वात्सल्य	10. जानने की इच्छा
11. समर्पण, और	12. गर्वोक्ति।

इन सबको वह पैतृक भावना ही मानता है।

इस आधार पर हर व्यक्ति का पृथक व्यक्तित्व बन जाता है और परिस्थितियाँ बदलने से उनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार मनुष्य के सब कार्य केवल अपने स्वकीय-हित की ही भावना से किये जायें, ऐसा भी सदैव नहीं होता। वह परहित के लिए बड़ा से बड़ा बलिदान कर सकता है, क्योंकि इसमें उसे लोक में प्रसिद्धि मिलती है।

3

कर्म फल और ईश्वरीय न्याय-व्यवस्था का दार्शनिक-विश्लेषण

3.01 लोकोक्तियाँ :—

कर्म फल की भावना भारतीय वाङ्मय में इतनी प्रबल है कि एक ओर तो कवि तुलसीदास पगे-पगे राम को भगवान सिद्ध करते हैं, पर दूसरी ओर कर्म-फल से वे उन्हें भी नहीं बचा पाते हैं।

रामचरितमानस में राम को वन जाते देख कुछ नर-नारी, यों कहते हैं :

सिय रघुवीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू ॥ 90/8 ॥

आगे राम भाई लक्ष्मण से यों कहते हैं :

काहु न कोइ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सुखदाता ॥ 91-4 ॥

इसी प्रकार राम को वन भेजकर, अयोध्या वापस आकर, प्रधान मन्त्री सुमन्त दशरथ जी को यों समझाते हैं :

जन्म मरन सब दुख-सुख भोगा। हानि-लाभ प्रिय मिलन वियोगा।
काल करम बस होइं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं ॥
॥ 149/5-6 ॥

अयोध्याकांड में ही मानस पुनः कहता है :—

कर्म प्रधान विश्व रचिराखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥ 219-4 ॥

महर्षि चाणक्य ने भी अपने नीति शतकम् में यों कहा है :

1. यथा धेनु सहस्त्रेषु वत्सो गच्छतिमातरम् तथा यच्चकृत कर्मकर्त्तारं।
मुनाच्छति ॥ 13/14 ॥

2. कर्मायत्तं फलं पुंसा बुद्धि कर्मानुसारिणी,
   तथापि सुधियाचार्यः सुविचार्यैव कुर्वते ।। 13/17 ।।
3. अन्यायोतार्जितम् द्रव्यम् दशवर्षाणि तिष्ठति ।
   प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ।। 15/6 ।।

3.02 कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिक ऊहापोह

कर्म सिद्धान्त के पाँच वैज्ञानिक कारण हैं :—

1. The evolution cf animal and human forms.
   (पशु एवं मनुष्य योनियों के पृथक अस्तित्व से निष्कर्ष)
2. The conservetion or indestructibility or tranaformation of energy. Karma is always generating an energy.
   (कर्म से ऊर्जा सृजती है । किसी ऊर्जा का नाश नहीं होता है । केवल रूप बदलता रहता है ।)
3. The Pattern of the fleshy body are inherited ones.
   (हाड़-मांस के शरीरों की विभिन्नता प्रायः पूर्व के माता-पिता के शरीरों के अनुरूप है । स्वतन्त्र नहीं ।)
4. For every action there is a reaction which is equal and opposite.
   (हर क्रिया की तदनुरूप तथा तद्वत मात्रा में ही बराबर प्रतिक्रिया होती ही है ।)
5. All life is ultimately unitary. The universe constitutes a single entity.
   (विश्व में सब जीव-जन्तु परस्पर आश्रित होने से सारा विश्व एक सन्तुलन में है ।)

3.03 दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रस्तुत बाइस सूत्रीय वैदिक मान्यता

01. त्रैत दर्शन न्याय की व्यवस्था पर आधारित है । विश्व में वैषम्य है । भिन्न-भिन्न व्यवितयों में शारीरिक-ओज और बुद्धि-प्रखरता भिन्न-भिन्न परिमाण में है । जन्मतः कुछ व्यवित सुख-साधन-सम्पन्न परिवार या परिस्थितियों में या देश में जन्म पाकर वार्धक्य को प्राप्त होते हैं । अतएव उनका विकास भी भिन्न-भिन्न स्तर का होता है । प्रकृति से भोग्य-पदार्थ भी उन्हें भिन्न-भिन्न परिमाण में प्राप्त होते हैं । किसी को यावज्जीवन सुख अधिक है, किसी को साधारण और किसी को आजीवन दुख ही । इसका कुछ कारण समाज-प्रदत्त परिस्थितियाँ तो निस्सन्देह हैं ही, परन्तु जहाँ समाज होवे ही नहीं और व्यक्ति को पैदा कर दिया गया हो वहाँ उसकी विपन्नता का कारण क्या है ?

ऐसे उदाहरण ध्रुव-प्रदेश, टुण्ड्रा, टैंगा या सहारा के मरुस्थल वाले क्षेत्र हैं। वहाँ उत्पन्न व्यक्ति सभी शिक्षादि से वंचित रहता है। आज के एकता मूलक समाज में भी जहाँ तथा-कथित शोषणवादी व्यवस्था समाप्त कर दी गई है, प्रायः अविकासी मूढ़-मति मानव मिलते ही हैं, जिन्हें प्रतिभा-विहीन होने से श्रम-जन्य कार्य ही सौंपे गये हैं। उनका जीवन सब सरसताओं से विहीन एवं दूभर है।

02. त्रैतदर्शन की यह भी मान्यता है कि यह वैषम्य ईश्वरेच्छा मात्र से नहीं है। न ही यह ईश्वर की लीला एवं माया है। ईश्वरेच्छा पक्षपात पूर्ण नहीं हो सकती, न ही वह अपने बन्दों को दुख देकर किसी सुख का अनुभव करेगी। और लीला या नाटक तो वास्तविकता की एक प्रतिकृति (नकल) मात्र होती है। सर्वज्ञ ईश्वर को नाटक-कर्म शोभनीय भी नहीं है। त्रैतकादानुसार जीव को कर्म करने में पूर्ण स्वातन्त्र्य दिया गया है। मनुष्य की कर्म करने की यह स्वतन्त्रता प्रभु की सर्वज्ञता से भी बाध्य नहीं है। जैसे-जैसे मनुष्य कार्य करता है, वैसे-वैसे ही प्रभु भी जानता है। यदि मेरे कर्त्तव्य एक ऐतिहासिक प्रणाली के अनुसार ही होने हैं, अथवा प्रभु की जानकारी में छिपे हुए भविष्य के अनुसार ही मेरे जीवन का प्रत्येक पृष्ठ खुलना है, तो मैं उन कर्त्तव्यों के फल के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकता। न्याय का तकाज़ा है कि मुझे उसी का फल भुगतना पड़े जो मैंने स्वेच्छा से किया है। तथापि जो कुछ मेरे अपने श्रम से अर्जित है, उससे मुझे वंचित न किया जाये। नैतिकता का भी तकाजा है कि मैं दूसरे के श्रम से उपार्जित भोगों को न प्राप्त कर सकूँ। सब भोग कर्मानुसार मिलें, यह दयानन्द के दर्शन की भित्ति हैं। सृष्टि में हर वस्तु और घटना का कारण है, इसलिए जो कुछ वह भुगत रहा है, उसके अपने द्वारा कभी किए गये कर्मों के फल-रूप है। यहाँ शंका हो सकती है कि यदि सब कुछ जो मनुष्य यहाँ भुगत रहा है, पहले से ही निश्चित है, तो यह तो मनुष्य को भाग्य-वादी बना देगा। परन्तु हमें पहले कर्म-स्वातन्त्र्य का भाव समझ लेना चाहिए। स्वतन्त्रता से अर्थ पूर्व निश्चयता की पूर्णतया अनुपस्थिति नहीं है। मनमानी अन्तःप्रेरणा तो केवल पशु ही वर्तते हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ है उस पथ से जाना—उस तन्त्र का निर्माण करना—जो स्वयं ने निश्चित किया हो। पूर्व निश्चयपूर्वक कार्य करना ही स्वतन्त्रता है। अतः अधिक पीछे की ओर सोचने पर यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि हमारे जीवन के सब अच्छे-बुरे भोगों का कारण सदैव इस जीवन में नहीं मिल सकता। इसी प्रकार इस जीवन में किये अच्छे-बुरे सब कार्यों का फल इस ही जीवन में नहीं मिलता दिखता। अतः इस जीवन से पहले और इस जीवन के बाद भी जीवन का होना अवश्यम्भावी है। इसीलिए इस घटना-चक्र को संसार (समसार=जीव का सदा रहने वाला जीवन) कहते हैं।

कान्ट के अनुसार जीवन में नैतिक चेतना ही यह सिद्ध करती है कि व्यक्ति अमर है। अस्तु इस जीवन के सारे सुख-दुखों का तारतम्य पूर्व जीवन के हमारे द्वारा किये गये कर्माकर्म हैं। इसलिए जैसा याज्ञवल्क्य स्मृति (1/349) एवं मनु-स्मृति (7/205) में कहा है, भाग्य हमारे द्वारा पूर्व जन्म में किये कार्यों का ही दूसरा नाम है।

03. यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस कर्म के सूत्र का सूत्रपात कब प्रारम्भ हुआ था ? परन्तु त्रैत दर्शन में सृष्टि-प्रजनन और सृष्टि-समावर्तन (प्रलय) की यह प्रक्रिया अनादि काल से है। इसका प्रारम्भ कभी हुआ ही नहीं था। प्रलय में भी जीव के साथ उसका कारण एवं सूक्ष्म शरीर रहता है। मुक्ति में भी कारण-शरीर आत्मा से संलग्न रहता है। यह कारण शरीर किये हुए कर्म के संस्कारों से बनता है। और जिस योनि में उन संस्कारों का प्रस्फुटीकरण हो सके, उनमें जन्म लेने के लिए हर संवत्सर के प्रारम्भ की सृष्टि में उसे वह विवश करता है और यह क्रम चलता रहता है। अस्तु हम चाहे कितना ही पीछे ढूँढ़ते चले जाएं, वह समय नहीं मिलेगा जबकि जीव कर्मों के संस्कारों की छाप से रहित मिल जावे। चूँकि सब कर्मों का कारण जीव का पूर्व निश्चय ही है, अतः जीव कर्म करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है। एक पश्चिमी विद्वान् ने यों कहा है :

(Universe has freedom at its heart, but fate at its circumferance as in the atom and man is a creature of both influences. Misfortune may have come, but be firm, it will go just in the same way as it came.)

साथ ही जीवों के इस कर्म-स्वातन्त्र्य और फल भोगने हेतु एक फल भुगवाने वाले ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव की गयी, और इसी सर्वोच्च फलदायक सत्ता के प्रतिरूप में पृथिवी पर राज्य-सत्ता की स्थापना की गयी।

04. कर्म सिद्धान्त में नैतिक सुधार का सिद्धान्त भी निहित है। अर्थात् हमें जो कुछ सुख और दुःख मिले हैं, वे न्यायानुकूल हैं। समाज या प्रभु का कोप नहीं है। इनमें कोई धोखा या अति नहीं है। हम इससे भी आश्वस्त हैं कि अब जो कुछ करेंगे, उसका भी फल आगे-पीछे अवश्य मिलेगा। इस आस्था का फल यह होगा कि मनुष्य दुःख उठाते हुए भी मगन रहेगा। उसमें कड़ुवाहट नहीं होगी। चूँकि उसके दुःखों का कारण वह स्वयं है, अतः वह किसी को न श्राप देगा, न आह भरेगा, न स्थापित समाज को अस्त-व्यस्त करने का संकल्प करेगा। चूँकि उसके लिए भविष्य को उच्चतर रूप में निर्माण करने का द्वार खुला है, अतः वह अपने श्रम को इस निर्माण में लगाता रहेगा, उसे व्यर्थ न जाने देगा और समाज इस हानि से बच जायेगा। वह कामचोर भी नहीं

बनेगा। और जीवनयापन अर्धोत्साह से (Half-Heartedly) भी नहीं करेगा। इससे समाज में नैतिकता का विकास होता है। कर्मों के फलाफल इस विकास के और विकास में सहायक होते हैं। इस सिद्धान्त से मनुष्यों के जीवन में अनुशासन आता है। हर कर्म के करने से पहले मनुष्य सोचेगा कि इसे करूँ या न करूँ। एक सार्वकालिक पुलिस उसके पीछे लगी रह कर उसे सदा निर्देशन देती रहती है कि बुरे कर्म को न करे। यदि मनुष्य के सारे कर्म उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुरूप ही हुए होते और उसे उन प्रवृत्तियों के ऊपर विजय पाने का अधिकार नहीं दिया गया होता, तो उसे इसमें कोई सन्तोष नहीं मिलता कि वह किसी तीसरी शक्ति के आदेशानुसार चलने को बाध्य नहीं है।

·05. कर्म सिद्धान्त से नैतिक और चारित्रिक विकास होता है। हरेक कर्म, के जो कि हम करते हैं, दो फल होते हैं :

(1) एक तो इसका तुरन्त मिलने वाला फल। जो कि प्रकृति के सिद्धान्तानुसार होता रहता है, और तुरन्त घटित होता है। यथा वीर्य पात से शारीरिक शिथिलता।

(2) दूरगामी फल : हर घटना से एक संस्कार का सृजन होता है जो आत्मा के साथ जुड़ जाता है। इस आत्मा की प्रवृत्ति वही व्यभिचार पुनः करने-करवाने की बन जाती है। यह फल देर से या दूसरे जन्मों तक प्रगट हो सकता है।

प्रथम तो आवश्यकताजन्य है। हम इसमें परवश हैं। दूसरा वह है जो हमारे नियन्त्रण में हैं। हमारा नैतिक विकास हमारी इस नियन्त्रण क्षमता पर आश्रित है। इसी को निष्काम कर्म की योग्यता कहा है।

·06. प्रत्येक प्राणी को सुख और दुःख तो किसी के माध्यम द्वारा ही मिलता है। सुख और दुःख स्वयमेव ही उपस्थित नहीं हो जाते।

यों सुख और दुःख बन्धु-बान्धवों, मित्रों और शत्रुओं, राज कर्मचारियों, पड़ोसियों तथा अन्य व्यक्तियों और प्राणियों (सिंह, सर्प आदि) द्वारा ही प्राप्त होते हैं। वे ही सुख और दुःख का निमित्त कारण अथवा हेतु होते हैं। पर वास्तविक रूप में उन सुख-दुःखों का प्रधान कारण तो प्राणी के पूर्वकृत कर्म होते हैं, जिनके फलस्वरूप यह सुख-दुःख प्राप्त होते हैं।

·07. कर्मों की गति अति गहन है। "गहना कर्मणो गतिः।" ऐसा गीता 4/17 में भी कहा है। विरले ही इसको भली प्रकार जान सकते है। इसका मुख्य कारण यह है कि कर्म-सिद्धान्त और उसके अन्तर्गत नियमों को जानना और उनकी परख करना इसलिए कठिन है कि वह प्रत्यक्ष रूप से न देखे और न अन्वेषण किये जा सकते हैं। कर्म-विपाक के सिद्धान्त तो परोक्ष से सम्बन्धित हैं।

·08. योग दर्शन 2/14 सूत्र के अनुसार "कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः" अर्थात्

कर्म (पुंज) का फल दृष्ट और अदृष्ट जन्मों में मिलता है। कुछ कर्मों का फल विशेष कर व्यक्तिगत कर्मों का फल इसी जन्म में मिलता है, शेष कर्मों का फल आगामी जन्मों में मिलता है। यह विचार अति महत्त्वपूर्ण है, अतः विस्तार पूर्वक लिखने योग्य है। ऋषि पतंजलि लिखते हैं :

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" ।। योग दर्शन 2/14 ।।

अर्थात् कर्मों के होने पर उनका फल जाति, आयु और भोग के रूप में मिलता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। मनुष्य प्रत्येक क्षण कर्म करता रहता है—यह क्रियमाण कर्म है। वह पूर्व में किये हुए संचित कर्मों में संचित होते रहते हैं। मृत्यु के समय जितने संचित कर्म होते हैं, उनमें से आगामी जन्म के लिए जो 'प्रधान कर्म' होते हैं, उनको प्रारब्ध कहते हैं और वह ही प्राणी के आगामी जन्म में जाति, आयु और भोग का कारण होते हैं। प्रधान कर्म वह कहलाते हैं जिनके संस्कार ऐसे बलवान् हों कि मरने के पश्चात् सबसे प्रथम उन्हीं के फलवाली योनि प्राप्त हो। पर जो कर्म मरने के उपरान्त तत्काल फल देने में समर्थ न हों वे "उपसर्जन" कर्म कहलाते हैं।

अब बात रही भोगों की। जन्म से प्राणियों में विषमता पायी जाती है। कोई तो राजा के घर जन्म लेता है तो कोई भिखारी के घर में। कोई सुन्दर है तो कोई कुरूप। कोई बलवान् है तो कोई अंगहीन। कोई जन्म से प्रतिभाशाली है तो कोई पागल। जन्म से प्राप्त विषमता इस बात का द्योतक है कि भोगों का प्रचुर अंश तो जन्म से पूर्व ही निर्धारित कर दिया जाता है। शेष भोगों-सुखों और दुःखों की प्राप्ति तो जीवन में कई बार अकस्मात् रूप में हो जाती है। उनका ज्ञान जन्म के पश्चात् नहीं होता।

09. स्वामी दयानन्द अपने "सत्यार्थ प्रकाश" में पृष्ठ 155 व 156 पर यों लिखते हैं :

(अ) इसलिए पूर्व जन्म के पुण्य पाप के अनुसार वर्तमान जन्म और वर्तमान तथा पूर्व जन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।"

(आ) "और जो पूर्व जन्म न मानोगे तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है, क्योंकि बिना पाप के दारिद्रय आदि दुःख और बिना पूर्व संचित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और बुद्धिमानता उसने क्यों दी। और पूर्व जन्म के पाप-पुण्य के अनुसार दुःख-सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है।"

10. इस धारणा से यह प्रगट होता है कि वर्तमान जीवन में किये हुए क्रियमाण कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता। वे तो संचित कर्मों में जमा हो जाते हैं और उनका फल किसी आगामी जन्म में ही मिलेगा। यूरोपीय राजनैतिक

दर्शनकार मछियावेली ने कहा है कि 50 प्रतिशत कार्य तो भाग्याधीन है और शेष 50 प्रतिशत के लिए क्षेत्र खुला है।

(क) समाज तथा राजकीय कानून के अनुसार शुभ (पुण्य) कर्मों के फल देने का कोई प्रबन्ध नहीं होता है। और यह भी देखने में आता है कि नेक अथवा पुण्य कर्मों का फल प्रायः कर्ता को इस जन्म में नहीं मिला करता।

(ख) पाप कर्मों में केवल उन कर्मों के दण्ड का विधान है, जोकि अपराध की परिभाषा के अन्तर्गत होते हैं। शेष पापों के फल समाज तथा राज्य द्वारा नहीं दिये जाते।

(ग) और प्रायः 75 प्रतिशत अपराधी राजकीय दण्ड से बच जाते हैं, उनको अपने कर्मों का फल नहीं मिलता।

(च) कई अपराधियों को न्यूनाधिक्य अनुचित दण्ड भी मिल जाता है।

(छ) कभी-कभी कई निर्दोषी व्यक्ति व्यर्थ में दण्डित किये जाते हैं।

अतः यह प्रतीत होता है कि ईश्वर ने न्याय की व्यवस्था अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण राज्य सत्ता के हाथ में पूर्णतया नहीं रक्खी है, उसे केवल सामाजिक न्याय अनुसार दण्ड और पारितोषिक प्रदान करने का एक माध्यम बनाया है। यह तो मानना ही होगा कि न्यायकारी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान भगवान् के राज्य में अन्याय का स्थान नहीं है। यदि कर्मों के दर्पण में देखा जावे, तो यह प्रतीत होगा कि प्रत्येक प्राणी को सुख-दुःख अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार मिलता है।

इस पक्ष की स्थापना यजुर्वेद 40/3 में यों की गयी है :—

असुर्य्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याऽपिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः॥

("पाप कर्मों द्वारा अपनी आत्मा का हनन करने वाले जन, मरने के पश्चात् उन लोकों (अथवा शरीरों) को प्राप्त होते हैं जो कि अन्धकार और तम से आवृत हैं"।)

11. अब शेष एक प्रश्न रह जाता है। वह यह है—जिस चोर ने चोरी की, उसको दण्ड मिल गया। प्रत्यक्ष रूप से यह फल उसकी वर्तमान जन्म की चोरी का फल है। इनके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हालाँकि उसका दण्ड उस चोरी से सम्बन्धित है, परन्तु वास्तविक रूप में उसे किसी पूर्वकृत कर्म का फल मिलता है। इस चोरी का फल तो उसे किसी आगामी जन्म में उचित रूप में मिलेगा। यह भी हो सकता है कि जो दण्ड उसे मिला है वह उसके कर्म के अनुसार अधिक या कम हो।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जो पापी इस जन्म के वैभवशाली हैं, वह अपने पूर्वकृत पुण्य-कर्मों का फल भोग रहे हैं। उनके इस

जन्म के कर्मों का फल किसी आगामी जन्म में मिलेगा। धर्मात्माओं पर भी यही सिद्धान्त लागू होता है।

12. कर्म और उसके विपाक के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार स्मरण रखने योग्य हैं—

(अ) मन से किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल मन द्वारा ही भोगा जाता है। इसी प्रकार वाणी और शरीर की अन्य इन्द्रियों द्वारा किये हुए कर्मों का फल उन इन्द्रियों द्वारा ही भोगा जाता है।

(मनु 12/8)

महाभारत अनुशासन पर्व में भी इसी प्रकार लिखा है—

"प्राणी जिस जिस (स्थूल या सूक्ष्म) शरीर से जो-जो कर्म करता है, उस कर्म के फल को उस शरीर से ही पाता है। अर्थात् मन से किये हुए कर्म के फल मन से ही स्वप्न आदि में भोगता है, और शरीर से किये हुए कर्म को जागृत अवस्था में शरीर से ही भोगता है। (अध्याय 7/2)

(आ) कतिपय विद्वानों का मत है कि शुभाशुभ चौर-कर्म तीन दिन तीन माह अथवा तीन वर्ष में अवश्यमेव अपना फल देते हैं। यह मत निराधार प्रतीत होता है, ऐसे कर्मों का फल इस निर्धारित समय में प्रगट नहीं होता है। प्रायः देखा जाता है कि उग्र कर्मों का फल कर्ता को इस जन्म में बिल्कुल नहीं मिलता है। कई हत्यारे, डाकू आदि दण्ड की लपेट में बिल्कुल नहीं आते हैं।

(इ) कई ग्रन्थकारों का मत है कि मनुष्य जिस अवस्था में जो शुभाशुभ कर्म करता है, उस कर्म के फल को जन्म-जन्मान्तरों में उस (बाल्य, युवा, वृद्ध) अवस्था में भोगता है। यह मत भी युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता। यह सिद्धान्त तो सबको माननीय है कि बाल्यकाल में मनुष्य का मन विकसित नहीं होता। उसको उस समय शुभाशुभ का ज्ञान नहीं होता। अतः उसके कर्मों का फल बाल्यकाल में उसे नहीं मिलता।

(ई) कई मनुष्यों की धारणा है कि चाहे कितने ही अच्छे या बुरे कर्मों को किया जाये, पुरुष पुरुष की योनि और स्त्री स्त्री की ही योनि में सदैव उत्पन्न होते हैं। यह धारणा भ्रममूलक है।

(उ) कर्मों के फल भोगने में क्रम का नियम नहीं हैं। अर्थात् प्रथम किया हुआ प्रथम और उससे पश्चात् किया हुआ पश्चात् और उसके भी पश्चात् किया हुआ उसके पश्चात् भोगे।

(ऊ) एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता। और यह भी नहीं है कि एक कर्म अनेक जन्मों का कारण हो। और यह भी नहीं है कि अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण हों।

कर्म का आदि भी नहीं है और न ही अन्त है। कर्म करने में

विराम तो हो जाता है जैसे कि सुषुप्ति में अथवा मोक्ष में ।

(ए) जिन कर्म वासनाओं के अनुसार देह प्राप्त किया गया है वह 'नियत विपाक' कहलाती है, और जो भविष्य जन्मों में अनुभव करने योग्य अनियत फल कर्माशय हैं, उनकी तीन प्रकार की गति इस प्रकार है ।

(1) कुछ कर्म किसी अन्य प्रधान कर्म में मिलकर भोगे जाते हैं ।

(2) कुछ एक कर्म प्रधान कर्म से दबे रहते हैं, और वह कालान्तर में फलीभूत होते हैं ।

(3) पाप और पुण्य कर्मों की आपस में कटौती (काट-छांट) नहीं होती, क्योंकि उनमें समानता नहीं होती ।

13. यदि पुरुष अपने शुभाशुभ किये हुए कर्मों और इस जन्म में अनुभव किये हुए सुखों और दुःखों की पृथक्-पृथक् चार तालिकायें बनाएं और उनको आपस में मिलान करें, तो निष्कर्ष निकलेगा कि इस जन्म में किए कर्मों का फल बहुधा इस जन्म में नहीं मिलता है ।

14. कर्म तीन प्रकार के होते हैं—शुभ, अशुभ और मिश्रित । उनके फल भी इसी प्रकार तीन प्रकार के होते हैं ।

व्यक्तिगत कर्म—खाना, पीना, सोना आदि तो इसी जन्म में फल देते हैं । आगामी जन्मों पर इन कर्मों का कुछ भी प्रभाव नहीं होता ।

मनुष्य के वे कर्म जिनका अन्य प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है, द्विमुखी होते हैं । उन शुभाशुभ कर्मों का फल कर्ता को तो कालान्तर में मिलेगा । परन्तु उन कर्मों के द्वारा जो अन्य प्राणियों को सुख अथवा दुःख मिलता है, वह सुख और दुःख उन प्राणियों को उनके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है ।

15. छान्दोग्य उपनिषद् में राजा जनश्रुति को रेक्व मुनि ने इस प्रक्रिया का तारतम्य यों समझाया है :

जब मृत्यु का समय आता है तब सब इन्द्रियों की वृत्ति वाणी में लय हो जाती है । वाणी की वृत्ति मन में और मन की वृत्ति तब प्राण में परिवर्तित हो जाती है । जागृत अवस्था में पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन की इच्छाओं पर नाचती थीं, पर मृत्यु के समय मन भी प्राण-चैतन्य के वश में चला जाता है । तब प्राण ही जीवन की स्थिति के अनुरूप नये निर्माण में जुट जाते हैं । यह निर्माण चाहे अच्छा हो या बुरा, उसका निर्णय चेतना के शरीर छोड़ते समय ही हो जाता है । जिन्होंने इस जन्म में अपने को विकसित किया होता है, वे अनेक गुणों और संस्कारों से युक्त सुन्दर जीवन पाते हैं । पर जिसकी इन्द्रियों के प्रति लालसा जागृत बनी रहती है, वे उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए पुनः कोई शरीर धारण करते हैं । जब तक सृष्टि का प्रत्येक जीव पूर्णता प्राप्त नहीं कर लेता, यह क्रम जारी रहता है ।" जीव के सूक्ष्म शरीर में पशु के संस्कार भस्मसात् हो जाते हैं, तब हम कहते हैं कि अमुक ने तो अपने को पशु सा बना

लिया है। पर ऐसा होने पर उसका व्यक्तित्व पशु के शरीर में अभिव्यक्ति पा सकता है। उसका आरम्भ यहीं हो जाता है और मरकर ऐसा व्यक्ति पशु योनि में चला जाता है। भिन्न-भिन्न योनियों में भिन्न प्रवृत्ति की (Natural Selection) स्वाभाविक छँटाई होती है। और तब नये परिवर्तन का सूत्र-पात होता है। अनिष्ट प्रवृत्तियों के लोप और इष्ट प्रवृत्तियों के आगम के लिए ही भिन्न-भिन्न योनियों की व्यवस्था है।

16. हमारा हरेक कर्म बहु-प्रभावी होता है। उसका एक प्रभाव तो हमारे चित्त पर पड़ता है और दूसरा विश्व पर भी पड़ता है। यह जो दूसरा प्रभाव है उसी में वह अपने भावी जीवन का वातावरण भी तैयार करता है। वातावरण कोई बाहर से उत्पन्न चेतन शक्ति नहीं है। उसका तो हम स्वयं निर्माण करते हैं।

17. **क्रियमाण कर्म** : विचार करना स्वयं में एक कर्म है। प्रत्येक विचार, कार्य-कारण भाव की अनन्त श्रृंखला की एक कड़ी होता है। प्रत्येक कार्य, साथ ही किसी दूसरे कार्य का कारण बनता है। इस अखण्ड श्रृंखला की प्रत्येक कड़ी तीन अवयवों इच्छा, विचार और क्रिया की संघटक (Co-ordinator) है। इच्छा विचार को पैदा करती है। विचार क्रिया का रूप धारण करता है। क्रिया आगे जाने वाले भाग्य का ताना-बाना बुनती है।

मानसिक कार्य भी फल देते हैं, यद्यपि हम उन्हें पूरा नहीं कर पाते हैं। उन्हीं से सूक्ष्म शरीर निर्माण होते हैं। मानसिक पाप और व्यभिचार से वह अन्दर की चादर मैली होती ही है। जो मन-ही-मन दूसरे की वस्तु के प्रति स्वार्थपूर्ण लोभ रखता है, उसके आगामी जन्म में चोर बनने की आशंका है। वैसे ही बैठे-बैठे किसी से अकारण द्वेष और प्रतिकार की भावना रखने से हत्यारा बन जाने की आशंका है।

मनुष्यों में फल-वितरण की समस्या ऐसी है जिसके विषय में कतिपय विचारकों ने यह कहा है कि यह स्वचालित है। उसके लिए किसी अधीक्षक की आवश्यकता नहीं है। जैन-दर्शन इस व्यवस्था को यों समझाता है कि कर्म के परमाणु होते हैं। जैसे-जैसे मनुष्य कर्म करता है, यह परमाणु उसकी आत्मा में चिपट जाकर उसे बद्ध कर देते हैं। मनुष्य जैसे-जैसे तपस्वी, चरित्रवान् और विरक्त होता जाता है, इन कार्मिक परमाणुओं का निर्भर होता है, और अन्त में जीव मुक्तावस्था में आ जाता है।

इसी प्रकार कर्म के परमाणुओं की जो कल्पना है, वह ब्लैक-बोर्ड पर विद्यार्थियों को समझाने के समान है।

18. वास्तव में हम जो कुछ कर्म करते हैं, उसके दो परिणाम होते हैं :
(अ) तुरन्त फल, जो शरीर-विज्ञान से सम्बन्धित है।
(ब) कर्म से एक वासना का जन्म होना, जो संस्कार बनकर आत्मा से चिपट

जाती है। वह आत्मा को अपने बोझ से ऐसी योनि में बरबस ले जाती है, जहाँ उन संस्कारों का प्रस्फुटीकरण हो, अतृप्त आकांक्षा पूर्ण हो और फिर उसका विग्रह होकर उसकी छाप मिट जाए।

19. जहाँ तक संस्कार-जन्य फलों का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि सारे कर्मों का संक्षिप्त रस आत्मा पर छा जाता है और उसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इनका और सार रस बनता है, उसे कारण शरीर कहते हैं। मरणोपरान्त यह दो शरीर साथ जाते हैं और कर्मानुसार योनि की ओर बरबस ले जाते हैं। मुक्ति में कारण शरीर फिर भी रह जाता है जो मुक्ति की अवधि समाप्त हो जाने पर फिर आत्मा को संसार में खींच लाता है। इसीलिए कहा है कि मरने पर कर्म संचित होकर साथ जाता है। तदन्तर मुक्ति अथवा मनुष्य या पशु योनि में से किसी एक में हम चले जाते हैं, जहाँ कि हमें अपने किये का फल भोगना पड़ता है। इस भोगने में स्वेच्छा न होकर परवशता है। स्वेच्छा से तो कोई अपने अकर्म या कुकर्म का कटु फल नहीं भोगना चाहता।

20. गम्भीर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म वासनाओं के माध्यम से स्वतः फलीभूत हो जाते हैं। वासनाओं द्वारा कर्मों का कालान्तर में फलीभूत होना ईश्वरीय नियम (विधान) का केवल एक अंश मात्र है। किसी कर्म का फल क्या, कितना, कब और किस प्रकार मिलेगा, इसका निर्णय तो विधि-वेत्ता, नियामक और अनुशासक ही कर सकता है।

21. अस्तु यह नियम और अनुशासन जिसका गुण है वह पदार्थ अवश्य होना चाहिए। गुण स्वतन्त्र नहीं रह सकता। किसी द्रव्य (पदार्थ) का ही कुछ गुण होता है। नियमन और अनुशासन जिस सत्ता का गुण है, वह ही इस सृष्टि का अध्यक्ष है, न्यायकर्ता है। त्रैत-दर्शन में उसे ईश्वर कहते हैं।
श्वेताश्वतर उपनिषद् (6-11) में उसे यों बखाना है :

एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ःसर्व व्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
कर्माध्यक्षः सर्व भूतादिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

इस सत्ता के द्वारा न्याय करवाने में एक आसानी है कि वह घट-घट वासी है और मनुष्य के द्वारा किए जाने वाले हर कार्य का स्वयं स्वामी और गवाह है। उसको किसी जीव विशेष में कोई रुझान या कोई पक्षपात नहीं है। उससे अवश्य न्याय की आशा की जा सकती है।

ईश्वर ने न्याय का अर्थात् कर्मानुकूल भोग वितरण का तथा जीवन यापन की सामग्री सबको उपलब्ध कराने का कार्य स्वयं अपने ऊपर ले रखा है। मुक्त-जीव, अजन्मे-जीव तथा पशु-पक्षियों की व्यवस्था स्वयं उसके हाथ में है। मनुष्यों को बुद्धिमान समझकर उसने राज्य व्यवस्था का सुन्दर ढाँचा उसे भेंट कर दिया है। पृथ्वी पर राज्य प्रभु की मनुष्यों को देन है। इस राज्य व्यवस्था पर भी वह नियन्त्रण रखता है कि थोड़े से मनुष्य (Oligar-

chical Element) या बहुत से मनुष्य (Debased Democratic Element or Mobocracy) न्याय का गला न घोंट दें। अन्यायी व्यवस्था का वह अन्त करता है। और हर व्यवस्था के द्वारा सम्पादित न्याय की कमी को वह स्वयं पूरा करता है।

"परमात्मा के राज्य में कोई अन्याय नहीं है। न वहाँ किसी की सिफारिश चलती है, न कोई मित्र कुछ सहायता कर सकता है। वहाँ तो पूर्ण न्याय है। जो जैसा करेगा, उसको वैसा ही फल मिलेगा।"

—(अथर्व वेद 12/3/48)

22. **दयानन्द की स्वमुखीन सूक्तियाँ** : मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल, दूध आदि शीघ्र नहीं होता, वैसे ही किए हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता, किन्तु धीरे-धीरे अधर्म-कर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है। पश्चात अधर्मी दुख ही भोगता है।

—(संस्कार-विधि के गृहस्थाश्रम प्रकरण में)

"यह भी जानना कि किसी का किया हुआ पाप भोग के बिना निवृत्त नहीं होता और इनके निवारण के लिए कुछ परमेश्वर की प्रार्थना व अपना पुरुषार्थ करना भी योग्य नहीं है, किन्तु यह तो है कि जो कर्म जीव वर्तमान में करता है व करेगा उसकी निवृत्ति के लिए तो परमेश्वर की प्रार्थना व उपदेश भी होता है।"

—(ऋग० 1-24-9 का वेद भाष्य)

3.04 कर्मफल के विषय में विदेशी दार्शनिकों का समर्थक चिन्तन

01. पारसी मतानुसार सृष्टि में दो शक्तियाँ कार्य करती हैं। एक पवित्र शक्ति (good spirit) और दूसरी अपवित्र शक्ति (evil spirit)। अच्छी बातें स्पेंटामन्यु से और बुरी बातें अंग्रामन्यु से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य यों कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, पर फल भोगने में वह मजदा (ईश्वर) के आधीन है। बिना कारण किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। कर्म फल का भोगना जन्म-जन्मान्तर में आवागमन के द्वारा प्राप्त होता रहता है। अहुरमज्दा ने संसार के प्राणियों के कर्मों की देखभाल के लिए फरिश्ते नियुक्त कर रखे हैं। प्रलय के पश्चात तमाम मुर्दे जिन्दा किए जाएंगे, और उनसे कर्मों का हिसाब लिया जाएगा। पवित्र कर्मों से मनुष्य का जीवन उच्च होता है। कर्म-स्वातन्त्र्य के कारण मनुष्य स्पैन्टामन्यु तथा अंग्रामन्यु—दोनों में से किसी का भी साथ चुनने को स्वतन्त्र है। शरीर छोड़ने के चौथे दिन जीव के कर्मों की जाँच आरम्भ होती है। जरदुश्त की सिफारिश के अनुसार स्वर्ग या नरक मिलता है। स्वर्ग में सुन्दर तथा नरक में एक-एक भद्दी तस्वीर मिलती है।

02. पैथोगोरस और औरक्रियस (582-506) यह विश्वास रखते थे कि जीवात्मा

को इतना पवित्र और शुद्ध बनाया जाए कि वह फिर आवागमन के चक्कर में न फँसे।

03. **सुकरात** (476-399 ई० पू०)
इसने यह बलपूर्वक कहा कि उच्च जीवन बनाकर जीवात्मा दूसरे लोकों में ज्ञानमय ईश्वर के साथ रहकर परमानन्द प्राप्त कर सकता है।

04. **अरस्तू** (384-322 ई० पू०)
बुद्धिमानों को मौत से कभी नहीं डरना चाहिए। वरन अपने को अमर जान-कर कार्य करते रहना चाहिए।

05. ईसाई धर्म के अनुसार कर्म फल के निम्न सिद्धान्त हैं :

(अ) धोखा न खाओ, ईश्वर ठट्टा में नहीं उड़ाया जाता,
क्योंकि मनुष्य जो कुछ बोता है, वही काटेगा।
(ग्लैतून बाब 6 आयत 7)

(ब) क्योंकि यसू अपने बाप के प्रकाश और तेज में अपने फरिश्तों के साथ आयेगा, उस समय प्रत्येक को उसके कर्मानुसार बदला देगा।
(मत्ती० 16/27)

(स) फिर उसने कहा, "होशियार हो जाओ। क्या तुम सुनते हो, जिस नाप से तुम नापते हो उसी से तुम्हारे लिए नापा जाएगा।
(मत्ती. 7/6)

06. **प्लौटीनस** (204-270 **ईसवी**) : जो जीवात्मा उच्च और तुच्छ योनियों में दिखाई देते हैं, यह उनके कर्मों का ही परिणाम है। उच्च योनियों के जीवात्मा नीचे योनियों में और नीच योनियों के जीवात्मा उच्च योनियों में अपने कर्मा-नुसार ईश्वर प्रेरणा से आते-जाते रहते हैं। जो जीवात्मा अपने कर्मों को अति उच्च बना लेते हैं वह परलोक में ईश्वर के साथ रहकर परमानन्द भोगते हैं। जिन जीवात्माओं के कर्म बुरे होते हैं, उन्हें बार-बार जन्म लेकर दुःख भोगना पड़ता है।

0.7 **हज़रत मुहम्मद** (570-633) **और इस्लामी धर्म** : कुरान कर्मफल के विषय में तीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। एक तो यह कि कर्म फल अवश्य भोगना पड़ेगा। खुदा ने कुछ फरिश्ते जासूसी करने तथा मनुष्य मात्र के अहवाल की देखभाल को छोड़ रखे हैं। वे मनुष्यों के अच्छे और बुरे कामों के नोट लिखा करते हैं। हिसाब के दिन ये ईश्वर के सामने साक्षी देने को नियुक्त हैं। उस दिन खुदा के न्याय के लिए नरसिंहा फूके जाने पर सब मुर्दे जी उठते हैं, और वे कर्मानुसार सदा के लिए स्वर्ग या नरक में भेज दिए जाते हैं।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि फैसले के समय सब नबी व पैगम्बर आ जाते हैं और वे अपने पर ईमान लाने वालों के पाप अल्लाह से माफ करवा

देते हैं पर काफिरों के पाप क्षमा होने का प्राविधान नहीं है। कहा है—
"श्रल्ला जिसे चाहे बख्शेगा श्रौर जिसे चाहेगा दुख देगा।"

(सु० 2 श्रा० 283)।

तीसरा दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य को इस जन्म में जो कुछ सुख, दुःख, संताप, व्याधि, कष्ट, श्राराम मिलता है वह उनके कर्म का परिणाम न होकर खुदा की मर्ज़ी से है।

4

आत्मा (जीव) का अस्तित्व और पुनर्जन्म

4.01. दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रस्तुत वैदिक मान्यताएँ

पिछले समुल्लास में आत्माओं के जन्म जन्मान्तर कीं अपरिहार्यता का उल्लेख आया है। इससे तात्पर्य यह है कि सदा रहने वाला अनादि अमर आत्मा कर्म—फलानुसार भिन्न-भिन्न योनियों के स्थूल शरीर धारण कर प्रगट होता है।

प्राणि-शास्त्र में वर्णित विकास-वाद की स्थापित मर्यादा भी यह कहती है कि पशुओं से विकसित होकर ही मनुष्य वना है। इस पद्धति से पहली बार विज्ञान ने पशुओं से मनुष्य योनि का सम्बन्ध जोड़ा है। प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) का भाव जैसा का तैसा सूक्ष्म शरीर की क्रिया पद्धति में मिलता है कि शक्तिमान वासनाओं के संघात विजयी होकर आत्मा को बलपूर्वक तत्सम्बन्धी योनि में ले जाते हैं। यह प्रस्थापना मनुष्य से पशु योनि में जाना भी सम्भव कर देती है। विकासवाद भोजन से वीर्य और वीर्य से प्रजनन और उसमें प्राकृतिक चुनाव द्वारा उच्चतर यौनि में जाने की प्रक्रिया बताता है, पर प्रवृत्तियों की पुष्टि का फल भूल जाता है। पशु-पक्षी मनुष्य सबके वीर्य कण का बिन्दु एकसा ही है। प्रवृत्तियों का भेद वहाँ कहाँ से आया? इसलिए इस धारणा को वैदिक धारणा पूर्ण करती है कि प्रवृत्ति अमर जीव के साथ जाती है।

अब एक समस्या और हल करनी है, जिसका सम्बन्ध पुनर्जन्म में स्मृति-लोप से है। विस्मृति यों तो प्रभु का वरदान है। यदि हमें सब कुछ सदैव याद बना रहता तो एक पल भी जीना दूभर हो जाता। पशुओं में तो विस्मृति का होना न केवल उन्हीं के लिए वरन उनके प्रयोगकर्ता मनुष्य के लिए भी आवश्यक है। इसीलिए भारतवर्ष में मनुष्य की अन्त्येष्टि के समय शव में आग देकर थोड़ी प्रतीक्षा करते हैं और फिर लाठी से उसकी कपाल-क्रिया करते हैं। उसके मस्तिष्क की संरक्षिका खोपड़ी को तोड़ देते हैं ताकि जीवात्मा के साथ इस जन्म की स्मृति न जाए। ऐसा देखा गया है कि जो

बच्चा पिछले जन्म की बात बताता है, वह अकाल मृत्यु से (पूर्ण जीवन न पाकर) मर जाता है। इसी हित की दृष्टि से कपाल क्रिया की जाती है। भूलना इसीलिए भी आवश्यक है कि, मनोविज्ञान की दृष्टि से मन में एक समय में एक ही विचार रह सकता है। यदि एक ज्ञान न भूलें तो दूसरे के लिए स्थान ही नहीं बनेगा।

फिर ज्ञान भी दो प्रकार का है : स्वाभाविक और नैमैत्तिक। स्वाभाविक ज्ञान तो यह है कि 'मैं हूँ।' यह सदा स्मरण रहता है। नैमैत्तिक ज्ञानइन्द्रिय-संयोग से देश-काल-पात्रानुसार होता है। उन निमित्तियों के हटने पर उसका विस्मृत होना सिवाय कुछ विशेष परिस्थितियों के, सहज ही है।

यदि हम भारतवर्ष या संसार की जनसंख्या पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि 50 वर्ष में वह दुगुनी हो गई है। जीवों की संख्या तो निश्चित है। यह अतिरिक्त जीव निश्चय ही पशु-पक्षी की योनि से अपना भोग समाप्त करके आये हैं। पशु को तो एक जन्म में एक क्षण की भी बात याद नहीं रहती है। अस्तु इन्हें पूर्व-जन्म की बात स्मरण न होना बिल्कुल स्वाभाविक है। यही कारण हर नई पीढ़ी का पुरानी पीढ़ी से अधिक भौतिक-वादी होने का है। इसी न्याय से करोड़ों प्राणी जो अब पशु योनियों से आए हैं, अपनी पुरानी जीवन गाथा नहीं बता सकते।

इस सम्बन्ध में निम्न 4 सूत्र अवलोकनीय हैं :

1. इस जीवन के अनेकानेक अनुभव भी स्मृति से ओझल हो चुके हैं, पर वे अन्तःकरण में सुरक्षित रखे हैं।
2. चूंकि जन्म-जन्मान्तर अनेक हैं, अतएव हम अपने आप से ठीक पिछले जीवन के संस्मरण मात्र ही इस जीवन में पाने की व्यर्थ आशा रखते हैं। वास्तव में उससे भी पूर्व के हजारों जन्म-जन्मान्तरों के संस्मरण भी एक साथ उभर आने चाहिए। तब तो जीवन का हर क्षण भार बन जाएगा। अतः स्मृति-लोप वरदान है।
3. हाँ हर व्यक्ति के मरते समय की विचारधाराएं अन्तःकरण में जाकर घुल-मिल जायेंगीं और इन सबका समुच्चय ही यह निर्धारित करेगा कि अगला जन्म किस प्रकार के वातावरण में हो।
4. स्वतन्त्र विचारों की तरंग रह-रहकर मानस में उठती रहती हैं। उनमें परस्पर घर्षण होता है। यह घर्षण तुरन्त भी और कालान्तर में भी हो सकता है। अस्तु स्मृति-लोप पुनर्जन्म को असिद्ध करने में समर्थ नहीं है।

4.01.01. प्रत्यक्ष-प्रमाण

हमारी इस पीढ़ी में दो प्रयत्न वैज्ञानिक अनुभव-जन्य-पद्धति के आधार पर हुए हैं।

एक प्रयत्न तो अमेरिका की वरजीनिया यूनिवर्सिटी (Verginia University) के Neurology and Psychology विभाग के अध्यक्ष (Dean) डा० इयान स्टीवेन्सन (Ian Steevension) ने किया है। उन्होंने भूमण्डल के हर भाग और हर धर्म के

बीच जहाँ कहीं भी सूचना मिली, जाकर लगभग 1100 पुर्नजन्म की घटनाओं का विवरण प्राप्त किया और उन सबको प्रकाशित किया है।

दूसरा प्रयत्न भारतवर्ष में जयपुर विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान (Para-Pschycology Deptt.) विभाग के अध्यक्ष डा० चटर्जी का है जिन्होंने भारत और भारत से बाहर को 680 घटनाओं को संकलित करके उनको प्रकाशित किया है।

4.01.02 अनुमान-प्रमाण

चूंकि हम जीवित हैं और मरने पर अनुभूति नहीं रहती अतः प्रत्यक्ष रूप से अमरता का अनुभव हम कैसे करें ? अतः अनुमानादि का सहारा लेना ही पड़ता है।

1. प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु से डरता है। अतः सिद्ध है कि वह अनेक बार मर चुका है और तभी मृत्यु के अनुभवजन्य वे दुख उसे याद हैं।
2. पैदा होते ही बालक माता का स्तन पान बिना किसी के सिखाये करने लगता है। अतः स्पष्ट है कि उसमें यह ज्ञान और क्षमता पहले से है।
3. जन्म-जात संस्कार अहेतुक नहीं हो सकते। उनका आदि इतिहास पूर्व-जन्म से ही आया सम्भव हो सकता है।
4. बड़े होकर बच्चा भोजन के लिए रोता है। भूख लगना और रोकर उसको पाने की आशा में स्पष्ट ही उसकी पुरानी आदत का संकेत है।
5. बच्चों की उन्नति के भिन्न-भिन्न स्तरों का कारण भी पूर्व जन्म से है। यही-कारण उसके हँसने, रोने व भयभीत होने का है।
6. पैदा होते ही बच्चा रोता हुआ होता है, पर साधारण इशारे से जग जाता है। सांकेतिक भाषा का अर्थ समझने की बुद्धि भी पूर्व जन्म से है।
7. पशुओं में सारी प्रवृत्ति स्वाभाविक एवं बार-बार वैसा करने (Reflex) से नहीं बनी है। भोजन सम्बन्धी, आत्म सम्बन्धी, सन्तानोत्पादन और सन्तान-पालन—यह सब कार्य बुद्धिपूर्वक हैं। यह सब (Reflex Action) परावर्तित क्रिया नहीं है। पशु का कार्य बिना ध्यान या तैयारी के नहीं होता है। बाद में पशु की प्रवृत्तियों पर शिक्षा का प्रभाव पड़ जाता है। सिद्ध है कि पशु भी इन क्रियाओं का ज्ञान पूर्व जन्म से ही लाया है। वासनाओं का प्रभाव केन्द्रित करने की थोड़ी बुद्धि उसमें भी होती है।
8. अभ्यास से तर्क का समय घट जाता है और वह प्रवृत्ति मालूम होती है। शिक्षा का प्रभाव मस्तिष्क यन्त्र की बनावट पर निर्भर होता है।
9. सद्योत्पन्न मनुष्य या बन्दर के बच्चे को व्यायाम वाली समानान्तर छड़ों (Parallel Bars.) पर छोड़ दें तो वह हाथ उठाकर उन्हें दोनों ओर पकड़ लेता है। इससे पूर्व जन्म में अर्जित संस्कारों का लाया जाना सिद्ध है।
10. मनुष्य का शरीर जिस गति से क्षीण हो रहा है, उस गति से उसकी आत्मा नहीं। वह तो मँझकर योग्यतर होती है। अतः उसका चिरायु होना आवश्यक

है, अन्यथा इस उत्थान का कोई प्रयोजन नहीं है।

11. विश्व बढ़ रहा है। उत्पादन बढ़ रहा है। सो समाप्त होने के लिए नहीं। उसकी उपादेयता हेतु जीवों की यथेष्ठ संख्या आवश्यक है।
12. सत्कार्य और सुफल का साथ नहीं दीखता। आगे पीछे दिखाई देते हैं। अतः जीवन अमर होना चाहिए।
13. प्रकृति में श्रम और श्रम के उपरान्त आराम और तदनन्तर फिर श्रम का क्रम है। यही क्रम पुनः-पुनः जन्मने और मरने में होना चाहिए।
14. किसी को देखते ही स्वाभाविक प्रसन्नता या क्रोध की मुद्रा तथा कभी-कभी प्रथम दर्शन पर ही किसी लड़की से प्रेम हो जाता है, जो पूर्व जन्म की आत्मिक जान-पहिचान के ही कारण है।
15. पार का भाव तभी आता है जब अपारता अन्दर से जोर मारती है। अपारता का प्रकटीकरण अमरता ही के कारण है।

4.01. (03-04) **उपमान व तुलना प्रमाण**

1. सृष्टि की सारी वस्तुओं में उत्पत्ति फिर विकास, तदनन्तर क्षय होने का क्रम है।
2. नेत्र और कान के अस्तित्व से क्रमशः प्रकाश और शब्द की आवश्यकता और अस्तित्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार अमर जीवन की आशा से अमरता का अस्तित्व सिद्ध होता है।
3. विश्व की सुन्दरता व सत्य अमर है, तो उसका अनुभवकर्ता जीव भी अमर होना चाहिए।
4. शक्ति अनन्त है। उसी प्रकार आत्मिक शक्ति भी अमर है। प्रेम तथा सत्य की शक्ति भी अनन्त है।
   Principle of conservation of energy is only the physical equivalent of what philosophy has discovered about immoratality of soul.
5. ईमानदारी और नैतिकता की विजय होती है। अतः आत्मा भी अमर है।
   What is trues will be conducive to Life and that which is false will destroy life. Immortality makes great living.
6. प्राकृतिक पदार्थों की मृत्यु का अर्थ है उनका रूप परिवर्तन। मनुष्य की मृत्यु का भी अर्थ है स्थूल शरीर का बदलना। अणु-परमाणु अमर हैं, तो आत्मा भी अमर है। सृष्टि रचना का इसी प्रकार क्रमबद्ध प्रयोजन सिद्ध है। सृजन का एक अंश विनाश रहित और एक विनाश सहित नहीं हो सकता। इससे संतुलन (Equilibirium) बिगड़ जाएगी।
7. अस्तु यदि आत्मा पदार्थ है तो अमर है और यदि गुणों का संग्रह है तो

जिसके गुणों का संग्रह है, उसके गुणों का न्यूनाधिक्य भी सदैव रहेगा।

4.01.05 शब्द प्रमाण

जन्म से पहले और मृत्यु के बाद की फल स्थापना मुख्यतया बुद्धिपरक है। उसका निश्चय पूर्णतया प्रत्यक्ष से ही नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में ईश्वरीय ज्ञान (Revealation) में देखना होगा कि वहाँ इस विषय में क्या कहा गया है? संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक वेद है। जो सबसे प्राचीनतम होता है, वह प्रभु की ओर से ही होता है। इसलिए वह पक्षपात रहित होता है क्योंकि तब तक पक्षपात (Prejudice) होने का कोई कारण ही नहीं था। मनुष्य की पहुँच के बाहर का विषय वेद में वर्णित है, अतः वे किसी मनुष्य की कृति नहीं है। दयानन्द सरस्वती इसे सब सत्य विद्या की ईश्वरीय पुस्तक मानते हैं।

अतः देखना होगा कि वेद इस विषय में क्या कहते हैं—

हम यहाँ वेदों का कथन उद्धृत करते हैं—(ऋग्वेद से)

कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम् मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुर्नदात्पिवरं च दृशेयं मातरं च॥ 1-24—1 एवं 2॥

पहिले मन्त्र में प्रश्न है। दूसरे में उत्तर है। अर्थ स्पष्ट है।

4.01.06 ऐतिह्य-प्रमाण

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि नत्वं वेत्थ परंतप॥ (गीता 4-3)

महाराज कृष्ण कहते हैं:

(हे अर्जुन; मेरे बहुत से जन्म बीते हैं। उनको मैं जानता हूँ। पर तुम अपने पूर्व जन्मों को नहीं जानते हो।)

जातक कथाओं में बुद्ध के कई जन्मों की कथायें वर्णित हैं, जब बोधिसत्व के रूप में उन्होंने भिन्न योनियों में जन्म लिए थे—

1. दूरे निदान जातक—एक जन्म में गौतम अमरावती में सुमेध ब्राह्मण करके जन्मे थे।
2. कौन्डिल्य जातक में बुद्ध रम्भवती नगरी में सुनन्द क्षत्रिय के घर जन्म लिए थे। सुमन बुद्ध अतुल नाम से नागराज थे। इत्यादि।
3. अब दूर निदान जातक में बुद्ध के पूर्व जीवन-स्थल का जंगल (संथाल परगना), थानेश्वर आदि मे होना वर्णित है।
4. मतक भंत्त जातक में बोधिसत्व भेड़ बताए गये हैं।

5. कुरंगमिग जातक में गौतम मृग थे।
6. कुक्कुर जातक में गौतम के पूर्व में कुक्कुर योनि में जन्म लेने की कथा वर्णित है।
7. नच्च जातक में हंस योनि में उनके जन्म की कथा है।
8. दुम्मेर्घ जातक में बुद्ध के राजकुमार जीवन के पूर्व जन्म की गाथा है।
9. पंचबुधजातक में एक और जन्म की कथा वर्णित है। तब बुद्ध तक्षशिला में शास्त्रार्थ करना सीखने गए थे।
10. मच्छ जातक में बुद्ध कहते हैं कि पूर्व जन्म में मछली की योनि में पैदा होकर भी मैंने माँस नहीं खाया।
11. इल्लीस जातक में गौतम का एक जन्म नाई के घर लेने की कथा वर्णित है।

यहूदियों की धर्म पुस्तक टालाद में लिखा है कि हाबील का आत्मा पहिले एक व्यौपारी सेठ के शरीर में गया और फिर हजरत मूसा के। यह कथा ऐसी ही ईसाइयों की धर्म पुस्तक मत्ती (बायबिल) में 16वें अध्याय में आयत 13 से 15 तक दुहराई गई है।

बाइबिल (मत्ती) पर्व 11 आयत 10 से 13 तक यह स्पष्ट करती है कि युहिन्ना बपतिस्मा देने वाला पूर्व जन्म का एलियाह नवी था।

4.01.07 **अर्थापत्ति-प्रमाण** (Presumption)

(अ) और इतिहास बताता है कि मानव मस्तिष्क ने शासन-पद्धतियों का निर्माण किया है। हर अच्छे शासक ने राज्य में कल्याणकारी कार्य किए हैं, वृक्ष लगाए हैं, कुएँ खोदे हैं, बाँध बनाए हैं और पंचवर्षीय एवं सप्तवर्षीय विकास योजनाएँ बनाई हैं। उन-उन शासकों और उनकी प्रजाओं का तो स्वल्प जीवन था जिसमें यह वृक्ष फल नहीं दे सकते थे। परन्तु वे जानते थे कि वे ही बार-बार इस अवनी तल पर आकर इन सुख-सुविधाओं का प्रयोग करेंगे। यदि ऐसी आस्था न होती तो स्वार्थी मनुष्य इन पर अपना श्रम व धन व्यय न करता। यदि उसका यह विश्वास होता कि "आप मरे जग परलो" ही होती है, तो वह भविष्य की इन योजनाओं पर माथापच्ची कदापि न करता।

(ब) प्रभु-दत्त वृत्तियाँ और सिद्धियाँ भी यह सिद्ध करती हैं कि एक जीवन मनुष्य के विकास के लिए यथेष्ट नहीं है।

(स) एक जीवन मनुष्य के द्वारा सद् विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी यथेष्ट नहीं है।

(द) एक जीवन अपने सम्पूर्ण कर्मों के फल भुगतने के लिए भी यथेष्ट नहीं है।

(य) वासनाओं का जो ढेर आत्मा पर लग जाता है, एक जीवन उनसे निवृत्त होने को भी यथेष्ट नहीं है ।

(र) संसार की रचना की आधारशिला न्याय पर ही होनी चाहिए । भिन्न-भिन्न मनुष्यों की शारीरिक एवं बौद्धिक प्रगति और साधन सम्पन्नता में अनेक रसता का विश्लेषण बिना पुनर्जन्म माने नहीं हो सकता ।

5

ईश्वर विषयक दयानन्द सरस्वती द्वारा पुनः प्रस्तुत वैदिक मान्यता

5.01 सृष्टि रचयिता ईश्वर

महर्षि कपिल की परम्परा में दयानन्द सरस्वती ने भी प्रकृति को पुरुष ही की भाँति अनादि माना है। मूल प्रकृति पदार्थ की कारण रूप स्थिति है। उसमें परिवर्तन होने से ही सृष्टि के पदार्थ बनने लगते हैं, तब उसे विकृति कहते हैं। प्रति सर्ग के प्रारम्भ में मूल प्रकृति में कम्पन प्रभु की इच्छा से ही होता है। तत्त्वों का भिन्न-भिन्न परिमाण में मिलकर भिन्न-भिन्न वस्तुओं में बदल जाना उस पुरुष के ज्ञान के अन्तर्गत होता है। इसीलिए हम उस पुरुष को जगन्नियंता कहते हैं। अचेतन पदार्थ में तो स्वयं भी न कम्पन शक्ति है और न अपेक्षित ज्ञान ही। यह उस परम पुरुष की ओर से है। योग दर्शन के अनुसार परम पुरुष इन दोनों अर्थात् जीवों तथा प्रकृति के अन्दर व्याप्त होकर इन दोनों को गति देता है। सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया उसके ईक्षण से तथा उसके गर्भ में छिपी परिकल्पना (योजना) के अनुसार होती है।

5.02 सृष्टि रचना का प्रयोजन

इस सृष्टि रचना का प्रयोजन क्या है ? हमें तीन प्रयोजन दिखाई देते हैं। सांख्य दर्शन के तीन सूत्रों में ये दर्शाये गये हैं :

01. संहर्तपरार्थत्वात्

(जो कुछ संघात समुदाय अर्थात् परमाणुओं के मिलन से उत्पन्न इस संसार में दिखाई देता है, यह सब स्वयं अपने लिए नहीं है। अन्य के प्रयोजन के लिए है।)

02. भोक्तृभावात्।

03. केवल्यार्थ प्रवृत्तेः ।

यह सृष्टि इन जीवों के भोग के लिए है । तीसरा उद्देश्य इन भोगों के मा यम से मनुष्यों में यह रुचि उत्पन्न करना है कि नित्य कर्म के लिए आवश्यक भोगों में लिप्त न होते जायें । भोग-तामसिक प्रकृति से सम्मिलन कराते हैं ।

5.03 जीवों में उत्पादन का बंटवारा

यों सृष्टि रचना के सम्बन्ध में ईश्वर विषय की ऊहा-पोह करना राजदर्शन की परिधि में नहीं है । पर एक बार ईश्वर द्वारा पदार्थ सृजन की क्रिया हुए उपरान्त भिन्न-भिन्न पदार्थों को मिला के नये पदार्थ स्वयं हम (मानव) उपजाते जायेंगे । यदि मूल भोगों के प्रस्तुत कर्ता को धन्यवाद दे लिया करें अथवा उसकी महानता के सामने अपने को लघु अनुभव कर लिया करें तो उत्तम ही है । धन्यवाद प्रक्रिया से मनुष्य में कृतज्ञता एवं लघुता के भाव उदित होंगे जो समाज के लिए अत्यावश्यक है . परन्तु अगला प्रश्न भोगों के बंटवारे का है । हर व्यक्ति को उसके किये कर्मों के अनुसार भोग पदार्थ वितरित करने का है ।

जैसाकि पहले कह आये हैं त्रैतवाद के अनुसार जीव 4 स्थितियों में हैं :

1. मुक्त जीव जो संसार के भोगों से तृप्त हो, उनसे विरत होकर कैवल्य को प्राप्त हो गये हैं, और नियत अवधि बीतने पर ही पुनः संसार में वापिस आवेंगे ।
2. वे जीव जिन्होंने अभी जन्म धारा ही नहीं है ।
3. वे जीव जो मनुष्य योनियों में है ।
4. वे जीव जो भोग योनियों अर्थात् पशु-पक्षी आदि हैं ।

इन चारों क्षेत्रों में भोगों के कर्मानुसार वितरण और उसका हिसाब-किताब रखने और उसकी व्यवस्था करने की आवश्यकता है । प्रथम और द्वितीय श्रेणी वाले तो आवश्यकताओं से परे अवश्य हैं, पर किसके कर्म का फल अब समाप्त होता है और अनन्तर किसे कौन-सा कार्य सौंपकर कहाँ भेजना है, इतनी व्यवस्था तो इनकी भी होनी ही चाहिए । और यह भी स्पष्ट है कि पशु-पक्षी अपनी-अपनी व्यवस्था नहीं कर सकते, तथापि जीवन यापन की उनकी आवश्यकतायें भी हैं, जिन्हें वे स्वयं नही जुटा सकते । न मनुष्य ही ऐसा करने को कृत संकल्प या इच्छुक है । 84 करोड़ योनियों में से 90 प्रतिशत ऐसी हैं जिनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में मनुष्य आता ही नहीं है । और यदि उन-उन जाति के पशु-पक्षियों को मनुष्य के सहारे या स्वतन्त्र बुद्धि पर छोड़ दिया जाये तो यह हजरत उन सबको मारकर खा जावें और अनेकों नस्लों को ही समाप्त कर दें ।

वह अकेला ईश्वर ही इस संसार पर सहस्र चक्षु वाला होकर शासन करता है । यजुर्वेद में एक स्थल पर यों कहा है :

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्यात् ।
बाहुभ्यांधमति पतात्रैधिवाभूमीजन्यन् देव एकः ।। यजुर्वेद ।।

दयानन्द सरस्वती ने इसका यों भाष्य किया है :

विश्व (सब जगत में) जिसका चक्षु (दृष्टि) है। जिसके अदृष्ट कोई वस्तु नहीं है, तथा जिसके सर्वत्र मुख, बाहु, पग अन्य श्रोत्रादि हैं अर्थात् सर्व दृक्, सर्ववक्ता, सर्वधारक और सर्वत्र पहुँच वाला वह है। पृथिवी से ले के स्वर्ग पर्यन्त, जिस-जिसने जैसा पाप या पुण्य कर्म किया है उस-उसको वह पक्षपात छोड़कर अनन्त बल और पराक्रम इन दोनों बाहुओं से सम्यक् प्राप्त होने वाले सुख-दुख फल दान से सब जीवों को धमति (धमन=कम्पन) यथायोग्य जन्म-मरणादि को प्राप्त कर रहा है।

5.04. ईश्वर को मानने से सामाजिक लाभ

ईश्वर को मानने और उसे ही आदर्शवत् मानने से 'वैयक्तिक लाभ सम्भवतः कम पर सामाजिक लाभ अधिक हैं। राज्य शक्ति की स्थापना के जो उद्देश्य-नैतिक-विकास, चरित्रिक स्थिरता और न्याय-पथ का निर्माण आदि है—उनमें आस्तिक्य और ईश्वर को परमादर्श मान तदनुकूल आचरण करने के विधेयक, परम सहायक हैं।

01. परमात्मा को हरेक व्यक्ति द्वारा माता-पिता मानने से सब जन भाई सिद्ध होते हैं, और परस्पर सुख-दुख में सम्मिलित होकर उसे बंटाने की इच्छा और परस्पर हिंसा न करने की भावना जागृत होती है।

02. परमात्मा विश्व-दिधान के नियमों का नियामक है। यह स्वयं उन नियमों से बँधा है। इससे अनुशासन में चलने, चलाने का भाव मनुष्य में उद्बोधित होता है।

03. परमात्मा को सबसे बड़ा मानने से हममें लघुता के भाव उत्पन्न होते हैं। जो जन-मानस अपने को लघु समझता है वह दूसरे पर गर्वोक्ति से नहीं छा जाता है और न ही दूसरे के श्रम से उत्पादित भोगों को बलात उससे हरण करने को उद्यत होगा।

04. परमात्मा को मन्यु रूप कहकर उससे मन्यु की माँग की गई है। (मन्युरसि मन्युम् मयि धेहि—वेद)। सात्विक क्रोध का ही नाम मन्यु है। सात्विक क्रोध आये बिना अधिकारी पापी को दण्ड देने की भीषण प्रतिज्ञा या कर्तृत्वता नहीं निभा सकता।

05. परमात्मा "सह" है। नास्तिकों को भी भोग पदार्थ उपलब्ध कराता है। मानव-टोली और राज्य शक्ति अपने समालोचकों और विरोधियों को भी अवलम्बन पदार्थ एवं मौलिक अधिकार उपलब्ध कराने की प्रेरणा ईश्वर से ही पाती है।

06. दयालुतावश परमात्मा पापी को भी प्रकृति के भोग्य पदार्थ व सेवा उपलब्ध कराते हैं। यह परोपकार की वृत्ति का उत्पादक प्रसंग है।

07. पक्षपातरहित सर्वदा शुद्ध न्याय का विशेषण ऐहिक न्यायाधीशों को अनुकरणीय है।
08. सर्व व्याप्त होने से वे सर्वत्र स्थित पुलिस (Universal Police) का-सा कार्य करते हैं। जन-मानस कहीं भी भागकर उसकी न्याय-दांढ़ से बचकर नहीं जा सकते। इस भय से प्रजा में आतंक रहता है।
09. परमात्मा सदा कार्यरत हो विश्व का कार्य संचालन करते हैं। हमें भी जागृत-उत्तिष्ठ होकर सदैव यायावर: रहना चाहिए क्योंकि काठक संहिता में कहा है "यायावर: क्षेमस्येशे"। सतत कार्यशील पुरुष क्षेम को प्राप्त होते हैं।
10. परमात्मा का रक्षक भाव हरेक हीन व्यक्ति में सत्कार्य के लिए जुट जाने का भाव प्रस्तुत करता है।
11. नि:संग, शुद्ध, निष्पाप, मुक्त आदि विशेषण ऐसे आदर्श की प्रस्थापना करते हैं जिनका अनुसरण मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाता है।

इसी आत्म शोधक तथा चारित्रिक उत्साह और विकासोन्मुख प्रक्रिया का शुभ संकल्प आस्तिक-प्रवर रवीन्द्र नाथ टैगोर ने 203 गीतों वाली गीतांजली के 202वें गीत में किया है :

प्राणों के प्राण : मैं अपनी देह को निर्मल रखूंगा,
क्योंकि मेरे अंग अंग पर तेरा स्पर्श है।
अपने विचारों को असत्य से धूमिल न होने दूंगा,
क्योंकि तूने सत्य के दीपक से मेरे विवेक को प्रकाशित किया है।
मैं अपने हृदय में पापों का प्रवेश न होने दूंगा,
क्योंकि वहाँ तेरी मूर्ति प्रतिष्ठापित है।
मेरे सब कार्यों में तेरी ही अभिव्यक्ति होगी,
तेरी ही प्रेरणा होगी।
(सत्यकाम विद्यालंकार द्वारा अनूदित)।

5.05 आध्यात्मिक चिन्तन का उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मा, ईश्वर, कर्म, कर्मफल और परोपकारीय कर्म—इनका सम्मिलित नाम अध्यात्म है। पूर्वकाल में वृहस्पति ने अर्थ और राज-तत्व पर लिखा था और वे अनात्मवादी थे, अत: उनका दर्शन अध्यात्म से रहित था। शुक्राचार्य ने भी ऐसा ही पथ अनुसरण किया था। आचार्य कौटिल्य दोनों को नमस्कार तो करते हैं, पर अध्यात्म के अनुसार ही अपने तन्त्र की रचना करते हैं। अस्तु अर्थ-तन्त्र दोनों प्रकार का हो सकता है। अध्यात्म से तात्पर्य मूल दार्शनिक मान्यताओं से है। उन पर आधारित रूढ़ियों या कर्म-काण्ड से नहीं है। उन्हें तो उन-उन मतों के आचार्य काल-क्रम से सदा बदलते रहते हैं, मूल दर्शन का प्रभाव अर्थ-तन्त्र पर अवश्य पड़ता है। उत्पादक कर्ता यन्त्र या यन्त्रवत् नहीं है। वह बौद्धिक, चेतनशील मनुष्य है।

उत्पादन और दैनिकक्रिया कलाप में उसकी कुछ महत्त्वाकांक्षा तथा आदर्श होते हैं। उन आदर्शों के बिना वह कुछ नहीं कर सकता। अध्यात्म, उसे वे आदर्श ही देकर संसार को रहने योग्य बनाता है। उसी के अनुसार उसके कर्म की मर्यादा और विधि-निषेधों का आविष्कार होकर आचार-पद्धति का निर्माण होता है। इस मर्यादा, विधि, निषेध तथा आचार के आधार पर ही उसके समाज और राज्य के सिद्धान्त निश्चित होते हैं। हमने इसीलिए अध्यात्म की व्याख्या के साथ इस विचार सारिणी को प्रारम्भ किया था।

अर्थ-तन्त्र की प्रक्रिया का अध्यात्म से वैर नहीं है। अनातमवाद और घोर अर्थ-तन्त्र में कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं है। एक के बिना लाये भी दूसरा लाया जा सकता है।

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का प्रथम मंत्र यों हैं :—

ईशावास्यमिदꣳसर्वम् यत्किञ्च जगत्याम् जगत्।

जगत में जो कुछ है वह ईश्वर से आच्छादित है। अर्थात् सब शक्तियों का स्रोत (Source of Sovereignty) वही है। इस सिद्धान्त से त्रुटियों में भरे हुए किसी मानव को अथवा समुदाय के बहुल (बहुमतीय) अंश मात्र में प्रभुसत्ता का निवास नहीं हो सकता। कैसा विपर्यय है कि नाम तो है प्रभुसत्ता पर वह निहित हो प्रभु के पुत्रों-मनुष्यों में। आचार्य दयानन्द सरस्वती ने यह भाव यों व्यक्त किया है :

अपनी पुस्तक आर्याभिविनय के दूसरे स्कन्द में क्रम 52 पर यजुर्वेद अध्याय 32 का तेरहवाँ मंत्र उद्धृत करके उन्होंने उसका यों अर्थ किया है :—

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषꣳस्वाहा।

हे सभापते, विद्यामय, न्याय-कारिन्! हम सभासद, सभाप्रिय हों। सभा ही हमारा राजा न्यायकारी हो। ऐसी इच्छा वाला ही आप हमको कीजिए। किसी एक मनुष्य को हम लोग राजा कभी न बनावें, किन्तु आपको ही हम लोग सभापति, सभाध्यक्ष, राजा मानें। आप अद्भुत, आश्चर्य, विचित्र शक्तिमय हैं, तथा प्रिय स्वरूप ही हैं। इन्द्र जो जीव (हैं), उसके कमनीय (कामना योग्य) आप ही हैं। "सुनिम्" सम्पर्क भजनीय और सेव्य भी सब जीवों के आप ही हैं। मेधाम विद्या सत्यधर्मादि धारण वाली बुद्धि को, हे भगवान्, मैं याचता हूँ। सो आप कृपा करके मुझे देओ। "स्वाहा" यही स्वकीय वाक् आह कहती है कि (I solemnly affirm that) ईश्वर से भिन्न कोई जीवों को सेव्य नहीं है (We owe true allegiance to none but God) ऐसी वेद में ईश्वराज्ञा है, जो सब मनुष्यों को अवश्य मानना योग्य है।

सभा का प्रकरण आगे उठाया जायेगा। पर सभापति तो मात्र ईश्वर ही है जिसमें प्रभुसत्ता निष्पन्न होती है और न्याय पर आधारित होने से Discretion और Veto स्वाधिकार और निषेधाधिकार उसी में निहित है, अन्य किसी में नहीं।

त्रैत-वादीय वैदिक-दर्शन

समुल्लास 6 से 10 तक

समुल्लास-6

वैदिक त्रैत न कि द्वन्द्व

त्रैत-जनित अष्ट चक्र एवं नव-द्वार।

अर्थात्

समाज की आठ क्रान्तियाँ

और

उसकी नौ स्थितियाँ

6

समाज की आठ क्रान्तियाँ और उसकी नौ स्थितियाँ

6.01. समाज की आद्य वैराग्य—स्थिति से प्रथम नियन्त्रण—शक्ति की स्थापना

6.01.01. आदि की अमैथुनी सृष्टि

पार्थिव पदार्थों में क्रमशः आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न और अन्न से वीर्य और रज तथा इससे पुरुष का शरीर बना। इस शरीर में संस्कार युक्त आत्मा आकर विराजमान हो गया। और मनुष्य प्रगट हो गया। रज और वीर्य के मिलन से ही सृष्टि की हर योनि प्रगट होती है। पूर्व में यह मिलन खुली प्रकृति मे होता है। अनन्तर माता के गर्भादि में होने लगा।

आरम्भ की अयोनिज सृष्टि में हर योनि के जोड़े प्रगट होते हैं। स्त्री भी मनुष्य की पसली से नहीं बनाई गई है। दोनों साथ-साथ प्रगट हुए थे। और उस समय ये बालक या कुमार न होकर युवा होते थे। पर उपरिर्वाणत चारों प्रकार की सृष्टि और आदि के युवा जोड़े माता-पिता के गर्भ में बनकर प्रगट नहीं हुए थे। उनका प्रकार ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त (मंडल 1 सूक्त 164) में यों वर्णित है :

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा वीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥
युक्ता मातासीण्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भोवृजनीष्वन्तः।
अमीभेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥

(मंत्र 8 एवं 9)

इसका भाष्य गुरुदत्त वैद्य ने "विश्वेदेवा" पुस्तक के पृष्ठ 62-63 पर यों किया है :

सृष्टि के आदि में माता-पिता के स्थानापन्न अर्थात् वैसा ही कार्य करने वाले प्रगट हुए। पृथ्वी माता के रूप में थी और सूर्य पिता के रूप में। संयोग की इच्छा

वाली पृथ्वी ने सूर्य को चारों ओर से प्राप्त किया और गर्भ से निबद्ध हो गई। इस संयोग से ज्ञानवान् मनुष्य उत्पन्न हुए, जो बोलते थे अर्थात् शब्द उच्चारण करते थे। उनमें प्रेरणा प्रभु की ही थी। ऋ० 10-12-129-4 एवं 5 में भी यही कहा है कि एक कामना जो बीज रूप में पृथ्वी पर व्याप्त हुई, उसीसे सृष्टि रचना हुई।

पृथ्वी के धुर दक्षिण में किसी स्थान पर सूर्य की किरणों से तेज रूप वीर्य बरसा और पृथ्वी के गर्भ ठहर गया। जीवात्मा ने गर्भ ठहरा हुआ देखा तो वह पीछे उसमें आ गया। और तीन प्रकार की सृष्टि—जेरज, अण्डज और स्वेदज हुई। चौथी स्थावर (वनस्पति) भिन्न प्रकार से हुई।

6.01.02. वैराज्य की सुखद स्थिति

आदि की उपरोक्त वर्णित अमैथुनी सृष्टि में कुछेक स्त्री-पुरुष तो मुक्ति का सुख भोग कर लौटे थे, पर बहु-संख्यक अपने पूर्व कल्प के शेष कर्मों के प्रभाव से उत्पन्न हुए थे। इनमें परस्पर रक्त-सम्बन्ध न होने से ममता-मोह नहीं था। उनकी प्रवृत्ति भी सात्विक थी। प्रकृति-माता स्वयं उनके लिए कन्द-मूल फल उपस्थित कर देती थी। वृक्षों से फल बिना किसी परिश्रम के प्राप्त होते थे जो, उस सीमित जनसंख्या के लिए पर्याप्त थे। आर्य दर्शन ने चीनी दार्शनिक (Mo Tze) की तरह यह नहीं कहा कि आदि सृष्टि में मनुष्य पापी था। न ही इस यहूदी मान्यता में इसकी आस्था है कि अंजीर के उस वृक्ष के जो अदन में स्थित था, फल खा लेने पर ईश्वर ने आदम को पृथ्वी पर धकेल दिया और तब से आज तक मनुष्य जाति ईश्वर की उस अनुज्ञा का उल्लंघन करने के पाप का फल भोगती आ रही है। यह प्रकृति और इसके नाना पदार्थ तो स्वयं प्रभु ने इन मनुष्यों और जीव जन्तुओं के भोग-उपभोग के लिए प्रस्तुत किये थे। पर चूंकि वे बिना श्रम के मिलते थे और लोगों के रक्त सम्बन्ध के प्रभाव से उत्पन्न ममता का मोह नहीं था, अतः हरेक अपने उपभोग योग्य वस्तु ही ले लेता था। संग्रह की भी आवश्यकता न थी। अतः मनुष्य अतिक्रमण नहीं करता था। मनुष्य की यह सुखद स्थिति थी, पापमय नहीं। मनुष्य में बुद्धि थी और वह दूसरों की आवश्यकताय भी समझता था। उस समय किसी नियन्त्रक को भी आवश्यकता न थी—आदि में सारे सम्पर्क राजा के बिना धर्म से ही प्रतिबन्धित थे। महाभारत में इसका पूर्ण संकेत है।

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणेव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म पस्स्परम्॥
पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजम्मुस्ततस्तान् मोह आविशत्।

पहले न कोई राजा था न राज्य, न दण्ड था न दण्ड देने वाला। समस्त प्रजा धर्म द्वारा ही एक दूसरे की रक्षा करती थी। सब लोग धर्म के द्वारा परस्पर पालित और पोषित थे। क्योंकि सर्वज्ञ की कृति पूर्ण ही थी। पीछे इन परस्पर के संरक्षण में कष्ट अनुभव होने लगा। तब सब ओर मोह छा गया। और

तब विपरीतता (Anti-Thesis) प्रारम्भ हुई। उस उल्टे परिवर्तन का वर्णन आगे के श्लोक 17 से 20 तक में यों आया है :

नष्टायां प्रतिपत्तो च मोहवश्या नरास्तदा ।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥
अप्राप्तस्यामिमर्शतु कुर्वन्तो मनुजास्ततः ।
कामोनामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वे प्रभो ॥
तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रामोनाम समस्पृशत् ।
रक्ताश्चनाम्यजानन्त कार्या कार्ये युधिष्ठिर ॥
अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्य तथैव च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥

(अंकुश न होने से)—तब मनुष्यों में कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नष्ट हो गया। मनुष्य लोभ के आधीन हो गये। जो वस्तु उनको प्राप्त न थी, उसे पाने का यत्न करने लगे। इस काम के कारण उनमें राग उत्पन्न हुआ और वे कर्तव्या-कर्तव्य का भेद भूल गये। तब उन्होंने गम्यागम्य, वाच्यावाच्य, भक्ष्याभक्ष्य, दोषादोष, कुछ भी न छोड़ा।

यही क्रान्ति की पृष्ठभूमि है। तब चिन्तकों ने सोचा कि क्या यह सब ऐसा ही चलेगा ? फलतः क्रान्ति हुई। वैराज्य की इस स्थिति में उक्त दोष आरम्भ में भी पैदा हुए थे और आज राज्य को तिरोहित करके वैराज्य की स्थिति को आदर्श मानने वाले लोगों की आँखें खोलने वाली ही उपरोक्त व्युत्पत्ति है कि परस्पर धर्मयुक्त सम्बन्धों के अंकुशहीन होने पर बिगड़कर पुनः ऐसे ही हो जाने की यथार्थ सम्भावना है। आगे श्लोक 28 से 30 में यह कहा है कि इस अवस्था को देख धर्म, अर्थ, काम को अनुबन्धित करने के लिए त्रिवर्ग वाला नीति शास्त्र परमात्मा की आज्ञा से ऋषियों ने रचा।

6.01.03. स्त्री-पुरुष में कामेच्छा :—

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के 25वें मन्त्र ने यों कहकर कामेच्छा के सूत्रपात का वर्णन किया है :

कन्यायां वर्चो यद भूमे तेनास्यां अवि संसृज ।
मानो द्विक्षत कश्चन ।

(कुमारी कन्या में आदि पुरुष ने सारी चमक देखी)

सो यहूदी वाङ्मय की सृष्टि—सृजन की गाथा का इतना अंश सत्य लगता है कि अदन के बाग का फल खाकर आदम में कामेच्छा जागृत हुई थी। प्रारम्भ में मुक्त-प्रेम की प्रथा रही होगी। पर जब मनुष्यों ने देखा कि इस परस्पर मैथुन से तो स्त्री गर्भवती होकर सन्तान को जन्म देती है, तब तो उस संतान के पालन-पोषण का प्रश्न उठ खड़ा हुआ होगा। स्त्री के अंग दुर्बल थे। उसे प्रसन्न रखने का प्रश्न था।

उन्होंने देखा कि विधना की सृष्टि में स्त्री और पुरुष संख्या में बराबर थे। आज लाखों वर्ष बाद भी बराबर हैं। तब उन्होंने वेद के विधान को पढ़ा और यह पाया कि एक पुरुष की एक ही स्त्री हो। और उसे पति कहा जावे। मैथुन को पवित्रता की संज्ञा दी गयी। सन्तानोत्पत्ति को यज्ञ की संज्ञा दी गई।

याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति (श्लोक-71) में कहते हैं कि सोम देवता ने स्त्रियों को शुचि दे दी है। गन्धर्व ने मीठी बोली और अग्नि ने सब प्रकार पवित्र होने की शक्ति दी है। इसलिए स्त्रियां पवित्र होती हैं। इस प्रकार सृष्टि में सर्व प्रथम नियम बनाये गये।

6.01.04. संभोग क्रिया का पवित्रीकरण—

यौन सम्बन्ध होते देख पड़ोसियों ने उनसे कहा—

आ रोह तल्पं सुमनस्य मानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।
इन्द्रणाव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्राउषसः प्रति जागरासि ।।
देवा अग्रेन्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या संभवेह ।।

अथर्ववेद 14/2/31-32

(ऐ स्त्री—शुभ चित्त वाली होकर पति के लिए संतान उत्पन्न कर। दिन में उषा-काल में उत्तम बुद्धि होकर जगाकर। रात्रि में पूर्व काल की ही तरह पति के साथ शयन कर और सूर्य के समान ऐश्वर्य से विश्वरूप होकर पति के साथ मिलकर गर्भ ग्रहण कर।)

इसमें पति-पत्नी की कल्पना है और मुक्त-प्रेम का सोद्देश्य विनियोजन है। यहाँ से नियम के बल पर ही नियन्त्रण चलाया गया। संभोग क्रिया को पवित्र बना दिया गया। इसके प्रतीक रूप में न केवल इस देश में बल्कि सारे सभ्य प्रांगण में जिस स्थापत्य कला का निर्माण हुआ, यह शैव मन्दिरों के रूप में प्रगट हुई। इस वास्तु कला में मन्दिर की छत पर गुम्बद बनाया जाता है जो लिंग के नीचे के भाग का चित्र है। अन्दर त्रिकोणाकार योनि होती है और उसके बीच में लिंग स्थापित किया जाता है। आज तक लोग इस संभोग क्रिया की भक्ति-पूर्वक पूजा करते हैं। जगन्नाथपुरी के वैष्णव मन्दिरों में, कोणार्क के सूर्य मन्दिर में, बिहार में हाजीपुर के समीप, गंगा-गंडक तट पर स्थित काष्ठ मन्दिर में, बुन्देलखण्ड स्थित खजुराहों तथा मालवा स्थित ममलेश्वर तक के मन्दिर में सम्भोग के दृश्य अंकित हैं। परन्तु स्मृति और श्रौतकारों ने इसे मर्यादित कर दिया। हर देश में एक विवाह पद्धति निर्मित की गई जिसमें सोल्लास कन्या का पिता या परिवार का अन्य वृद्ध-जन सोत्साह आकुल्यों के सम्मुख अग्निदेव के सांनिध्य में कन्यादान (कन्या का दान) वरणीय पुरुष को करता है।

6.01.05. विवाह की संस्था का श्रीगणेश

विवाह का स्वाभाविक फल सन्तानोत्पत्ति हुई। मैथुन कर्ता तो संभोग करके अलग हो गया। पर पारितोषिक रूप में प्रभु ने गर्भ स्थापन करके गर्भ को सींचा और दश मास में युगल दम्पति को सन्तान भेंट कर दी।

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम्।
वृषासि वृष्णयावन् प्रजायै त्वा नयामसि।
(अथर्व 5/25/8)

(ऐ वीर्यवान पुरुष। तू उठ खड़ा हो। उद्यम कर और इस कन्या की योनि में गर्भ स्थापित कर ताकि तुझे उत्तम सन्तान प्राप्त हो।)

अपने वीर्य से उत्पन्न सन्तान को देखकर मनुष्य प्रेम से विह्वल हो जाता है। उस सन्तान के हित में यह आवश्यक है कि उसके उत्पन्न कर्ता एक बन्धन में बँधकर उसका पालन करें तथा यदि दुबारा गर्भ स्थापन हो तो दूसरी और प्रथम सन्तान में रक्तैक्यता बनी रहे। इन नियमों के निर्माण का यह भी स्वाभाविक कारण है। इसके अतिरिक्त विवाह पर एक और समझौता भी होता है :

प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय। गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घंत आयुः सविता कृणोतु ॥ अथर्व० 14/2/75 ॥

(स्त्री घर में रहकर घर संभालेगी और पुरुष हाट बाजार में रहेगा।)

विवाह संस्कार पर राष्ट्र-भृत होम भी होता है जो यजु० 18/38-43 में वर्णित है। स्पष्ट है कि विवाह राष्ट्र के हेतु किया जाता है। विवाह पर दूसरा यज्ञ होता है 'जया-होम' जो जीवन में विजय की भावना देता है। तीसरा यज्ञ होता है 'अभ्यातन यज्ञ' जिससे अभिप्रेत है निरन्तर उन्नति। चौथा यज्ञ होता है 'अरिष्ट-नाशन' अर्थात् सन्तति चलना बन्द न होने की कामना। अन्य यज्ञ हैं (5) व्याहृति होम=अखिल विश्व का कल्याण। (6) लाजा होम=पृथक् न होने की वधू कामना। (7) प्रजापत्य होम=प्रजापति जैसा व्रत। सप्तपदी संस्कार के उत्तरार्ध में होती है। वह प्रतीक है सात आदर्शों की (अन्न+बल+धन (रयि)+सुख+सन्तान+ऋतुकाल+मित्रवत व्यवहार)। यह यात्रा के 7 गन्तव्य बन जाते हैं, जिन पर दम्पति को जाना है।

6.01.06 विवाहों के त्रैत सिद्धान्तानुसार वर्गीकरण

विवाहों का मुख्य वर्गीकरण तो धर्म और अधर्म ही है। और कालान्तर में दोनों का समन्वय है। अथर्व वेद की त्रैत पद्धति का सर्व प्रथम प्रयोग विवाह की संस्थाओं पर ही हुआ है अधर्म्य वाद, धर्म्य प्रतिवाद और दोनों का सम्मिश्रण ही समवाद है।

इतिहास में इन प्रकारों का काल निर्धारण करते हुए एक तथ्य उभर कर सम्मुख आता है और वह है, कन्या पर माता-पिता या अभिभावक का प्रभुत्व। सन्तति पर माता-पिता के अधिकार की तीन श्रेणियाँ की जा सकती हैं :

(1) कन्या पर माता-पिता की सत्ता न होना।

(2) कन्या पर माता-पिता का अनुशासन होना ।

(3) कन्या पर माता-पिता का पूर्ण प्रभुत्व होना ।

यह वर्गीकरण भी पूर्व वर्णित त्रैत अर्थात् वाद, प्रतिवाद और समन्वय की क्रमावस्था के समर्थक हैं ।

कन्या पर माता-पिता की सत्ता न होना : इस दृष्टिकोण से देखने पर गान्धर्व राक्षस और पैशाच पद्धति सबसे अधिक प्राचीन जान पड़ते हैं ।

3 **प्रकार के विवाह** : गान्धर्व पद्धति की प्राचीनता की साक्षी स्वयं ऋग्वेद देता है। कन्या एवं पुरुष में पारस्परिक सम्बन्ध हो जाने पर फिर माता-पिता द्वारा स्वीकार किया जाना एक औपचारिक कृत्य मात्र था ।

गान्धर्व पद्धति तो पारस्परिक प्रणय था, किन्तु यदि वह आकर्षण केवल पुरुष पक्ष में ही होता था, तो वह राक्षस पद्धति कही जाती थी । पुरुष बलपूर्वक अभीष्ट कन्या को उठा ले जाता था । यदि माता-पिता बाधा देते थे, तब तो युद्ध होता था अन्यथा नहीं । इस वाद का प्रतिवाद राक्षस एवं पैशाच विवाहों में हुआ । राक्षस पद्धति में वीर पुरुष युद्ध विजय के चिह्न स्वरूप पराजित पक्ष की कन्या ले जाकर उससे विवाह करते थे ।

पैशाच-पद्धति में स्थिति और भी गिरी हुई थी । पराक्रम की दृष्टि से पुरुष जब अभीष्ट कन्या का अपहरण करने में असमर्थ होता था, कन्या पुरुष के प्रति नितान्त असहमत होती थी, अथवा कन्या के अभिभावक आदि सभी जन कन्या की रुचि देख कर पुरुष से विवाह करने से इन्कार कर देते होंगे । तब समय देख कर पुरुष सुरापान आदि के द्वारा कन्या को मदमस्त करके अथवा धोखा देकर अथवा सुप्तावस्था में पाकर बलात्कार द्वारा अपनी कामतृप्ति कर लेता था । अतः स्मृतिकारों द्वारा इस निकृष्टतम अपहरण को बाद में विवाह की मान्यता संस्कार करा के देने के मूल में प्रागैतिहासिक काल की प्रथाओं के सूत्र सुरक्षित दीखते हैं ।

कन्या पर माता-पिता का अनुशासन होना : सभ्यता के विकास के साथ-साथ जैसे जैसे पारिवारिक जीवन व्यवस्थित होता गया, वैसे ही वैसे सन्तति पर माता-पिता का अनुशासन होने लगा । कन्या पितृगृह को छोड़कर पति के गृह चली जाती थी, अतः माता-पिता ने कन्या देना तब स्वीकार किया जब उन्हें उसके बदले में धन-प्राप्ति हो ।

किन्तु कन्या को इस प्रकार देने से समाज में एक अव्यवस्था फैलने लगी । धनवान् पुरुष मुंह माँगा धन देकर कई-कई कन्याओं को ला सकता था पर निर्धन पुरुष धन न दे सकने के कारण एक पत्नी प्राप्त करने में असमर्थ रह जाता था । इसी से क्रमशः आर्ष विवाह का उद्गम हुआ । इसमें वधू शुल्क की सीमा निर्धारित कर दी गई ।

कन्या पर माता-पिता का पूर्ण प्रभुत्व : काल क्रम में जैसे-जैसे कन्या पर माता-पिता का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित होता गया, वैसे ही वैसे जिसे और जैसे चाहे, वैसे कन्या दे देने का प्रचलन बढ़ता गया । इहलोक और परलोक सम्बन्धी मान्यताओं और विचारों के पुष्ट हो जाने पर यह विश्वास बढ़ता गया कि परिवार के लिए उपयोगी कन्या का दान बिना किसी लोभ के कर देना बहुत श्रेष्ठ है और पुण्य का कारण

है। इस प्रकार ब्राह्म, देव और प्रजापत्य विवाह प्रकारों का प्रचलन बढ़ता गया।

स्पष्ट है कि यह समन्वय (Synthesis) थी जिसमें विकास होने के बाद पूर्व स्थापित उच्छृंखलता को भी नियमित कर दिया गया। वाद और प्रतिवाद दोनों समन्वय में समा भी गये और उसमें उनकी स्वतन्त्र सत्ता भी दीखती है। आगे हम देखेंगे कि स्मृतिकारों ने पूर्व की गन्धर्व, राक्षस और पिशाच पद्धति को भी विवाह के संस्कार से (Regularize) (सर्व सम्मत स्वकरणीय) बना दिया और विवाह के 8 प्रकार ही नियोजित कर दिये।

6.01.07. एक पत्नी व एक पति का व्रत

आर्य परम्परा में काम को मर्यादित करने की प्रक्रिया का उद्देश्य ही यह था कि एक पुरुष की एक स्त्री और एक स्त्री का एक ही पति हो।
अथर्व वेद में (7/37/1) पत्नी पति से कहती है—

यथासौ मम केवलोनान्यासां कीर्तयाश्चन।

(हे पति ! तुम मेरे ही रहो, अन्य नारियों का कभी चिन्तन भी न करो।)
अथर्व वेद (2/30/1) में पति पत्नी से कहता है—

मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः।

(हे पत्नी ! तू मुझे ही चाहने वाली हो।)

फिर विचारणीय बात यह है कि यह वैवाहिक जीवन आजीवन-भर के लिए है। इसके छूटने का विधान नहीं था। यह धार्मिक बन्धन तो था ही, पर स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियम भी यही निर्धारित करते हैं कि स्त्री की योनि में भिन्न-भिन्न प्रकार के वीर्य कण जाकर भिन्न-भिन्न रासायनिक प्रक्रिया उत्पन्न करके उसके शरीर और सौन्दर्य को नष्ट न कर डालें, तथा सन्तान को भी सदैव मधुर संरक्षण प्राप्त रहे।

अस्तु, यहाँ न बहुपत्नी प्रथा (Polygamy) सम्भव है न अनेक पति प्रथा (Polyandry)। तलाक (Divorce) प्रथा का भी विधान नहीं है। विवाह संस्कार में तो विवाह को बहूद्देशीय बना दिया है।

इस प्रथा की अति का रूप सती प्रथा है। प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण में द्राविण देश के युवराज मेघनाद के युद्ध में वध होने पर उसकी स्त्री सुलोचना सती हुई थी। आर्यों के क्षेत्र में यह प्रथा थी ही नहीं। किसी प्रसिद्ध आर्य राजा की मृत्यु पर कोई रानी सती नहीं हुई।

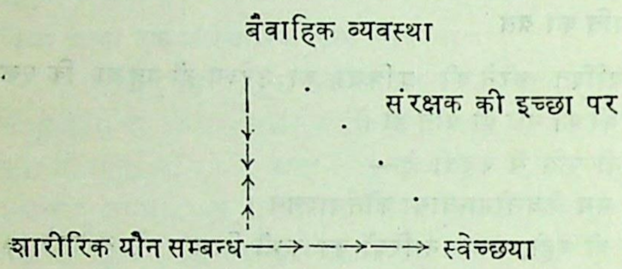
6.01.08. गम्यागम्य के नियम

आदि के अमैथुनज युग्मों में गम्यागम्य की कोई सीमा न थी। पर वे भी पूर्व कल्प के कर्म फल के अनुसार पृथक्-पृथक् बुद्धि लेकर आये होने से उनकी सांस्कृतिक सिद्धि भी पृथक-पृथक थी। युग्म के एक बार सम्पर्क होने और सन्तान होने पर उनमें गम्यागम्य का निषेधार्थ नियम बनना आर्य-संस्कृति में प्रायः आदि से है। माता और पुत्री

अगम्य थी । मार्गरेट के अनुसार गण परिवार जिसमें हर कोई पुरुष पशुवत् हर किसी स्त्री में सन्तान उत्पत्ति कर सकता था, इस संस्कृति में था ही नहीं । उन युग्मों में जो सुसंस्कृत संस्कारी न हों, व्यतिक्रम हो सकते हैं ।

प्रतीत होता है कि आर्य संस्कृति के प्रसार के साथ जनता में व्याप्त ऐसे संवास बन्द हो गये और गम्यागम्य के नियम भी विवाह के साथ जोड़ दिये गये ।

इस परिवर्तन का त्रिभुज यों है—



6.02. समाज की पहिली क्रान्ति और द्वितीय स्थिति (परिवार प्रणाली)

इस समुल्लास का सार रूप अथर्व वेद (8-10) के मन्त्र 1 से 13 तक के हैं जो क्रमशः 7 क्रान्तियों का उल्लेख करते हैं और जिन्हें प्रथम समुल्लास में कह आये हैं । विराड्वा इदमग्र आसीत्तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ।। 1 ।।

यह पहला मन्त्र है । इसमें पहली क्रान्ति की पृष्ठभूमि का वर्णन है । पहले वैराज्य था । जब जनसंख्या बढ़ी तो उनमें कतिपय जन मत्स्यन्याय की दुहाई देने लगे कि देखो समुद्र में बड़ी मछली छोटी को उदरस्थ कर लेती है । अस्तु, बलवान् में तुम्हारे श्रम से संचित भोग्यों को ग्रहण करने का अधिकार है । तब शतपथ ब्राह्मण (1-6-24) के अनुसार इस वैराज्य की स्थिति से बचने के लिए नियन्त्रण की आवश्यकता समझी गयी । अथर्ववेद में यही चिन्ता व्यक्त की गयी है कि समाज में सोचा कि अब क्या होगा ? जैसा कि अगले मन्त्र में ऊपर दिया है । इस विचार विनिमय के निष्कर्ष दूसरे मन्त्र में प्रस्थापित किये हैं ।

सोदक्रामत्सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् । गृहमेधी गृहपतिर्भवतिय एवं भेद ।।2।।

6.02.01. इस प्रथम क्रान्ति के फलस्वरूप गृह, गृहपति और गृहस्थी अर्थात् परिवार की प्रथा का श्रीगणेश हुआ । यह निश्चय किया गया कि एक गृह होगा, उसमें उसकी स्त्री एवं सन्तान होंगे और वे सब गृहपति की सम्पत्ति समझे जायेंगे और वह उनका गृहपति होगा । इस गृहस्थी का आधार छीना-झपटी नहीं था, वरन् स्त्री-पुरुष का प्रेम था । उन सबमें रक्तैक्यता बनी । एक परिवार में पीढ़ी-दर-पीढ़ी से सैकड़ों सदस्य हो

जाते थे। पर वे सब गृहपति के नियन्त्रण में रहते थे। उसकी आज्ञा ही उस कबीले का नियम और कानून थे। पहला अनुशासन विश्व में पत्नी पर पति का स्थापित हुआ था।

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥
(अथर्व वेद 14/1/51)

(ऐ वरानने। ऐश्वर्य युक्त मैं तेरे हाथ को ग्रहण कर चुका हूँ। धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक तेरे हाथ को मैं ग्रहण कर चुका हूँ। तू मेरी अब धर्म पत्नी हुई। मैं तेरा गृहपति स्वामी हूं। पालनकर्ता हूँ।)

इस संरक्षण और पालन करने के बदले में पति ने पत्नी को निम्न कर्तव्य सौंपे और दोनों ने मिलकर धर्म चक्र समावर्तन के कुछ व्रत लिए।

6.02.02. गृह ही बढ़कर परिवार में बदल जाता है। सारे परिवार से व्यवहार

समानी प्रपा सह वो अन्न भागः, समाने योक्त्रे सहवोयुनाज्मि।
सम्यञ्चौअग्निं सपर्यतारा, नाभिमिवाभितः। (अथर्व वेद 1-30/16)

(परिवार में सब साथ खाते हैं, साथ पीते हैं, साथ यज्ञ करते हैं। जैसे रथचक्र की नाभि में अरे पिरोये हैं। ऐसे ही जो परिवार में ज्येष्ठ है, उसके अनुशासन में सब रहते हैं।)

6.02.03. गृहपति के कर्तव्य और अधिकार

स्त्री में गर्भाधान करने वाले के लिए संस्कृत वांगमय में पति शब्द प्रयुक्त हुआ है। स्वामी और मालिक शब्द भी प्रयुक्त हैं, और लोक में प्रचलित हैं। ग्रीक में पोसिस (Posis) तथा लियुनियन भाषा में भी पत्तीस (Patis) शब्द है। भर्ता शब्द भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है पालनकर्ता।

कर्तव्यों से ही अधिकार का जन्म होता है। गृहपति गृह की रक्षा, भरण और सम्पादन करता है। ये स्वयं स्वीकृत कर्तव्य हैं।

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद बिभीतन॥
(अथर्व वेद 7/60/4)

(आओ प्रियजनो! मैं तुम्हें बुला रहा हूँ। मेरी छाया में तुम धन-धान्य से पूर्ण हो। परस्पर मैत्री भाव से रहो। घर में अपार समृद्धि भरी पड़ी है। कभी वे दिन नहीं आयेंगे जब तुम्हें भूख-प्यास के दुख में दिन काटने पड़ें।)

इन कर्तव्यों को जब गृहपति ने अन्जाम दिया तो उसे सब सदस्यों पर कुछ अधिकार प्राप्त हुए। सर्वप्रथम तो यह कि वे उसकी आशा और अनुशासन में रहेंगे।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्राभवतु सम्मनाः।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

पुत्र पिता के कहे में चले और उस संस्कृति का अनुव्रती हो, जो पिता ने स्थापित की है। वह माता के मनोमयानुसार हो। पत्नी सदा मधुमय वचन बोले। गृहपति में राजा या शासक की पद्धति का प्रथम उत्क्रमण है जिससे लाभान्वित और आश्वस्त होकर सब परिवारी जन उसके आज्ञा देने और दण्ड देने का अधिकार मानते हैं। यह स्वाभाविक कृतज्ञता है। योरुप की स्कण्डेनेविन्यन प्रभृति नस्लों में वर-गिल्ड की प्रथा है कि यदि परिवार के मुखिया को कोई मार डाले तो उसके पाँच पीढ़ी तक के उत्तराधिकारियों का अधिकार है कि वह बधिक से उस मृत्यु का बदला लें। परिवार का विस्तार बाद में भारतवर्ष में इस आधार शिला पर किया गया कि उस गृहपति से उपकृत व्यक्ति 21 पीढ़ी तक समान पिंडक, समानोदक, एवं गोत्रज बनकर मृत व्यक्ति को पिण्ड (चावल के मोदक) और जल (तर्पण) प्रतिवर्ष करते रहें। इसी उपलक्ष्य में वे गृहपति की छोड़ी हुई सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। इसका वर्णन आगे करेंगे।

6.02.04. सम्पत्ति का उपोदघात

विवाहित होने पर सर्वप्रथम एक घिरे हुए स्थान की आवश्यकता हुई जहाँ प्रेम का आदान-प्रदान हो सके। उसी को घर कहा गया।

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्याश्नुताम्।
(अथर्व वेद 14/2/64)

(तुम दोनों पति-पत्नी चकवा-चकवी की तरह प्रेम-सूत्र में आबद्ध हो। तुम्हें सन्तान प्राप्त हो। सुन्दर घर में रहते हुए गृहस्थाश्रम की सारी आयु का उपभोग करते रहो, गृह के निर्माण हो जाने पर गृह में और वस्तुएँ चाहिए। प्रकृति से गृहपति पदार्थ चुनता है और उनमें अपने श्रम का सम्बन्ध करके उन्हें प्राप्त करता है। वे न केवल उसके, स्वयं के, बल्कि उसके परिवार के लिए यथेष्ट मात्रा में होनी चाहिए।

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेअश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सोभगाय॥
(अथर्व वेद 3/12/2)

(हे मेरी शाला। तू जहाँ बनी है, चिरकाल तक स्थिर होकर खड़ी रह। तेरे अन्दर घोड़े हों, गौये हों, तुझमें रहने वाले सन्तुष्ट होकर सदा परस्पर मधुर वाणी बोलें। तू अन्न, दूध, घृत से भरपूर हो और हमारी महान सुख-समृद्धि के लिए सदा ऊँची खड़ी रहे।)

गृहपति, परिवार के लिए यह भोग साधन इकट्ठे करता है। धर्म और गृह्य सूत्रों ने पितृों की कल्पना करके गृहपति के मन में यह भाव भर दिया है कि इस जन्म के बाद वह पितृ-यान से जाकर दक्षिण पथ में सूर्य के उत्तरायण होने तक बन्द रहेगा

ग्रौर चौथी पीढ़ी में सन्तान होने तक जन्म भी नहीं लेगा। घूमता रहेगा। उस स्थिति में क्षुधा ग्रौर प्यास के शमन के लिए उसे उसके पुत्र-पौत्रादि श्राद्ध-तर्पण द्वारा ग्रन्न-जल देंगे, तभी वह तृप्त हो सकेगा। ताकि सन्तान श्राद्ध-तर्पण करते रहें, उसे धन सम्पत्ति इकट्ठी करके सन्तान को सौंप जाना चाहिए। यही धन श्राद्ध-तर्पण में उसके काम ग्रायेगा। धनार्जन में ग्रौर धनसंचय में यह दूरगामी स्वार्थ भी निहित है।

6.01.05. **परिवार का संगठन**

(01) नाते-रिश्तों द्वारा परिवार में विभिन्न ग्रंगों के लिए जो सम्वेदन के शब्द बनाये गये वे परिवार के संगठन पर प्रकाश डालते हैं। कुछ रिश्ते पिता के सम्बन्धों के माध्यम से चलते हैं, कुछ माता के से। ग्रार्य संस्कृति पिता को प्रमुखता देती थी।

(02) **वंशानुक्रम प्रणाली** में रिश्ता नाती ग्रौर बाबा का था। जनक के लिए पिता या पिदर या पितर या फादर शब्द संस्कृत-योरुपीय भाषाग्रों में है। पिता से ही पितामह ग्रौर प्रपितामह शब्द बने हैं। उसके ग्रागे शब्द नहीं बने। ग्रतः परिवार स्वयं से 3 पीढी ऊपर तक ही सीमित रक्खा गया है।

पर ग्रार्य-संस्कृति प्रायः स्वकीय ग्रौर सीधे रक्त सम्बन्धों तक की परिधि में ही ममत्व को सीमित करने की ग्रनुगामी थी। ऋग्वेद में ग्राया है :

प्रजाभिरग्ने ग्रमृतत्वमश्याम् ॥ 5-4-10 ॥

प्रजा के प्रजनन में ग्रमृतत्व निहित है, ग्रर्थात् स्वयं से उत्पन्न सन्तान तक ही ग्रमृतत्व है)

निरुक्त (3/4) में यही तत्त्व दर्शाया है :

ग्रंगादंगात्सम्भवसि हृदयादभिजायसे।
ग्रात्मा वे पुत्रनामासि त्वं जीव शरदः शतम् ॥

(पुत्र दुखों से तारता है। वह नाम ग्रमर करता है। विरासत का ग्रधिकारी होता है। पुत्र में मानो ग्रपना हृदय उत्पन्न होता है।)

(03) **विभागात्मकः** द्रविड़ ग्रौर मंगोल संस्कृति के सम्पर्क से स्वकीय से परिधि वंश ग्रौर सम्बन्धियों तक बढ़ी। उसमें माता-पिता के भाई-बहिनों तक परिवार फैला दिया गया।

कालान्तर में स्वकीय से उतरकर क्रमशः परिवार तीन पीढ़ी तक ग्रविभक्त पिण्डक, उपरान्त 7 तक विभक्त पिण्डक, फिर 10 पीढ़ी तक समानोदक ग्रौर 13 पीढ़ी तक सगोत्र ग्रौर 20 पीढ़ी तक सगोत्रज्ञ ग्रादि प्रथाग्रों के ग्रन्तर्गत विस्तृत किया गया।

6.02.06. **परिवार-विस्तार का द्वितीय स्रोत**

(ग्र) पुरुखाग्रों का दैवीय-कारण = माता-पिता के ग्रनगिनित उपकारों से पला बालक बड़ा होकर उनका बहुत ग्रनुगृहीत था। मातृवान-पितृवान-ग्राचार्यवान पुरुषोवेद।

पुरुष को इन तीन ने ही ज्ञान भी दिया। अस्तु आवश्यक था कि वह इन जीवित पितृों की सेवा सुश्रूषा करे। परन्तु मंगोल और द्राविण संस्कृति अधिक परिवार परस्त थी। उन्होंने कल्पना की कि मृत पितरों को सदा स्मरण करते हुए उनका आह्वान करना चाहिए। उन्होंने ऐसा कहते हुए प्रचुर साहित्य सृजा। पुरखों की पूजा कई रूपों में प्रगट हुई। उनकी मान्यता थी कि मरणोपरान्त पुरुष तुरन्त अन्यत्र पैदा न होकर कुछ वर्षों तक भूत बने रहते हैं। वे देव-तुल्य होते हैं और वरदानों तथा पापों की प्रभावशाली वर्षा कर सकते हैं। अस्तु, यह रिवाज पड़ा कि हर व्यक्ति अपने पुरखों को पिण्ड दान दे, ताकि वे भूखे न रहें। भाद्रपक्ष की 13वीं तिथि को उनका श्राद्ध करके कौओं तथा ब्राह्मणों को भोजन कराया जाए ताकि वह अन्न तीन पीढ़ी के पुरखों की आत्माओं तक पहुँच जाए। पित्रामावस्या के दिन सारे दिवंगत पुरखाओं के नाम से अन्न दिया जाता है। योरुप के देशों में एक निश्चित तिथि संभवतः 19 सितम्बर (All Souls Day.) मनाते हैं, जो वार्षिक श्राद्ध के समानार्थक ही है। श्राद्ध तीन पीढ़ी तक के ऊपर के दिवंगत लोगों का होता है। अतः तीन पीढ़ी ऊपर तक के भाई बन्दों की सब सन्तानें मिलकर यह उत्सव मनाती हैं।

श्राद्ध और तर्पण का ऐसा गौरख धन्धा है कि हिन्दुओं के उत्तराधिकार के नियम इसी बात पर आश्रित हैं कि दिवंगत का श्राद्ध तर्पण करने का अधिकार किन-किन को है। एक बात बड़ी मनोरंजक है। तीन पीढ़ी तक के पितरों को असुरमुखा और उसके ऊपर वालों को नन्दी मुख पितृ भी कहा है। भाद्रामावस्या को इन्हीं नन्दी मुखा पितरों का आह्वान होता है। तुरन्त मृत व्यक्ति को तीसरे दिन शुद्धि करते हैं, और 13वें दिन तेरहवीं का कृत्य होता है। बंगाल में उत्तराधिकारी का हक, इन कृत्यों के आधार पर ही होता है। मृत्यु समय आग लगाने का कंडा जो रखता है, उसी का उसकी सम्पत्ति पर अधिकार होता है।

इसी प्रकार सूतक की प्रणाली है। 7 पीढ़ियों तक के वंशजों में से किसी के मरने पर सबको 10 दिन तक अपवित्र माना जाता है। गृह्य सूत्र 10 पीढ़ी तक के वंशजों का सूतक सौ दिनों का (जिनके बीच में रात्रि आ गई हो) मानते हैं और उन्हें समानोदक या सोदक कहते हैं, अर्थात् वे स्नान (जल) के साथी हैं। मनु तो मृत के गोत्र के सभी व्यक्तियों द्वारा दो दिन के इस सूतक को मानते हैं। याज्ञवल्क्य सूतक की सूची में दामाद को भी ले लेते हैं। इसका तात्पर्य है कि मृत व्यक्ति की आत्मा मोहवश लौट-लौटकर इन सम्बन्धियों के शरीर से आकर चिपट सकती है। इसे तर्पण कहते हैं। यह लोग मृत आत्मा को जल अर्पण करते हैं।

पितृ पक्ष के समाप्त होने के एक दिन बाद नाना को श्राद्ध देने का नियम है। इस प्रकार परिवार की परिधि सम्बन्धियों तक भी फैला दी गई। पुरखों की इस पूजा पद्धति ने हिन्दुओं के परिवारों को दृढ़ बनाए रक्खा है। एक बात फिर दोहरानी पडती है कि तीन पीढ़ी तक के पुरखे तो संसाराभिमुख होते हैं। चौथी के सूर्य लोक चले जाते हैं। इसीलिये जब किसी के नाती का पुत्र होता है, तो वह ब्राह्मण को

सोने की नसैनी देता है, जिस पर चढ़कर वह स्वर्ग को जा सकेगा। उस व्यक्ति का श्राद्ध का अधिकार उसी दिन से कायम हो जाता है। तीन पीढ़ी तक की परिधि की बात पुनः सिद्ध होती है।

6.02.07. **परिवार विस्तार का तृतीय स्रोत अर्थात् नाम रखने की प्रक्रिया**—कालान्तर की उपनिषदों में विख्यात नाम तो वे ही व्यक्ति वाचक रहे, पर नई पीढ़ी का नाम करण पहले तो पिता के, फिर बाबा के, और मध्य काल में ही पर-बाबा तक के नाम को व्यक्ति के नामों के साथ जोड़कर रखना प्रारम्भ हुआ। यह पितरों को अमर करने का प्रयास था। और दूसरा अभिप्राय था परिवार का विस्तार और स्थायित्व।

चौथी पीढ़ी अथवा अधिक का उल्लेख करने वाले नाम—

1. जनश्रुति पौत्रायण (छान्दो० 4/1/1) =जनश्रुति के वंश का नाती (स्वपरिचय)
2. नारायण के पुत्र भारवी का नाती दण्ड-कवि
3. कुबेर के नाती का पुत्र बाण (स्वपरिचय)
4. उदम्बरा परिवार में नीलकंठ के पुत्र भट्टगोपाल का नाती भवभूति। (महावीर चरित्र में स्वपरिचय)
5. गर्ग वंशीय दीप्त बालाकि (वृहदा० में)

ऐसे नियम उन योरुपीय देशों में भी मिलते हैं जो 'इण्डो-सँस्कृत भाषायें या उनके अपभ्रंश बोलते हैं। पितृपूजा, सूतक और विवाह हेतु पीढ़ियों के बचाव, तीनों बातें भिन्न-भिन्न अंशों में वहाँ सदैव मिलती हैं।

6.02.08. **परिवार का स्थिरीकरण—प्रथम प्रक्रिया**

01. **सामान्य उत्तराधिकार**—पितरों की पूजा की प्रणाली और विस्तृत परिवार बनाए रखने के लिए परिवार को सम्पत्ति के उत्तराधिकार से जोड़ दिया गया ताकि यह प्रथा अजर अमर हो जाए। भारतवर्ष में बौद्धायन ने 500 ईसा पूर्व अपने धर्म-सूत्र (1/2/9) में दो इकाइयों की बात कही। वह सात पीढ़ी तक के परिवार की एक सूत्रता मानता है। स्वयं, उसके तीन पीढ़ी ऊपर तथा तीन पीढ़ी नीचे; और उनको वह सपिण्ड कहता है। और स्वयं उसका पिता और उसका पुत्र सम्मिलित परिवार में विरासत में तीन पीढ़ियाँ ऊपर तक से छोड़ो सम्पत्ति के अधिकारी बन जाते हैं। तदनन्तर तीन पीढ़ी तक के व्यक्ति अविभक्त सपिण्डक और 7 पीढ़ी तक के विभक्त पिण्डक कहे गए। जिन्हें भी सम्पत्ति पर अधिकार मिलना सम्भव था। जब तक किसी व्यक्ति का कोई संगोत्रीय या सगोत्रज विद्यमान है, कोई सम्पत्ति राष्ट्र को प्राप्त नहीं होगी।

इस 21 पीढ़ी की लिस्ट में यदि कोई वंशज नहीं है, तो फिर तो सम्पत्ति छोड़ने वाले के पिता के या माता के रक्त से मिले पुरुष/सम्बन्धी/उत्तराधिकारी पा जाएँगे। अर्थात् स्वयं के ममेरे फुफेरे या मौसेरे भाई अथवा उसके पिता के ममेरे फुफेरे या मौसेरे भाई या माता के ममेरे फुफेरे या मौसेरे भाई।

स्पष्ट है कि एक बार व्यक्ति के हाथ में गए पीछे सम्पत्ति के पुन: सार्वजनिक उपयोगार्थ समाज में लौटने की कोई सम्भावना नहीं है।

02. **गोद लेने से उत्तराधिकार** : पितृ मूलक एवं मातृमूलक दोनों प्रकार के परिवारों में कोई भी उत्तराधिकारी ढूँढ़े से भी नहीं मिलता है, तो व्यक्ति चाहे किसी के बालक को गोद ले सकता है। तब सारी सम्पत्ति दत्तक पुत्र को चली जाती है। दत्तक पुत्र का अधिकार अपने निजी पिता की सम्पत्ति पर नहीं रहेगा, पर पितृमूलक परिवार में वह अपनी माता की सम्पत्ति पा सकेगा। मातृमूलक में वह माता की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार न पाकर निज पिता की सम्पत्ति पा सकेगा। क्योंकि उसे सन्तान रहित माता गोद लेती है। ऋग्वेद-- (7/4/7-8) में स्पष्ट संकेत है कि गोद लिये पुत्र की अपेक्षा नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र श्रेयस्कर होता है। मूल मन्त्र का ऐसा ही अर्थ है।

6.02.09 परिवार के स्थिरीकरण की दूसरी प्रक्रिया

दूसरी तरकीब जो परिवार के स्थिरीकरण हेतु काम में लाई गई है वह कन्या को उत्तराधिकार से वंचित करके अर्थात् उसका रिक्थ हर के उसे दूसरे कुल में समर्पित करने के विधान के रूप में आई है।

आर्य परम्परा में तो धान-वत कन्या को परिवार-गोत्र-गोत्रज से दूर देना ही श्रेयस्कर रहा है। इसीलिए उसे पिता की सम्पत्ति में अधिकार नहीं दिया गया था। ऋग्वेद 2/11/2 में कहा है कि पुत्र सम्पत्ति का अधिकारी है, पुत्री नहीं। इसीलिए पुत्री के जन्म पर प्रसन्नता नहीं होती। पर भाई रहित कन्या को पुत्रिका कह के उसका तथा उसके पुत्र का उसके पिता की सम्पत्ति पर अधिकार तथा धेवते को नाना को पिण्ड तर्पण करके पितृपूजा का भी अधिकार माना है।

भाई वाली पुत्री की सम्पत्ति में उत्तराधिकारी न मानने की कमी उसे सदा भेंट दिलाकर पूरी की गई है। भ्रातृ द्वितीया पर भाई सौमंगली बहिन के घर स्वयं भेंट लेकर जाता था। इन्हें श्राद्ध की दावत में भी बुलाया जाता था।

आर्यों अपनी ईजाद की हुई इस परिवार-गठन की क्रान्ति को सारे विश्व में ले गए। इसकी विश्वव्यापी सत्ता से परिवार प्रणाली की सर्वोत्कृष्टता भी दृष्टिगत होती है और आर्य-राष्ट्र का विस्तार भी।

6.02.10 आर्यों की ईरान शाखा में परिवार क्रम

पारसी धर्म असंख्य केरावासी (फरिश्तों) में विश्वास रखता है। अहुरमज्दा (ईश्वर) ने इन्हें अपनी शक्ति से पैदा किया था। उनकी मान्यता है कि जब कोई बच्चा पैदा होता है, तो एक स्वर्गीय फरिश्ता आकर उसके साथ रहने लगता है। यह फरिश्ता अोहर मन (शैतान) का मुकाबिला करने में जीवात्मा की सहायता करता है। जब मनुष्य मरता है तो जीव कर्मानुसार दूसरे लोक में चला जाता है और फरिश्ता पुन:

स्वर्ग को लौट जाता है। हर साल के अन्त के दस दिनों में फैरावासी फरिश्ते मरे हुए मनुष्यों के परिवारों में आते हैं, जहाँ उनका सम्मान किया जाता है। फरिश्ते आशीर्वाद देकर चले जाते हैं। यह सारी मान्यता श्राद्ध तर्पण पद्धति की नकल है।

6.02.11 आर्यों की योरुपीय शाखाओं में परिवार की विद्यमानता और उसका रूप

01. **ग्रीक जाति** : एशिया के समाप्त होते ही योरुप का पहिला देश ग्रीस आता है, जहाँ की संस्कृति अति प्राचीन है। यों भी महाद्वीपों के संगम स्थलों से ही संस्कृति का श्रीगणेश होता रहा है, पर हम ग्रीस को पूर्णतया भारतीय सामाजिक व्यवस्थानुकूल ही पाते हैं। प्राचीन ग्रीकों में जनपद की आबादी चार भागों में विभक्त थी :—

1. ओइकिया (Okia) एक गृह के सदस्य।
2. ऐनचेस्टीज (Anchesties) निकट के सम्बन्धी।
3. जैनेटाई (Genetai) अर्थात् एक जैन (Genes) या एक रक्तीय विभागवंश।
4. फेरेटोरेस (Pheratores) एक कबीला के लोग।

बड़े लड़के का नाम व्यक्ति अपने पिता के नाम पर और लड़की का नाम अपनी माँ के नाम पर रखता था। दूसरे लड़के का नाम उसके नाना के नाम पर रखा जाता था। चौथे बच्चे का नाम उसके बाप के नाना के नाम पर होता था। फिर उस नाम के बाद बच्चे के पिता का नाम भी जोड़ दिया जाता था। इसके अन्त में उसके जैन्स का नाम भी जोड़ देते थे। इस प्रकार ग्रीक का नाम उसके परिवार और वंश का द्योतक होता है।

सोलन निर्मित कानून में विवाह एक अनिवार्य प्रथा थी, ताकि प्लेटो के शब्दों में पुत्र-पौत्रादि छोड़कर मनुष्य अमर हो जाए। विधिवेत्ता ईसाईअस ने यह भी कहा था कि हर मनुष्य सन्तान छोड़ जावे ताकि मरने के उपरान्त उसकी (पितृ) पूजा की जा सके।

विवाह क्षेत्र के विषय में ईसाइअस के मतानुसार ऊपर और नीचे दोनों पीढ़ियों में सम्बन्धितों से विवाह निषिद्ध था, पर सौतेली बहिन (दूसरों से उत्पन्न) से विवाह सहनीय था।

विवाह संस्कार क्रम में पहिले पक्की (Betrothal) होती थी जिसमें कन्या-पक्ष, होने वाले दामाद को सोने की चेन तथा शानदार पेय देता हुआ एक दावत देता था जिसमें दोनों पक्ष के स्त्री-पुरुष शामिल होते थे। पशु-बलि होने के बाद वधू-पक्ष से बारात चल करके वर-पक्ष के घर पहुँचती है। वधू की माता बारात में प्रज्वलित अग्नि की एक मशाल लेकर चलती है, जो कि अपने घर से लाई जाती है। इसे वह ले जाकर अपनी कन्या के नए घर (दामाद के घर) स्थापित करती है। उधर वर की माँ भी मशाल जलाए अपने घर के दरवाजे पर खड़ी मिलती है।

विधिवेत्ता (डिसाइड-दशवीं ई० पू०) ने विधान बनाया था कि शादी के

पूर्व वर का मकान बन जाना चाहिए। मकानों में वधू का पृथक् कमरा होता था जिसे 'गियनेकोंनाइट' कहते थे।

परिवार के भग्नावशेष के रूप में प्रतिहिंसा (Revenge) की प्रथा भी ग्रीस में प्रचलित थी। यदि कोई किसी का वध कर देता था, तो मारे हुए व्यक्ति के पुत्र तथा वंशजों (Etai) का यह पुनीत कर्तव्य था कि उस वध का बदला लें। इसमें मृत के पिता, पुत्र, भाई, भतीजे, रक्त से सम्बन्धित पुरुष सभी पर (एक के बाद एक पर) यह उत्तरदायित्व मुकदमा चलाने या बदले में खून करने का सौंपा गया था।

'पितृ पूजा' के बहुत थोड़े ही उदाहरण ग्रीकों में हैं। इउरीपीड्स ने अवश्य लिखा है कि यदि अन्त्येष्टि क्रिया ढंग से नहीं की जाती है तो मृत व्यक्ति घूमने वाली परछाईं में बदल जाता है, और अपने परिवार वालों को सजा देने हेतु उनके पीछे वह परछाईं घूमती रहती है और जो विधिवत् क्रिया करते हैं उनकी मृत व्यक्ति सदा सहायता करते रहते हैं।

ग्रीस में कब्रें भी तीन पीढ़ी तक की ही पूजी जाती रही हैं, क्योंकि लोग कब्रों पर मृतों के लिए भोजनादि भी ले जाते थे। कुछ ऐसे पर्व भी होते थे, जिनमें मृत आत्माओं के आनन्द-विनोदार्थ आने की कल्पना भी थी।

जो विशिष्ट पुरुषों की पूजा है, उसमें कुछ उनकी वीरता के, तथा कुछ उनकी विशेष पेशों में प्रमुखता के कारण है, तो कुछ पारिवारिक कारणों से भी है। दुःख मनाने का एक त्योहार भी ग्रीस में होता है जिसे जिनेशिया कहते हैं। वह वर्ष में एक दिन मनाया जाता था।

सम्पत्ति के उत्तराधिकार के नियम भी ग्रीक संस्कृति में भारतीय आर्य नियमों से मिलते-जुलते होते थे। भाई विहीन बहिन के पुत्र के अधिकार (Thugatrodous) पद्धति द्वारा निश्चित होते थे। जिसमें उस लड़की के विवाह के समय ही उसका पिता घोषणा करता था कि उसका धेवता उसका उत्तराधिकारी होगा।

स्वाभाविक उत्तराधिकार ग्रीस में (Genes) तक सीमित था। परन्तु उत्तराधिकारियों को ही विरासत मिलती थी।

तीन पीढ़ी का नियम (Trigonia) : ग्रीस में जो अपने बाबा को भी यूपेट्राइड सिद्ध कर सकता था, वह श्रेष्ठतम माना जाता था और उसे (Eupatride) यूपेट्राइड कहते थे। उसे राज्य में श्रेष्ठ पद मिलते थे। अतः बाबा के बाबा का भी यही सिद्ध करना आवश्यक था, इस प्रकार 6 पीढ़ी ऊपर जाना आवश्यक था। प्लेटो ने भी कहा है कि ग्रीक उच्चवर्गीय अपनी सात पुश्तों का नाम बतलाने में गर्व अनुभव करते थे। अर्थात् तीन बाबाओं का वर्णन। उससे घट कर दो बाबाओं का व्यास है, फिर एक बाबा का।

02. **लेटिन जाति में परिवार प्रथा :** (अ) ग्रीस से ठीक पश्चिम में इटली (रोम) है। परवर्ती रोमन लोगों के रक्तीय वर्गीकरण दो होते थे। (1) Familia फैमीलिया और (2) जेन्स (Genes)। इनमें जेन्स वृहत्तर वर्गीकरण है, जिसकी सीमा

नहीं है। एक जेन्स वाले सब का आदि पुरुष कोई एक रहा होगा। यों रोम में सारी आबादी में पैत्रिसियन तथा पेलीबियन (आम जनता नामक) दो प्रमुख वर्गों के लोग हैं। पैत्रिसियन के नौ जन्ममूलक गोत्रादि हैं। जिनके नाम हैं ऐमीलिया, क्लोडिया, कोरनेलिया, फेबिया, जुलिया, मनलिया और वलेरिया। इनके कई उपवर्ग भी हैं जो उस वर्ग के प्रमुख पुरुष के नाम पर हैं। यह नाम वर्ग के आगे जोड़ दिया जाता है। फबिया उपवर्ग के लोग 485 ई० पू० से लगातार तीन पीढ़ी तक (Consul) मुख्य मन्त्री पदों पर रहे थे। जूलिया वंश में सीजर महान हुआ है। परन्तु जेन्स भी परिवारों का समूहीकरण न होकर स्वयं वृहत्तर परिवार था। इस जेन्स में कुछ स्वाभाविक गुण भी प्रायः देखे गए। क्लोडिया वंश के लोग गर्वीले तथा अहमन्यतापूर्ण होते आए हैं। वे कानून तथा लेबिजन (जन साधारण) की उपेक्षा करते रहे हैं। प्रायः साहित्य कला में अभिरुचि रखते आए हैं। मटेली वंश के लोग (Gravitas) बुद्धू कहे जाते थे, अतः उस वंश में प्रायः अनुदार राजनीतिज्ञ और जनरल हुए। क्लोडियन का आदि पुरुष 504 ई० पू० में रोम में आकर बसा था।

(ब) रोम में व्यक्ति के पूरे नाम के तीन अंग होते थे—स्वयं का व्यक्तिगत नाम जो जन्म के 9वें दिन दष्ठोन पर्व पर उसे दिया जाता था। उसके बाद परिवार का नाम और अन्त में 'इयर्स' शब्द के साथ जेन्स का द्योतक शब्द।

(स) रोम में एकता निर्धारण में तीसरा स्रोत कर्म-काण्ड की प्रणाली (Sacra-Rites) के अनुसार था। यह प्रवर जैसी बात है, जिसका वर्णन आगे करेंगे। हर वर्ग के कर्म-काण्ड पृथक्-पृथक् थे। इनका उत्तराधिकारियों द्वारा किया जाना अत्यावश्यक था, जो प्रति वर्ष या नियत समय बाद परिवार की सामूहिक सम्पत्ति से या सार्वजनिक चन्दे से होता था।

(द) रोम में अपने रक्त या कुल में विवाह करने की रिवाज बिल्कुल नहीं थी। सात पीढ़ी तक के रक्त का बचाव किया जाता था। इसे (Sobrinal) कहते थे। शादी होने पर कन्या की सम्पत्ति पति के जैन्स में पहुँच जाती थी।

(य) इटैली में मकानों के निर्माण का क्रम यह था कि वह आयताकार होते थे। उसमें एक हाल (Artum) होता था। इसी में पारिवारिक पवित्र अग्नि के प्रज्वलित रहने का स्थान तथा वैस्टा देवता का स्थान होता था जहाँ भोजनोपरान्त दोपहर में उसकी पूजा की जाती थी। उसके पीछे पारिवारिक पीढ़ियों को चलाने वाले आदि पितृ जीनियस का स्थान होता था।

(र) रोम में पितरों की यादगार में वर्ष में 4 पर्व मनाने की भी प्रथा थी। तेरह से 21 फरवरी तक पेरेन्टलिया पर्व सोल्लास मनाया जाता था, जबकि उन्हें भेंट-पूजा चढ़ाई जाती थी और पूर्वजों की कब्रें सजाई जाती थीं। नवें दिन को कोलिया, दसवें को कारसिस्टिया कहते थे। इसमें परिवार के सब जीवित लोग मिलकर भोज में खाना खाते थे। यह कल्पना थी कि इसमें मृत पितर भी आते थे। परिवार के सब लोग वैर-भाव त्याग देते थे। लेमस्यिा पर्व 11-12-13 मई को मनाया

जाता था। इसे परिवार का मुखिया मृत आत्माओं के लिए मनाता था। यह श्रम-युक्त-पर्व था और आत्माओं को मटर की फलियाँ पेश करते हुए उनसे प्रयाण करने की प्रार्थना घर का हरेक वयस्क व्यक्ति करता था।

(ल) रोम में रीगल के समय (750-510 ई० पू०) में मृत्यु पर मनुष्य की सम्पत्ति उसकी स्त्री, बेटों में बराबर बँट जाती थी और यह न होने पर जेन्स में चली जाती थी।

03. **स्लैव जाति में** : इनका क्षेत्र आधुनिक श्वेत रूस से प्रारम्भ होता है और लिथूयेनियाँ तक चला गया है। इनके कृषक वर्ग मृत पितरों से दिजादी (Dazay) कहते हैं। इनका विश्वास है कि कम से कम बाबा की आत्मा नाती के जीवन भर जीवित रहती है, अन्यत्र नहीं जाती, न नष्ट होती है। इसके अतिरिक्त इन लोगों में हर व्यक्ति के वार्षिक मृत्यु दिवस पर उसकी आत्मा की तृप्ति के लिए पशु बलि दी जाती है।

नाम रखने की भी प्रणाली यह है कि पूरे नाम में पहले व्यक्ति का निजी नाम होता है, अनन्तर उसके पिता का नाम और अन्त में परिवार के सम्प्रदाय का उल्लेख होता है। समारोहों के अवसर पर 5 वीं पीढ़ी ऊपर के व्यक्ति का नाम जोड़ देते हैं। उसे (Bratstyo) कहते थे।

04. **ऐंग्लो-सेक्शन शाखा में** : अंग्रेजी भाषा के विन्यास और धातुओं के आधार पर ऐंग्लो-क्सेशन वंश आर्य जाति के सुन्दरतम स्थित अंश ठहरते हैं। उनके महाकाव्य व्यूवाल्फ (Beu wolf.) में वीर पुरुषों को अमुक पितामह के पुत्र कहकर संबोधित किया गया है। इससे 3 पीढ़ी तक की यादगार सुरक्षित रखने का सिद्धान्त प्रतिपादित होता है। (Vesah.) वेसाह शब्द प्रायः प्रयुक्त हुआ है और उसका अर्थ "उभयप्रपिता की सन्तानों का समूह" किया गया है। देहाती अंचल में चार पीढ़ी तक के कृषक अब भी साथ रहते हैं और साथ ही खेती करते हैं।

05. **यूरेशिया में प्रचलित भाषाओं का वर्गीकरण** : ईरान से ग्रेट ब्रिटेन तक जो भाषायें प्रचलित हैं, उनका वर्गीकरण भाषाविज्ञों ने यों किया है :

1. भारतीय—आर्य भाषा परिवार
   संस्कृत और उसकी 13 उपभाषायें यथा हिन्दी, बंगाली आदि।
2. ईरान-आर्य भाषा परिवार-अवस्ता और फारसी (पुरानी और नई)
3. ग्रीक-आर्य भाषा परिवार-पुरानी और नई ग्रीक भाषा
4. इटैलो-आर्य भाषा परिवार

अ—लैटिन

ब—रोमन भाषा उप-परिवार

(1) फ्रेन्च (2) पोर्चूगीज (3) इटेलियन (4) स्पैनिश।

5. बाल्टो स्लैविक आर्य भाषा परिवार—

अ—वाल्टिक (पुरानी प्रशन भाषा-लिथूयेनियम-लैट्टिक)

ब—स्लेवोनिक (बुलगारियन-चैक पोलिश-रसो-सर्बियन-स्लोवाकियन)

6. आर्य-जर्मन भाषा परिवार—पुरानी जर्मन-ऐंग्लो सैक्सन
7. केल्टिक भाषा परिवार—वोल्श-कौरन्शि
8. अनार्य ट्यूटोनिक भाषा परिवार-नोर्स-डेनिश-स्वीडिश-आइसलेन्डिक।
9. अनार्य गोथिक भाषा परिवार।

इन सब भाषाओं वाले क्षेत्रों में परिवार के विकास को वे शब्द प्रकट करते हैं जो भारत के ही समान नाते-रिश्ते वालों को सम्बोधित करते हुए इन भाषाओं में प्रयुक्त हुए हैं। विस्तार भय से यह सूची शोध से निकाल दी गई है। परन्तु उससे परिवार का इन देशों में समानान्तर विकास प्रगट होता है और यह मत स्थापित होता है कि, वह भारत की आरम्भिक व्यवस्था की नकल है। इस पद्धति और संस्कृति के कोई मूल उभय निर्माता होने चाहिए जो कि भारत के आर्य मनीषी ही थे। ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ में इस संस्कृति का प्रचार आर्यों ने ही भूमण्डल में किया था।

06. निष्कर्ष : उक्त वर्गीकृत भाषाभाषी देशों में प्रायमरी (मूल) रक्त सम्बन्धों (दो पीढ़ी तक के) तथा यौन सम्बन्धों के लिए संस्कृति से उद्धृत शब्द ही प्राय: प्रयुक्त हैं। अर्थात् आर्यों में जो प्रारम्भिक परम्परा एक-दो पीढ़ी मात्र तक परिवार निभाने की थी वह वहाँ भी है। परन्तु वर्णनात्मक ढंग से योगरूढ़ि शब्द बढ़ते हुए रिश्तों के लिए क्रमश: अपनाये गए हैं। इन रिश्तों के लिए शब्दों की विद्यमानता ही से स्पष्ट होता है कि भाषा की तरह परिवार प्रणाली भी आर्यों की ही योरुप को देन है। मनु ने एक स्थान पर कहा है :

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मन: ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्याम् सर्वमानवा: ।।

बहुत पूर्व सारे देशों के लोग भारत में आकर भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा और संस्कृति भारत से ले जाते थे। भारत से नीतिकार और आचार्य भी बाहर जाते रहे और आर्यों के अनेक परिवार भारत से निकलकर पश्चिम के मार्ग से जाकर ग्रेट ब्रिटेन तक में जा बसे। और अपनी संस्कृति सभ्यता और अपने संगठन साथ लेते गये। सिकन्दर महान जब भारत से लौटा था, पंडित कलानाथ को अपने साथ ले गया था। कलानाथ ग्रीस (अथेन्स) में जाकर पछताया और अग्निदाह करके मर गया। उससे पहले आचार्य शर्मनाचैय वहाँ गये थे। अथेन्स में एक समाधि स्थल बना है जिस पर पत्थर से खुदा है कि इस स्थान पर आर्यन आचार्य चैय ने आत्म दाह करके अमरता प्राप्त की थी। (मैक्समूलर (Op. Lit. : पृष्ठ-15/1)। अस्तु, राजनीति के प्रकरण में भी परिवार और सम्पत्ति पर परिवार के अधिकार और सम्पत्ति के व्यक्तिकरण तथा परिवार के मुखिया का स्वयं स्वीकृत शासन आदि के रूप में शासन पद्धति का श्रीगणेश आर्य-परम्परा की देन थी। वह इतनी स्वाभाविक

थी कि सारे सभ्य संसार ने उसे स्वीकार कर लिया। यूरेशिया में उसका विकास देश-देश में, राष्ट्र-राष्ट्र में, ग्राम-ग्राम में, समुद्र तथा पर्वत दोनों से वेष्टित भूभागों में हुआ। इसमें सहस्रों वर्षों का समय लगा, और परिवार-प्रणाली एक स्वयं स्वीकृत प्रथा बन के रह गई।

6.02.12. **स्व-प्रयत्न से अर्जित सम्पत्ति और परिवार प्रणाली से विद्रोह:** (Anti The sis)

प्रारम्भिक कर्म-काण्ड और पितृ-पूजा से भरे समाज में जब नैतिक मूल्यों का विकास हुआ तब उत्तराधिकारादि के नियमों में परिवर्तन हुआ। धीरे-धीरे पारस्परिक सुरक्षा का भार लेने वाले अन्य राज्य जैसे संगठन बनने लगे। अतः पारिवारिक सम्पत्ति से पृथक् निजी सम्पत्ति का भाव पुनः उठ खड़ा हुआ। अपने विद्यादि गुणों से व्यक्ति ने जो कमाया वह उसका अपना है। उसका प्रयोग वह (दान-विक्री) अपनी मर्जी से कर सके, ऐसी व्यवस्था की माँग की गई। हाँ उसके कुछ भाग पर थोड़ा अंकुश परिवार का माना ही गया। जब कृषि सम्पदा से पृथक् अन्य सम्पदा का उत्पादन संभव हुआ, तब इस व्यक्तिगत मनोवृत्ति का पुनर्जन्म हुआ। उद्योग, कला, व्यापार से उपस्थित इस धन-प्राचुर्य से पूर्व ही भारत में निज-प्रयत्न वाली सम्पदा पर भी परिवार का अधिकार माना गया था। परन्तु लगभग उसी समय के ग्रीक कानून में ऐसा नहीं था। इसका कारण अर्थशास्त्र न होकर पारिवारिक आधार था। इसी प्रकार लैटिन देशों की पितृमूलक व्यवस्था में भी इस निजी अधिकार के पुनरोदय में समय लगा। परिवार का मुखिया स्वभावतः इस प्राइवेट सम्पत्ति का विरोधी था। जब रोम का साम्राज्य बना और वेतनभोगियों की संख्या बढ़ी, तब वहाँ भी प्राइवेट अधिकारों का पुनः सृजन हुआ। भारत में भी इसके सम्बन्ध में दो विभिन्न कानून केवल 50 वर्ष के अन्तर में बने (जीमूतवाहन और विज्ञानेश्वर के)। अतः इस विभिन्नता का कारण भावनात्मक है—उत्पादन-परक नहीं है। भारत में जीमूत वाहन की व्यवस्था ही अधिकांश भाग में चली। पर साथ ही साथ व्यक्तिगत अधिकार के भाव भी बने रहे। परिवार को समाप्त या शिथिल करके व्यक्ति को परिवार के पंजे में न आने देने के कई प्रयत्न यह कहकर हुए कि मनुष्य परिवार की मशीन बनकर न रह जाये।

परन्तु मनुष्य ने उच्छृंखल बनना प्रारम्भ कर दिया था ही। उसने सोचा इतने बड़ कुनबे में फँसकर अपना व्यक्तित्व क्यों नष्ट करूँ। परिवार में जो आलसी और कामचोर हैं, उन्हें मैं कमा कर क्यों खिलाऊँ? और किसके लिए भोग-संचित करके छोड़ जाऊँ? तब उसको निकृष्टतम स्वार्थी होने से बचाने के लिए और उसे अनुशासन में रखने के लिए प्रवर और श्रम-विभाजन की व्यवस्थायें की गई—इनका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। प्रवर तक का संगठन तो यूरोप में भी हुआ। बाहर के आर्य वंश धारियों में फैला, पर उसके बाद तारतम्य टूट गया। अतः भारतीय श्रम-विभाजन पद्धति वहाँ नहीं पहुँची। फलतः परिवार के खिलाफ जबरदस्त विद्रोह एन्जिल ने किया और इस साम्यवादी चिन्तक का तो यह विश्वास था कि परिवार, वृहत्तर

समाज में कोढ़-वत है क्योंकि लोग समाज के व्यास के अन्दर एक और व्यास खींच लेते हैं, जिसके साथ शासक और समाज दोनों पक्षपात वर्तते हैं तथा परिवार के साथ जो उत्तराधिकार और सम्पत्ति को युग-युग तक निजी बनाये रखने की प्रतिक्रिया है वह साम्यवाद की स्थापना और सर्व-हारा वर्ग का तंत्र स्थापित करने में सबसे बड़ी बाधा है। इसलिए हम देखते हैं कि परिवार के प्रचलित रूप के खिलाफ गत शताब्दी में दो प्रयत्न हुए हैं। एक सेमेटिक यहुदियों द्वारा और दूसरा आर्य प्रवर दयानन्द सरस्वती और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज द्वारा।

6.02.13. साम्यवाद द्वारा परिवार-विच्छेद :

-ऐञ्जिल के दर्शन के फलस्वरूप विश्व में झंझावत उठा है। यह हवा सब पुरानी मान्यताओं को भस्मीभूत करती हुई एक नये युग के निर्माण की घोषणा करती हुई, पश्चिम से पूर्व को बढ़ी आ रही है। सारी दुनिया ही एक परिवार है। उससे उतर कर, कोई छोटी इकाई ऐसी नहीं रहने दी जायेगी जिसे मनुष्य अपनी कहकर अपना प्रेम और त्याग उस पर केन्द्रित कर सके। स्पष्टतः इस व्यवस्था में परिवार और पत्नी दोनों नहीं होंगे। पत्नी शब्द के साथ जो संस्कार और इतिहास लगा है, वह साम्यवाद को असह्य है। पत्नी की अवस्था को वह पत्नी की आर्थिक आवश्यकता और पुरुष की वासना पूर्ति का परस्पर ठेका मात्र समझता है। सम्मिलित परिवार को वह कुछ निठल्लों को व्यर्थ में भोग्य पदार्थ मिलने देने का उपाय मात्र मानता है। परिवार की इकाई को साम्यवाद व्यर्थ का पचडा समझता है। जब तक परिवार रहता है, सगे सम्बन्धी का रिश्ता, रक्त की एकात्मकता, पति पत्नी की वे ही मान्यतायें जो विरासत में हमें अपने पुरखाओं तथा स्मृतिकारों से प्राप्त हुई हैं, बनी रहेंगी। साम्यवादी दार्शनिक ने यह बात सोची कि जब तक परिवार रहेगा, न केवल व्यक्ति, परिवार को समाज तथा राष्ट्र से ऊपर मानता रहेगा वरन् वह अपने राष्ट्रीय-भूत के साथ एक कड़ी जोड़े रहेगा। फलतः साम्यवादियों के प्रस्तावित नये समाज के निर्माण में उतनी ही बाधा आ उपस्थित होगी। अतएव परिवार को नष्ट करने के लिए साम्यवाद ने निम्न कार्यक्रम उपस्थित करके उस पर अमल किया है :—

1. प्रत्येक व्यक्ति के लिए आर्थिक कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी गई हैं। रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने का नारा दिया गया है। अब जितना कुछ एक व्यक्ति अर्जित करता है, उसको उतना ही पारिश्रमिक स्टेट तथा सरकार देती है, जितने में वह अकेला ही सुख पूर्वक रह सके। न कुछ बचेगा, न माँ बाप को कुछ देगा, अथवा भाई-बहिन में बाँटेगा। परिवार नष्ट हो जायेगा।
2. पाँच साला तथा दस साला योजनायें आदि इस प्रकार बनेगीं जिसमें उसे सदा अधिक श्रम करने की प्रेरणा दी जायेगी। उस पर समय ही न बचेगा, जो कि वह स्त्री-बच्चों में बाँट सके।
3. उसे सदा ओवर-टायम अर्थात् अतिरिक्त कार्य करने की प्रेरणा दी जायेगी

ताकि वह रात्रि को जाकर घर में लथपथ सो रहे। घर की अन्य व्यवस्थाओं में योगदान न कर सके।

4. राजकीय कार्यों में अविवाहितों को तरजीह दी जायेगी।
5. राज्य जो निवास गृह इत्यादि बनायेगा, वे एक या दो कमरे वाले मकान होंगे, जिनमें वह अकेला ही रह सके। वह अपने साथ स्थानाभाव से माँ, बाप या परिवार के अन्य सदस्यों को नहीं रख सकेगा।
6. सिनेमा, खेलकूद तथा मनोरंजन के साधन सस्ते में या निःशुल्क जन साधारण को प्राप्त कर दिये जावेगें। युवक और श्रमिक मनोरंजन के लिए घर और स्त्री की ओर नहीं भागेंगे।
7. विभिन्न प्रकार के बौद्धिक शिक्षा के केन्द्र खोल दिये जायेंगे। श्रमिक को प्रोत्साहन दिया जावेगा कि वह काम से बचा हुआ समय इन क्लबों में बिताये न कि घर गृहस्थी और बच्चों में।
8. होटलों में सस्ते खाने का प्रबन्ध होगा। सुन्दर आकर्षक होटल बनाये जावेंगे ताकि मनुष्य वहाँ पर भोजन करके तृप्ति प्राप्त कर लें।
9. सहशिक्षा को प्रोत्साहन दिया जावेगा।
10. तलाक की प्रथा चालू की जायेगी।
11. परिवारों के इन्सपेक्टर नियुक्त होंगे। वे घरों की सुविधा और प्रबन्ध में सहायता के नाम पर, घरों में जाकर, परिवार तोड़ने को प्रोत्साहन देंगे। वे परिवारों का बजट भी चैक करेंगे।
12. घरों में जो पुरानी वस्तुयें, कपड़े, बर्तन, फोटो और हस्तलिखित ग्रंथ आदि होते हैं, उन्हें देश हित के लिए, अथवा अजायबघरों को दान करने की सतत प्रेरणा दी जायेगी।
13. प्रत्येक घर में जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति (अतिथि) की रजिस्ट्री करानी होगी। अतिथि बनने और अतिथि सेवा दोनों को हेय दृष्टि से देखा जायेगा।
14. घरों में मित्रों को इकट्ठे होकर गप्पे मारने पर प्रतिबन्ध होगा।
15. सेंसर में निजी चिट्ठियाँ पढ़ लेंगे। टेलीफोन की बातें सुन लेंगे।
16. विरासत और उत्तराधिकार के अधिकार, धीरे-धीरे समाप्त किये जावेंगे।

इन सब कार्यवाहियों में एक उद्देश्य स्पष्ट हैं, और वह है, परिवार को समाप्त करना, ताकि मनुष्य भौतिकता का कायल हो जाये। उपरान्त शासन करने वाली सत्ता जो कहे उतना कर दे और वह जो कुछ भोग दे, उसे सहर्ष स्वीकार करके उसी में सन्तुष्ट रहे। परिवार की छोटी-मोटी इकाइयों को नष्ट करना साम्यवादी राज्य में परम आवश्यक प्रोग्राम है।

> "It is in reality an entire world philosophy; in religion, it is altruism; in the state, a Democratic Republic; in Industry, a popular collectivism; in metaphysics, materialism; in the home

an almost loosening of family ties and the marriage bond."

साम्यवाद द्वारा एक ऐसे समाज का निर्माण किया जा रहा है जिसमें विवाह पवित्र बन्धन न होकर केवल रति-क्रिया लाभ के अन्तर्गत किया जाने वाला क्षणिक (Contract.) ठेका मात्र रह जाये। ऐसे प्राणी का सृजन किया जा रहा है जो कह सके :

Born in Hospital, Brought up in Nursury, educated in college, living in hostel How am I concerned with family ?

(अस्पताल में पैदा हुआ, नर्सरी में चाय के दूध पर पला, पब्लिक स्कूल व कालिज में पढ़ा, होस्टल में रहा व्यक्ति मैं, परिवार को क्या जानूँ ?)

कवि अकबर इलाहाबादी ने एक चुटकी ली :

हर्फ पढ़ा टाइप का, पानी पिया पाइप का
दूध पिया डब्बा से, काम क्या अब्बा से ?

संक्षेप में, हम यों कह सकते हैं कि अत्यन्त तेजी की अर्थ-व्यवस्था उत्पन्न कर दी गई है; जिसमें अतिथि-सत्कार तथा पारिवारिक-त्याग दोनों की आहुति दी जा रही है। लाभ की कसौटी वाले युग में अपने ऐश-आराम में कमी करके वृद्ध, कृष व अनुत्पादक माता-पिता को बुढ़ापे में सहायता देना मूर्खता करार दी जाने लगी है। व्यावसायिक क्रान्ति, नौकरियों का केन्द्रीय करण, शहरों की घनी बस्तियाँ और आँगन विहीन दो-दो कमरे के छोटे-छोटे घर, परिवार नियन्त्रण का प्रचार, केन्टीनों व होटलों का जाल जहाँ घर बिना गये ही सस्ता भोजन प्राप्त है, पके-पकाये भोजन व बिस्कुट, स्त्रियों का जागरण, उनमें घर छोड़ नौकरी के लिए घर से बाहर आने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन, स्त्रियों के मताधिकार, अविवाहित रहने की प्रवृत्ति, परिवार नियोजन के नाम पर भ्रूण-हत्या इत्यादि की कानूनी आज्ञा, वरण-स्वातन्त्र्य, परिवार का छोटा होना, यौन नैतिकता के दोहरे माप दण्ड, घर के बाहर सस्ते मनोरंजन की प्राप्ति, क्लब व सिनेमा, बाहरी स्त्रियों की सुलभ प्राप्ति, मिताक्षरा परिवार की समाप्ति, उत्तराधिकार के नये कानून, गोद सम्बन्धी कानून, स्त्रीधन तथा अन्य सम्पत्ति की समानता, दायादि के अनधिकारत्व की बात, मृत्यु-कर, योजनायें, रुपया लगाने की सुरक्षित विधियाँ, इनकम टैक्स के कानून, विवाह सम्बन्धी सिविल मैरिज के नियम, नौकरियों और व्यवसाय के लिए दूर-दूर बसना और तबादिले यह सब शस्त्र परिवार को समाप्त करने के लिए इस शताब्दी में साम्यवादोन्मुख राष्ट्रों द्वारा प्रयोग किये गये हैं। साम्यवादी देशों में तो परिवार पनपने ही नहीं दिए जाते हैं। कौन किसकी पत्नी और कौन किसका पति ? कौन किसका पुत्र और किसका दामाद और उत्तराधिकारी ? वसुधैव कुटुम्बकम् (सारी वसुधा ही एक परिवार है) ऐसा कहा तो राष्ट्रीयता की अति वर्जन के लिए गया था, पर उसका प्रयोग वास्तविक परिवार प्रणाली को नष्ट करने में किया जा रहा है। परिवार को अब निहित स्वार्थों को पनपा कर मनुष्यों की वास्तविक समता स्थापित करने में व्यवधान माना जा रहा है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या किया जावे ? क्या परिवारों को नष्ट होने

दिया जावे ? यह बात तो सत्य है कि उनसे पक्षपात का जन्म होता है और जो सम्पत्ति सार्वजनिक उपयोग में आ जानी चाहिए, उसके चारों ओर (concen- tric Circle) विभिन्न व्यासों की अनेक परिस्थितियाँ खींच दी गई हैं ताकि वह सदैव वैयक्तिक ही बनी रहे ।

6.02.14 दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण

(01) **श्राद्ध और तर्पण**—आज हिन्दुओं ने मृत व्यक्तियों का पुनर्जन्म लेने से पूर्व एक लोक में होने की और मृत आत्माओं के वहाँ कुछ काल रहने की कल्पना की और उनके यदा-कदा पूर्व कुटुम्ब में स्वयं या बुलाये जाने पर आने की बात स्वीकार सी की हुई है । पर वेद नेइस मूल बात पर यह मत किया था :

अंगिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सोम नसै स्यामः । (ऋग्वेद 10/14/6)

(मृत जीवों का कोई लोक नहीं है । मुक्त जीवों के अलावा सबका तुरन्त पुनर्जन्म होता है । अस्तु, जीवित पितरों का यहाँ आह्वान किया गया है । योग विद्या जानने वाले नूतन भाव वाले—अथर्व वेत्ता-भृगव (सौम्य सम्पन्न) इन सब अपने पितरों की सुमति में हम चलें ।) वैदिक समय में मृतों का तर्पण नहीं होता था ।

कालान्तर में स्रोत सूत्रकारों ने पितृ पूजा, श्राद्ध, पिण्ड और तर्पण का जो गोरख-धन्धा खड़ा किया है, उसका उल्लेख पीछे हो चुका है ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने परिवार के इस विस्तार, उसके द्वारा सम्पत्ति के शाश्वत हस्तान्तरण और उसके साथ पिण्ड तर्पण के धार्मिक कार्य-कलाप का बल पूर्वक खण्डन किया । वे आभ्यान्तरिक परिवार मात्र को बनाये रखना चाहते थे ।

ईशानासः पितृवित्तस्य रायो (ऋग्वेद 1/73/9/) में कहा है कि हम पिता से उत्तराधिकार मिलने वाली धन सम्पत्ति के स्वामी बनें । बस पिता का ही यहाँ उल्लेख है । ऐसे ही ऋग० 1/73/1 में भी कहा है : रयिर्न यः पितृवित्तः ।।
दूसरी ओर परिवार को पूर्णतया नष्ट करना भी उन्हें मार्क्स की तरह अपेक्षित नहीं था । पर वे परिवार को असाम्य के प्रचलन का अस्त्र नहीं बने रहने देना चाहते थे । अतः उन्होंने वहीं से प्रारम्भ किया कि मृतों का कोई लोक नहीं होता और आत्मा का मरते ही तुरन्त अन्यत्र जन्म होता है । (स० प्र० समु०-2 पृष्ठ 30) बिना शरीर के वे कोई दुःख, सुख, मोह का भोग सिवाय मोक्ष अवस्था के; और किसी हालत में नहीं कर सकते । चारवाक ने कहा था कि हम भी तो किसी के पितृ हैं, पर हमें आज तक किसी का भेजा अन्न जल नहीं मिला और न ही हम इस शरीर में रहते हुए हम आज तक किसी पिछले कुटुम्ब में कभी सैर करने ही गये हैं ।

अस्तु, स्वामी दयानन्द ने आश्वलायन गृह्य सूत्र ।। 2-4 ।। का जीवित पितर पूजा-परक अर्थ किया ताकि परिवार के ज्येष्ठों की सुश्रूषा पद्धति ही जारी रहे ।

ओं सोम सदः पितरस्तृप्यन्ताम्

इस मन्त्र में निम्नलिखित व्यक्तियों के तर्पण की आज्ञा थी :
सोमवद-बर्हिषद-सोमपा-हविर्भुज-आज्यपा-सुकालिन-यम-पिता-पितामह-प्रपितामह-पितृ--माता-पितामही-प्रपितामही-स्त्री-भगिनी तथा इनके सम्बन्धी—एक गोत्र के तथा कोई अन्य भद्र या वृद्ध-पुरुष।

दयानन्द ने कहा—यहाँ इन सबके जीवित होने की अवस्था में सम्मान करने का ही संकेत है। मृत हुए पितर घूमते नहीं रहते हैं। यह ही दयानन्द की मूल खोज है। दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुल्लास में पृष्ठ 30 पर यह उद्धरण दिया है :

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ।। (मनु० 5/65) ।।

इसका उन्होंने यों अर्थ किया है :

(जब गुरु का प्राणान्त हो तब मृतक शरीर जिसका नाम प्रेत है, उसका दाह करने हारा शिष्य प्रतिहार अर्थात् मृतक को उठाने वालों के साथ दसवें दिन शुद्ध होता है)।

सूतक का कारण विशुद्ध वैज्ञानिक (Hygienic) है—कोई पितरों का लौट आना नहीं।

वे आगे कहते हैं :

"और जब शरीर का दाह हो चुका हो तो उसका नाम भूत होता है। अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। परन्तु जिसको शंका, कुसंग, कुसंस्कार होता है उसको भय, शंकारूप भूत, प्रेत शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःख दायक होते हैं। देखो जब कोई प्राणी मरता है, तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर—परमेश्वर की व्यवस्था से सुख-दुःख के फल भोगने के अर्थ, जन्मान्तर धारण करता है।"

अस्तु, दयानन्द परिवार प्रणाली में जो धार्मिक भाव भर दिया गया था, उस अवैज्ञानिक अंश को निकाल देते हैं।

तीन पीढ़ी तक ही उत्तराधिकार का संकेत यजुर्वेद (19/37) में यों मिलता है :

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः
पुनन्तु मा पितामहाः।
पुनन्तु प्रपितामहाः
पवित्रेण शतायुषा।

पितर संज्ञा उनकी है जो मूलभूत पूँजी अर्थात् कारण द्रव्य को देते हैं। पिता स्थूल देह रूपी पूँजी भी देता है, अतः पितर है। उसकी अर्जित पूँजी भी पुत्र को प्राप्त होने से वह पितर है। यह क्रम पितामह (बाबा) तथा प्रपितामह (परबाबा) तक जाता है।

इनकी पूँजी विरासत में मुझ प्रार्थनाकर्ता को सौ वर्ष तक पवित्र करती रहे। इस पूँजी का सुरक्षित रखना, पितृ-मार्ग, है ! उसे जनहित में दे देना देवमार्ग है।

(02) **परिवार से मोह का पृथक्कीकरण** (Insulation.) : (क) **गुरुकुल व्यवस्था** : सन्तान के प्रति मोह घटाने के लिए वे अपनी गुरुकुल शिक्षा पद्धति के उपोदघात में कहते हैं :

> "राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई उस आज्ञा को न माने तो उसके माता-पिता को दण्ड देना। अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का व लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु आचार्य के कुल में रहें। जब तक समावर्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे।"
>
> (सत्यार्थ प्रकाश/तृतीय समुल्लास पृ० 75)

इस व्यवस्था के समर्थन में वहाँ स्वामी जी ने मनु की व्यवस्था का संकेत दिया है :

> कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्। (मनु० 7/152)

पृष्ठ 39 पर वे पहले ही लिख चुके थे कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सकें। ऐसा राजनियम और जाति नियम होना चाहिए। पाठशाला में उन्हें अवश्य भेजें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो।'

इन सब विद्यार्थियों की समान शिक्षा पर वे बल देते थे। तीसरे समुल्लास में ही पृष्ठ 38 पर वे यों लिखते हैं :

"पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम या नगर रहे। सबको तुल्य-वस्त्र-आसन दिये जावें, चाहे वह राजकुमार हो या राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से या सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से मुक्त होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें।"

दयानन्द पारिवारिक मोह को समाप्त करने के पक्ष में थे। गुरुकुल में समावर्तन के समय वे आचार्य को बालक का वर्ण निर्धारण करने का अधिकार देते थे न कि बालक के पिता को। पश्चात तत्र-निर्णीत वर्ण के परिवार में बच्चे को भेज देने के वे पक्ष में थे। इस प्रसंग में एक शंका हुई कि इस पद्धति में वंश नाश की आशंका है। समाधान में, वे पृष्ठ चार पर पुत्र परिवर्तन की व्यवस्था से किसी का वंशोच्छेदन न होने की बात दुहराते हैं।" अपने-अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के दूसरे पर योग्य संतान विद्या-सभा और राज-सभा की व्यवस्था से प्रत्येक को दे दिये जावें।" इस प्रणाली में वंश चलाने वाला, निज रक्त के अतिरिक्त दूसरे रक्त का भी हो सकता है।

परिवार के मोह-संवरण के इस महानोद्देश्य से प्रेरित होकर ही दयानन्द ने

श्राद्ध-तर्पण को अवैज्ञानिक बताया तथा मृत पितर पूजा का खंडन करके जीवित पितरों की पूजा की पद्धति का प्रचलन किया। पुत्र-परिवर्तन का सुझाव क्रान्तिकारी और उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में पारिवारिक सम्पत्ति के योग्यता के आधार पर वितरणकी रूप रेखावत् था।

(03) **सम्पत्ति और मोह से मुक्त परिवार** : परन्तु सम्पत्ति और मोह के विराव से मुक्त किये हुए परिवार के वे पक्ष में थे और उसे बचाये रखना चाहते थे। गुजरात में मामा फूफा की बहिन से भी विवाह वर्जित नहीं है। वे गुजराती थे, पर आर्ष परम्परा के अनुसार उन्होंने मनु (अध्याय 3/5) का अपने सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में पृष्ठ 77 पर उद्धरण देकर यह बलपूर्वक कहा कि, माता-पिता की 6 पीढ़ियाँ तथा पिता का गोत्र बचाकर ही कन्या स्वीकार करनी चाहिए। इतने दूर विवाह करने के पक्ष में उन्होंने आठ दलीलें दी हैं। वे सब वैज्ञानिक आधार पर हैं। पितरों के आने या पिण्ड तर्पण के सिद्धान्त पर नहीं। दूर-दूर का सम्पर्क बढ़ना, दूरस्थों के मिलने से विशेष गुण का सृजन, निकट में परिचयाधिक्य से प्रेम में न्यूनता और ईर्ष्या का सम्वर्द्धन आदि कारण उन्होंने लिखे हैं। यही कारण है कि भारत के एक ग्राम में अनेकों जिलों की कन्यायें दिखाई देंगी, जिनके परस्पर आवागमन से शिक्षा और सस्कृति का आदान-प्रदान होकर देश में एकनिष्ठा बढ़ती है। योरुप के किसी ग्राम या साधारण नगर में अन्य नगर की कन्या शायद ही दिखाई दे। अस्तु वहाँ निरी कूपमंडूकता है तथा स्थानीय (Local Patriotism.) देशभक्ति मात्र है। भारतीय ग्रामों में, स्थानीय भक्ति के स्थान पर राष्ट्रीय प्रचेष्टा प्रतिष्ठित रहती है।

दयानन्द, विवाह का निश्चय लड़का लड़की के अधीन होना निर्दिष्ट करते हैं, और इस प्रकार आन्तरिक परिवार (Nulear Family.) के पक्ष में हैं। दयानन्द की यह व्यवस्था प्लेटो की शिक्षा प्रणाली और परिवार प्रणाली से मेल खाती है। आर्यों की अन्य योरुपीय शाखाओं में भी परिवार की इतनी ही मान्यता है।

इस प्रकार दयानन्द ने परिवार प्रणाली को बचा लिया, उसके ऊपर चढ़ी पर्तों का बहिष्कार करके। यह पथ साम्यवादी पथ से पृथक् है। सत्यार्थ प्रकाश के पृष्ठ 85 पर मनुस्मृति (8/78) को यह उद्धृत करते हैं :

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यते ॥

"जिस मार्ग से इसके पिता, पितामह चले हों, उसी मार्ग में सन्तान भी चले। जो सत्पुरुष पिता-पितामह हो उन्हीं के मार्ग में चले और जो पिता पितामह दुष्ट हों तो उनके मार्ग में भी न चले।"

रक्तपरक इतना अवशिष्ट सम्मान सदा मान्य रहेगा। राष्ट्र निर्माण का वह स्तम्भ है और होना चाहिए।

(04) **आश्रम-व्यवस्था** : अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न व्यक्तियों ने भी आपस में श्रम विभाजन किया। कुछेक ने तो जीवन-भर अध्ययन और शोध में अपना जीवन लगा-

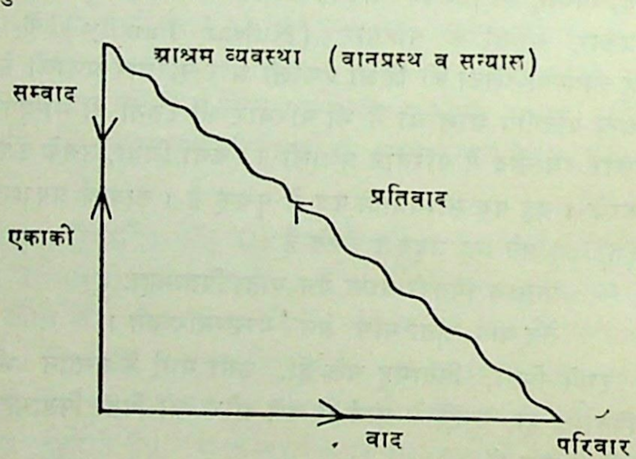
कर प्रकृति के रहस्य प्राप्त करना ही सर्वोत्कृष्ट कार्य समझा। वे कामिनी और कंचन से दूर रहे। अन्यों ने आध्यात्मिकोत्कर्ष ही को जीवन ध्येय बनाया और वे प्रभुभक्ति में मग्न रहे। कुछेक ने अपने से कम बुद्धि वालों की शिक्षा-दीक्षा का कार्य लिया। कुछेकों शेष सारे लोगों के भोजन आवास की व्यवस्था का कार्य अपने ऊपर ले लिया। मृत्यु से जो जनसंख्या कम होती थी, उसकी पूर्ति भी इन गृहस्थों के घर उत्पन्न हुए नवीन सृजन से हो जाती रही। कई पीढ़ियों तक यह क्रम चला। परन्तु जब उन्होंने पाया कि सगर्भ उत्पन्न बालक तो 100-200 वर्ष तक जी सकता है तो शेष तीन आश्रम वालों को इतना समय एक कार्य में ही रत होकर यापन करना दूभर लगने लगा। तब सार्वभौमिक यह नियम बनाया गया कि कुछेक व्यक्तियों को आयु पर्यन्त एक आश्रम में अनिवार्यतः रखना ठीक नहीं है। इसे ऐच्छिक कर दिया जावे। इस ऐच्छिकता का लाभ सभी ने उठाया। इधर विवाह जन्य ममता को दूर करना भी आवश्यक था, जो कि वैवाहिक वाद का प्रतिवाद था। तब मनुष्य की आयु को चार आश्रमों में बाँट दिया गया।

(1) ब्रह्मचर्य (2) गृहस्थ (3) वानप्रस्थ (4) संन्यास।

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृहीभवेत् गृहीभूत्यवनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥

(शतपथ ब्राह्मण=काण्ड 14॥ जावाल उपखंड 4॥

संयम पूर्वक विद्याध्यन, फिर निर्मित पद्धति से विवाह करके गृहस्य में प्रवेश करके जीविकोर्जन और सन्तानोत्पत्ति, तदनन्तरधन और आत्मीयजन दोनों का मोह छोड़कर, जनहित के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश, और अन्त में वन पर्वत की राह लेकर आत्मिक तप और प्रभु दर्शन की तैयारी।



6.03 समाज की दूसरी क्रान्ति और तीसरी व्यवस्था (आह्वनीय)

जो क्षेत्र रक्तपरक थे, उनके सदस्यों की 21 पीढ़ी के बन्धु-बान्धवों की संख्या बहुत बढ़ गयी। उनमें से विभिन्न धर्मा व्यक्ति हुए। वह संगठन क्षीण पड़ गया। स्वयं पुत्र

ही पिता के अनुशासन से मुक्त होने की बात सोचने लगा। कबीलों-कबीलों में भोज्य पदार्थों के विनिमय और विभाजन को लेकर ईर्ष्या, द्वेष का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था। रक्तीय मोह भी समाज में व्यक्तियों से अन्याय करवा ही देता था। तब समाज के चिन्तनशील व्यक्ति फिर एकत्रित हुए।

सोदक्रामत्साहवनीये न्यक्रामत् । यन्त्यस्य देवा
देवहूतिं प्रियो देवानाम् भवति य एवं वेद।

(अथर्व-8-10-4 व 5)

प्रजा (सा) में फिर क्रान्ति हुई और इस बार वह आह्वनीय अग्नि बनकर प्रगट हुई। तब तक अग्नि का आविष्कार अंगिरा ऋषि ने कर दिया था। अग्नि के शुद्ध करने वाले गुणों पर सब मुग्ध थे। प्रथा यह डाली गयी कि जो कुछ परिवार के व्यक्ति कमा कर लायें, उसे यज्ञाग्नि के चारों और बैठकर समान भाग में बाँटकर खायें। उस अग्नि देव के सानिध्य में और देवताओं के आने की भी कल्पना की गयी, और उनके सन्मान स्वरूप भोग्य पदार्थों में से प्रथम नेवाला उस अग्निदेव को भेंट किया गया। यह आदि समाजवादी प्रथा थी। लोग भोग पदार्थों की यज्ञ शेष की संज्ञा देते हैं या देते थे। मानों अग्नि देव ने ही उन्हें भोग पदार्थ कृपा कर दिए हों। प्रसिद्ध साम्यवादी नेता अमृत श्रीपाद डाँगे ने भी भारतवर्ष का इतिहास लिखा है। उसमें उन्होंने मत प्रतिपादित किया है कि भारतवर्ष में यज्ञ साम्यवादी पद्धति का वह रूप था जिसमें सब लोग स्वसामर्थ्यानुसार कमा कर लाते थे, पर यज्ञ के सम्मुख बाँटकर यथावश्यक भोग प्राप्त करते थे और प्रथम भेंट अग्नि को देकर कहते थे, "इदन्नमम" यह मेरा नहीं है। अग्नि हर बात की, हर व्रत की साक्षी होती थी। आह्वनीय वही अग्नि है। स्वयं ऋक् और यजु दोनों वेदों में उपोदघात ही अग्नि शब्द और अग्नि के स्तुति गान से होता है। पर यह तो वास्तव में आर्यों में वैयक्तिक अधिकार (Individual Property) का द्योतक है, क्योंकि साधन सम्पन्न ही दक्षिणा देकर ऋत्विजों को विनियोजित कर सकता था।

6.0301. यज्ञीय संगठन

इस यज्ञीय संगठन से, अपूर्व प्रवरीय साम्यवाद का जन्म हुआ था। परिवार में जो समता सीमित थी, वह बाहर आकर एक-सी पूजा पद्धति वालों में फैल गयी। इस स्थिति का ऋग्वेद में यों वर्णन किया गया है :

संसीमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ 1 ॥

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ 2 ॥

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभि मंत्रयेवः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ 3 ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहामति ।। 4 ।।

(ऋग्वेद 10/191/1 से 4 तक)

संक्षेप में इस यज्ञ की उपलब्धियाँ यह थी :—

(1) संघ की शक्ति
(2) वाद-विवाद की परम्परा
(3) मन के सुसंस्कार
(4) कर्तव्यशीलता
(5) समान विचार और महत्वाकाक्षा
(6) समान उद्देश्य
(7-8) समान भाव व मन और हृदय
(9) समान उपभोग

यज्ञ में हरेक मन्त्र के अन्त में बोलते हैं स्वाहा (समर्पण) और (2) इदन्नमम (यह मेरा नहीं है) ।

6.03.02. यज्ञाग्नि जनित संगठन का रूप

इस क्रान्ति के फलस्वरूप कबीला जो रक्त-परक था, अब गुरु या पूजा-पद्धति-परक हो गया। उसके लिए आर्ष परम्परा में प्रयुक्त शब्द 'प्रवर' था। हर परिवार के मुखिया द्वारा एक विशिष्ट कर्म काण्ड की प्रणाली अपना ली जाती थी। उस यज्ञ और पूजा के समय, हर परिवार का प्रथम-पुरुष उस कर्म काण्ड के प्रस्तोता (मुख्य-गुरु) का नाम लेता था। वही नाम उन सब परिवारों का प्रवर अर्थात् आधातिमक-गोत्र हो जाता था। यह गुरु दस थे। अतः इस देश की आजादी दस प्रवरों में बँट गयी। ब्राह्मणों में अपने को इन्हीं दस का शिष्य माना। कालान्तर में यज्ञ के पुरोहित का ही आध्यात्मिक प्रवर उसके विभिन्न वर्णस्थ यजमान अपना लेते थे। अतः आज जो प्रवर ब्राह्मणों के हैं वे ही क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र सभी के हैं—उदाहरणार्थ वशिष्ठ व वाल्मीकि प्रवर, ब्राह्मण और भंगी दोनों के हैं। यह रक्त परक न होकर पूजापरक हैं।

किसी कुल के प्रवर ऋषि वे हैं, जिन्होंने ऋग्वेद के सूक्त रचे हैं, और अग्नि की स्तुति वा यज्ञ किया है। पर प्रवर निश्चित हैं। किसी जन्मना जाति के प्रवर चार या पाँच से अधिक नहीं होते।

आपस्तम्ब सूत्र में इस पर लिखा है कि "एकं वृणीते, द्वौ वृणीते, त्रीणि वृणीते न चतुरो न पंचाति वृणीते"। अर्थात् प्रवर में एक या दो या तीन ऋषियों का उच्चारण करें। चार या पाँच या अधिक का न करें। समय के साथ आपस्तम्ब की बात टूटी। ऋषि प्रवर ब्राह्मण भी क्षत्रिय भी और वैश्य भी होते थे, क्योंकि यह तो विद्वत्ता का प्रश्न था—मन्त्र द्रष्टा कुल बारह ऋषि हुए हैं। इनमें से दो क्षत्रिय (मनु तथा ऐल पुरुरवा) तथा तीन वैश्य भलनन्दन-वत्स तथा संकलि) भी हैं।

6.03.03. प्रवर के स्थान पर गोत्र शब्द के प्रयोग का आरम्भ

पिछली रक्तपरक संस्कृति को भुलाने के लिए स्मृतिकारों ने प्रवर के स्थान पर गोत्र शब्द चलाये रक्खा। इतिहासकार श्री रजनीकान्त शास्त्री ने भी लिखा है कि पुरोहितों के गोत्र-प्रवर को ही यजमान अपना गोत्र प्रवर माने, ऐसा शास्त्र का मत है। अपने वंश का इतिहास लिखते समय उन्होंने लिखा है कि वंश परम्परा से प्रसिद्ध ब्राह्मण रूप आदि पुरुष का नाम गोत्र है। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा वर्ण-संकरों के कोई गोत्र नहीं होते। अतः इनके वे ही गोत्र बोले जाते हैं जो इनके पुरोहितों के होते हैं। इस मत के पक्ष में सबसे बड़ा प्रमाण है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में एक समान गोत्र पाये जाते हैं। भंगी, धोबी, मेहतर आदि के भी गोत्र वशिष्ठ आदि के नाम पर हैं।

(आध्यात्मिक) गोत्रों की संख्या

(1) मूल गोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि भारत।
अंगिराः कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च॥

(महाभारत शान्ति पर्व/अ० 296)

(पुरातन काल में अंगिरस, कश्यप, वशिष्ठ और भृगु यह चार ही गोत्र थे) इन्हीं से शिष्यों की संख्या बढ़ी। यहाँ भी गोत्र शब्द शिष्यत्व का सूचक है।

(2) कालान्तर में बोद्धायन स्मृति में गोत्र जनक ऋषि 1+7=8 लिखे हैं (बौद्धायन का समय ईसा पूर्व 6वीं शताब्दी है)।

(यह 8 यों है—विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ कश्यप और अगस्त्य।)

(3) पुराणों के समय तक इनकी संख्या दस हो गयी थी।

ब्रह्मा के दस मानस पुत्र थे—भृगु, मरीचि, अत्रि, अंगरा, पुलह, ऋतु, मनु, आषि=दक्ष, वशिष्ठ और पुलस्त्य। मनु स्मृति अध्याय। श्लोक 55 में यह क्रम फिर बदल गया है।

वहाँ दस प्रजापति माने हैं : मरीचि, अत्रि अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, प्रेतस वशिष्ठ, भृगु व नारद। जब यह स्पष्ट है कि 4 वर्ण और 1100 जातियों के सब पुरुष 4 या 7 या 8 या 10 व्यक्तियों की सन्तान नहीं हो सकते। यह केवल पुरोहितों के नाम हैं।

यह संगठन आर्य संस्कृति में हजारों वर्षों तक चले। बाद में आर्य जन जब भारत के बाहर गये तो यह शैली भी साथ ले गये। आर्यों की जो टुकड़ियाँ बाहर चली गयी थीं, उनमें भी स्वतन्त्र रूप से वेद के निर्देशन में इस संगठन शैली का विकास हुआ।

6.03.04. मध्य एशिया में आह्वनीय संस्कृति

रक्त निर्मित संगठन के स्थान पर जो धार्मिक अनुष्ठानों से निर्मित पद्धति की स्थापना (Anti Thesis) प्रतिवाद के रूप में हुई, उस प्रक्रिया का साकार रूप हमें अरब में उत्पन्न इस्लाम के संगठन में दीखता है। इस्लाम की तौहदि (एकेश्वर वाद) के प्रचार हेतु दृढ़ संकल्पी नेताओं और खालीफाओं ने युद्ध लड़े और विजयी होने पर अपनी पूजा-पद्धति अनिवार्य कर दी। विरोधी पूजा पद्धतियों और उनकी पूजा के प्रतीकों तोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया। फिर अपनी पूजा-पद्धति से आवेष्टित व्यक्तियों के रहन-सहन, खान-पान, शिक्षा-संस्कृति, पर्व-उत्सव, वैवाहिक नियम और विरासत के कानून सब की एक विशिष्ट पद्धति निर्मित करके उसमें सबको आबद्ध कर दिया। एक शासन पद्धति भी निर्मित की गई, जोकि कुरान के आधार पर थी।

वाद, प्रतिवाद और सम्वाद की प्रणाली न अपनाने के कारण मुस्लिम देशों में और मुस्लिम समाज में न तो दक्षिणाग्नि (वर्ण-व्यवस्था) की प्रणाली आ सकी, न सभा की, न समिति की और न राष्ट्र की। यह विशाल जन-समुदाय संस्कृति के विकास से वंचित रह गये।

05. योरुपीय आर्य वर्गों में भी प्रवरीय (आह्वनीय) शैली के संगठन का विकास :—

आर्यों की भाषा संस्कृत के परिवार की ग्रीक लैटिन प्रभृति भाषायें जिन देशों में बोली जाती हैं और जहाँ संस्कृत भाषा के साथ आर्यों की परिवार प्रणाली गयी, वहाँ भी हम ठीक ऐसी ही क्रान्ति हुई पाते हैं कि रक्त-परक प्रथा को एक-सी पूजा-परक या गुरु-परक प्रणाली में बदलकर पारिवारिक ममत्व का क्षेत्र विशद किया गया और उसके प्रति मनुष्यों की निष्ठा स्थापित करके वृहत्तर समाज का निर्माण किया गया।

प्लेटो ने (Laws) लाज पुस्तक में विचार प्रगट किया है कि जो "अपने कुल के अग्रजों को सम्मान देता है और जो उन्हीं देवताओं में विश्वास करते थे जिनमें वे, उसका वंश सदा अमर रहेगा क्योंकि परमात्मा पीढ़ी दर पीढ़ी विश्व का संचालन करते हैं। वंश क्रम का चलना इसलिए आवश्यक है कि प्रभु पूजा की वह पद्धति लगातार चलती रहे।" इससे स्पष्ट है कि प्लेटो का समय आते-आते परिवारों का आधार पूजा की विशिष्ट पद्धति से अनुसार ही रह गया था।

स्मिथ ने भी यही विचार प्रगट किया है कि ग्रीस में इसीलिए धार्मिक सम्प्रदाय प्रपन्न परिवार चलते रहे। वह कहता है :—

Community of religeous ancestory gave rise to community of worship and the importance of the ancestory and worship determined the importance of the gen. (Smith Vol. I p-90)

अपोलो पैत्रूस तथा जीडस हरकी—औस वे देवता थे जिनकी पूजा विभिन्न परिवारों द्वारा की जाती थी।

होमोग्लाइट से भी बड़ा क्षेत्र प्रेटरिया था जो सम्भवतः वर्ण का द्योतक था। इसका वर्णन आगे करेंगे।

लैटिन संस्कृति में जैन्स तो रक्त का द्योतक है पर वृहत्तर व्यास सेकरा का है। विवाह के समय कन्या पक्ष से आग का पलीता उठाकर लाकर वर के गृह केन्द्र में स्थापित किया जाता था। यह गृह अग्नि सदा प्रज्वलित रहती थी और सारे मंगल कार्य इसी अग्नि के सामने होते थे। हर गृहस्थ की इच्छा थी कि उसके घर में प्रयुक्त अग्नि की पूजा पद्धति (Sacra) सकरा (आचार) अनन्तकाल तक बनी रहे। ऐसे वर्णन प्राप्त हैं कि प्रसिद्ध प्युनिक युद्ध के समय एक जनरल युद्ध का चार्ज एक अयोग्य व्यक्ति को 2-4 दिन के लिए देकर चला गया था, ताकि घर जाकर वार्षिक पूजा कर आये।

6.03.06 निष्कर्ष

परन्तु विभिन्न दार्शनिकों ने जब विशिष्ट पूजा प्रणाली अपनायी और उनके शिष्यों ने उनके नाम पर जनता के सम्प्रदाय संगठित किये और उन्हीं में परस्पर विवाह प्रणाली प्रारम्भ करके उनका विशिष्ट कर्मकाण्ड निर्मित किया तो मानो वह प्रवर प्रणाली की पुनर्स्थापना है। जिन्दी, मुसायी, ईसाई, मुहम्मदी, बहावी प्रभृति सम्प्रदायों का पूजा पद्धति पर आधारित संगठन जो भारतेतर देशों में हुआ है, वह इस माननीय रुझान का द्योतक है।

भारतवर्ष के आर्यों में इसका उलटा हुआ। एक प्रवर (आध्यात्मिक गोत्र) के लोगों ने परस्पर अर्थात् उसी प्रवर में कन्या को विवाह में देना निषिद्ध कर दिया ताकि प्रवरों का परस्पर तारतम्य बना रहे। विभिन्न पूजा पद्धति वालों का ऐहिक स्वार्थों हेतु संगठन आर्यों को नहीं रुचा। अतएव आर्यों में द्वैत, अद्वैत, नास्तिक, शांकरमतीय, शिव पूजक और वैष्णवों के (Secular) संगठन नहीं बने। इसके लिए एक और क्रान्ति हुई जो वर्ण व्यवस्था (दक्षिणाग्नि) कहलाती है। जिसका वर्णन अगले अध्याय में करेंगे।

6.03.07. दयानन्द सरस्वती का मत

स्वामी दयानन्द ने भी इस प्रवर प्रणाली का सीमित समर्थन ही किया है। उन्होंने प्रवरों के आदि प्रस्तोता ऋषियों के ऋण का भार सन्तति पर तो डाल दिया है और आने वाली पीढ़ियों को ऋषि तर्पण करके उस रूप से उऋण होने की बात कही है।

आश्वालयन गृह्य-सूत्र (3/4) में देव तर्पण का यों वर्णन है :

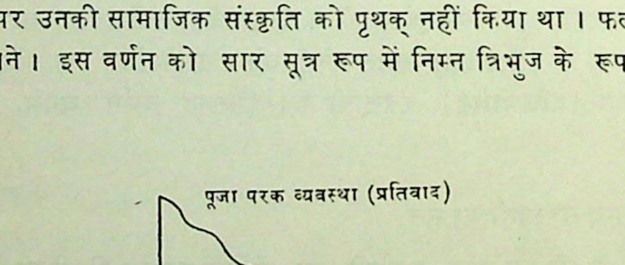
ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्।
ब्रह्मादिदेव पत्न्यस्तृप्यन्ताम्।
ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम्।
ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम्॥

इसका अर्थ दयानन्द सरस्वती सत्यार्थ प्रकाश के समु० 4 पृष्ठ ९४ पर यों करते हैं कि : "जो सांगोपांग वेदों के जानने वाले हों, उनका नाम ब्रह्मा है—उनसे कम शिक्षित देव कहाते हैं। उनके सदृश उनकी विदुषी स्त्री, ब्राह्मणी देवी और उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों उनकी सेवा करना नाम ही उनका श्राद्ध और तर्पण है।"

यां मेधाम् देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ यजुर्वेद (32/14)

[जिस मेधा (बुद्धि-संस्कृति) की हमारे पितर और देव उपासना करते रहे हैं, वही मेधा और संस्कृति आज मुझे प्राप्त हों] ।

एक राष्ट्र के निर्माण में एक-रक्तता के बाद एक-सा आचार ही दूसरा स्तम्भ है। सृष्टि की दूसरी क्रान्ति के बाद वह तीसरी स्वाभाविक व्यवस्था थी। इसका नाश न हो सकता है न करना ही चाहिए, हाँ संशोधन सर्वथा ग्रहणीय है, यदि मूल की रक्षा हो। इसीलिए दयानन्द स्वामी ने इसे केवल स्तम्भ ही माना। यदि पूजा परक व्यवस्था मात्र पर ही समाज का वर्गीकरण उन्हें अभीष्ट होता तो वे अपने द्वारा प्रस्तुत आर्य समाज को भी हिन्दुओं के जन-मानस से पृथक् एक सम्प्रदाय बना देते जैसा गुरु गोविन्द सिंह जी ने गुरु नानक की सन्त वाणी से प्रभावित जनता को खालसा सम्प्रदाय के रूप में पृथक् संगठित किया और उनकी सामाजिक व्यवस्था, संस्कार, नाम रखने की प्रणाली आदि को पृथक् स्थापित कर दिया। इसके फलस्वरूप कालान्तर में सिक्खों ने अपने को पृथक् समुदाय घोषित करवा के 1947 में ही पृथक् राष्ट्र प्राप्त करना चाहा था, और जब वह न प्राप्त हो सका तो 1966-67 में पृथक् स्वकीय बहुमतीय प्रान्त प्राप्त कर लिया। जैन तीर्थंकरों ने पूजा प्रणाली पर आधारित पृथक् सम्प्रदाय बनाया था, पर उनकी सामाजिक संस्कृति को पृथक् नहीं किया था। फलतः ये पृथकतावादी नहीं बने। इस वर्णन को सार सूत्र रूप में निम्न त्रिभुज के रूप में व्यक्त कर सकते हैं :



6.04 समाज की तीसरी क्रान्ति और चौथी स्थिति=दक्षिणाग्नि

आचार-मूलक वर्गीकरण में कर्म-काण्ड के प्रवर्त्तक पुरोहितों की बन आती है। वे ही समाज मे प्रमुख होते हैं—वे ही प्रभावी होते हैं और प्रचुरता भी उन्हीं पर रहती है। पुरोहितों का नेतृत्व पोप लीला को जन्म देता है। उससे समाज का विकास रुक जाता है। ऐसा भी अनुभव किया गया कि एक ही व्यक्ति को प्रमुखता (Pre-eminence.) प्रभाव (Commanding Influence) प्रचुरता (Abundance) समर्पित करने से वह व्यक्ति शीघ्र ही चरित्र-विहीन तथा सत्ता का दुरुपयोग करनेवाला बन जाता है। अतः वेद का सुझाव था कि उस समय समाज का संगठन धर्म-निरपेक्ष (Secular) कर देना चाहिए। बस यही तीसरी क्रान्ति है।

सोदक्रामत्सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत्॥
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद॥
अथर्व वेद-8/10/6-7

(तब प्रजा में क्रान्ति होती है या हुई, और वह दक्षिण-अग्नि अर्थात् दक्षता के तप के रूप में प्रगट हुई। जो ऐसा जानता है, वह समाज के योग्य बनता है)।

(6.04.01 **गुरुकुल में वर्ण प्रदान** :

समाज की जो ऐहिक आवश्यकतायें थीं, उनकी पूर्ति आवश्यक थी। अस्तु यह आवश्यक था कि समाज को उन कमियों की पूर्ति में जुटाकर सुखी समाज की सृष्टि की जा सके। यह कमियाँ तीन प्रकार की थीं :

विद्या का अभाव,
न्याय का अभाव,
पदार्थों का अभाव।

अस्तु, गुरुकुल में पूर्वोक्त शिक्षा की समाप्ति पर समावर्तन के समय अन्तेवासी गुरु (Hostel Superintendant) तथा आचार्य (Principal) मिलकर यह निश्चय करते थे कि प्रवृत्ति और शिक्षा के आधार पर किस विद्यार्थी को किस काम पर जुटायें। यह ध्यान रहे कि लगभग 6 वर्ष की आयु से ही समाज का हर बालक अनिवार्य रूप से अपने माता-पिता के पृथक् कर के समान शिक्षा हेतु गुरु के आश्रम (Hostel) में लाकर रख दिया जाता था। अस्तु, निष्पक्ष गुरु-जन प्रवृत्ति और पात्रता के आधार पर बच्चे को व्रत लेने का परामर्श देते थे। जब व्रत ले लिया जाता था, तो उसे यज्ञोपवीत (यज्ञ+उपवीत) दे दिया जाता था। जो कोई व्रत न ले पाते थे उन्हें इन व्रत लेनेवालों का सहायक नियुक्त कर दिया जाता था। एक वर्ग पदार्थों

के, वृहद् उत्पादन की योजना बनाता था और अपने उपर्युक्त सहायकों की सहायता से उत्पादम करता था। दूसरा वर्ग इन उत्पादित भोग पदार्थों को बँटवाता और बँटे हुओं का संरक्षण करता था। और वितरण पद्धति में न्याय और नैतिकता की पुट तीसरा वर्ग देता था। इन चार मुख्य वर्गों में ही दक्षता विसृजित होती थी। यही वेद-वर्णित दक्षिणाग्नि का मूल रूप था। इस अध्याय में हम इस अग्नि के विस्तार की कहानी का वर्णन करेंगे :

6.04.02 समाज में कार्य विभाजन और वर्णों का सृजन :

आरम्भ में सृष्टि की आबादी बहुत कम थी। कंद-मूल-फल खाकर निर्वाह करते थे। लोगों के विचार सात्विक थे। व्यक्तिगत-सम्पत्ति परिवार-प्रथा के बाद स्थापित तो हुई थी, पर वह रोटी कपड़ा और मकान तक ही सीमित थी। जो उत्पादन किया गया उसे एक प्रवर के लोग यज्ञाग्नि के सामने बैठकर बाँट लेते थे। पुलिस और फौज की भी आवश्यकता न थी। परन्तु जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ी, उनमें न्यायादि के प्रचलन के कानून बने जिन्हें धर्म कहा गया। नीतिकारों ने कहा कि अब तो समाज में नीति को न मानने वाले, आलसी और अकर्मकर भी आ गये हैं। उन्हें समाज में सहस्रों आँखों और सहस्रों हाथ-पैर दिखलाई दिये। अर्थात् समाज में चारों ओर हजारों परिवार दीखने लगे। जो समाज बढ़ा था उसकी शिक्षा-दीक्षा एवं भरण-पोषण की आवश्यकता महसूस हुई। प्रश्न हुआ कि हजारों शीर्ष और नेत्रों और हजारों पाँव वाले नियन्त्रण रहित (विराट) समाज का मुख, बाहु, उर और पैर क्या है ?

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधाव्यकल्पयन ।
मुखं किमस्यासीत्किं बाहूकिमुरू पादाऽउच्येते ॥

(युजुर्वेद 31/10)

अगले मंत्र में उत्तर दिया गया :

ब्राह्मणोऽस्य मुखामासीद बाहू राजन्यः कृतः
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यामँः शूद्रोऽअजायत ॥

(यजुर्वेद 31/11)

पुरुष सूक्त के इस प्रश्नोत्तर में यह स्पष्ट है कि मुख जैसे कार्यों के लिए ब्राह्मण, बाहु जैसे कार्यों के लिए क्षत्रिय, उदर जैसे कार्य के लिए वैश्य और पैर जैसे कार्य के लिए शूद्र बनाये गये। जनसंख्या को 4 भागों में बाँट दिया गया और हरेक को कुछ न कुछ कार्य करना अनिवार्य कर दिया गया। मनुस्मृति के कर्ता ने इस कार्य विभाजन का उद्देश्य लोकों की वृद्धि बताया है :

लोकामान्सु विवृद्धियाँ मुख बाहू स्पायादत्तः ।
ब्राह्मणांक्षत्रिये वैश्य च निररर्तयत् । (मनुस्मृति/अध्याय 2 श्लोक 31)

(लोकों की वृद्धि के निमित्त प्रजापति (प्रजा के पति अर्थात् राज्य शक्ति ने) मुख-

बाहु- उरु और चरण रूप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— यह चार विभाग जनसंख्या के किए ।)

महाभारत शान्ति पर्व अ० 189 के श्लोक 1 से 13 तक यह प्रसंग उठा है । भारद्वाज मुनि भृगु महाराज से शंका करते हैं :

कामं क्रोधोभयं लोभं शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां न प्रभवति कस्मद्वर्णो विभज्यते ?

हे महाराज । जब क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, भूख और थकावट आदि हम सब मनुष्यों को समान लगती है, तब फिर वर्णों का विभाग कैसा ? भृगु महाराज के उत्तर का अनुवाद यों है :—

(ईश्वर ने सब मनुष्यों को आदि में समान ही बनाया था । तब उन सब की संज्ञा ब्राह्मण ही थी । उनके अपने-अपने भिन्न कर्मों ने ही उन्हें वर्णों में विभक्त कर दिया । जिन्होंने अपनी रुचि संसार से सुख भोगने और साहसी कर्म करने में दिखाई तथा जो तीक्ष्ण और क्रोधी थे , ये ब्राह्मण ही क्षत्रिय हो गये । कृषि और गो आदि पशु के व्यापार में जिनका झुकाव हो गया, वे वैश्य हो गये और जो हिंसा वृत्ति, प्रिय लुब्धा, सब प्रकार के परिश्रमशील कार्य करने में उद्यत थे, वे ही शूद्र बन गये ।

इन कर्मों के कारण ही ब्राह्मण व क्षत्रियादि के वर्ण हो गये । यों इन सब ही को धार्मिक यज्ञादि और अनुष्ठान का पूर्ण अधिकार है । ये चारों वर्ण जिनकी पुण्य गाथा वेद ही थी, वे सब पहले ब्राह्मण ही थे । तपस्या के अभाव में ज्ञानपरक पेशों से दूर होकर अन्य पेशों में चले गये ।)

यों भी ब्राह्मण और क्षत्रिय वाले पेशों में कम जनता ही खप सकती है । अतः तृतीय वर्ण का वैश्य तो शब्द (विश) जनता जनार्दन के लिए वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है । वैश्यों का उद्भव क्षत्रियों से ही हुआ है ।

टाड ने राजस्थान के इतिहास में चैप्टर 7 पेज 80 में उन चौरासी उप जातियों को गिनाया है जो राजपूती रक्त की होते हुए भी वणिक (व्यापारी) बन गई थी । जो शब्द उन्होंने प्रयोग किये हैं, वे यों हैं :

A table of eighty former mercantile tribes chiefly of Rajput orijin shall also be furnished in which the rememberence of some races are preserved, which would have perished.

क्षत्रियों से शूद्र बनने के प्रमाण महाभारत और मनुस्मृति दोनों में है :

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातयः ।
वृषलत्वं गतलोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।
पौण्ड्रकाश्चौड्, द्रविडाः काम्बोजायवनाः शकाः ।
पारदा पह्लवाश्चीनाः किरातादरदाः खशाः ।

मनु० अ० 10 श्लोक 43-44

ये क्षत्रिय जातियें क्रिया लोप से और ज्ञान न मिलने से लोकों में धीरे-धीरे

क्षुद्रता को प्राप्त हुई :—प्रौडिक, श्रौड़, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पन्हव, चीन किरात, दरद श्रौर खश। ये सब सैनिक वर्ग के लोग युद्ध का पेशा छोड़कर श्रमसाध्य पेशों में जुट गये।

मेकला, द्राविडा लाटा पौड्रलण्याः शिरास्तया,
शैहिका दरदां शवर यर्जदाः ।।
किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रिय जातयः,
पृथकत्वे गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात् च ।।

(महाभारत श्रनुशासन पर्व 35/श्लोक 17/.8)

मेकल, द्राविड़, लाट, पोण्ड्र, काम्बोज, शौण्ड्रिक, दरदः, पर्व, घोर, शवर, वर्बर, किरात श्रौर यवन सब क्षत्रिय जातियाँ हैं, किन्तु ब्राह्मण ज्ञान से सम्पर्क टूटने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हुई।

श्रस्तु, प्राप्रागैतिहासिक काव्य तो सब जातियाँ क्षत्रियों से तथा क्षत्रिय स्वयं ब्राह्मणों से उद्भुत हैं। क्योंकि जातियों के गौरव ब्राह्मण ऋषि भूल हैं।

निष्कर्ष स्पष्टतः यह है कि वर्ण बनने में दृष्टिकोण यही था कि समाज का कारोबार (Activity) सब लोगों में बाँट दिया जावे। लोग श्रपने पेशे बदल सकते थे। परन्तु टेकनिकल स्कूलों के श्रभाव में पिता श्रपने पुत्रों को श्रपने पेशे के राज श्रौर पद्धति सिखा जाता था। इस प्रकार समाज में परिश्रम श्रौर शैक्षणिक प्रबन्ध के हर गुण श्रौर फन में प्रवीण लोग सुलभता से प्राप्त हो जाते थे श्रौर इसी- लिए इस बात को श्रागे धार्मिक रूप दे दिया गया कि :

स्वधर्मे निधनंश्रेयः
परधर्मो भयावहः। गीता।

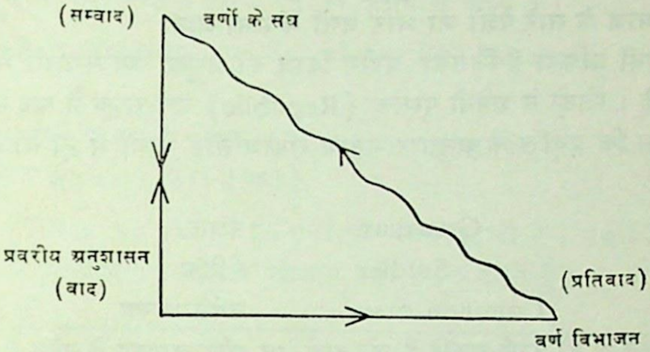
श्रपने पेशे में श्रेय है, चाहे वह गरीबी का ही हो। दूसरे का पेशा भयावह है सम्भवतः वर्ण व्यवस्था के जन्म मूलक हो जाने में यही परिस्थितियाँ तथा विचार कारण बने। फिर भी बपौती पेशा स्पृहणीय वस्तु होते हुए भी समाज में पेशे के बद- लने की सदा स्वतन्त्रता थी।

धीवर स्त्री से व्यास का जन्म है। श्वपाक (चांडाल) स्त्री से पेशेवर पराशर मुनि का जन्म है शुत्री से शुक्र, उलूकी से कणाद, हिरनी से श्रृंगी मुनि तथा गणिका से वसिष्ठ हुए। मुनि मंदपाल लाविका से श्रौर मंडुकी से माडव्य हुए। यह सब छोटी जाति में उत्पन्न होकर भी तप से ब्राह्मण वर्ण (पेशे) वाले बन गये।

इसी प्रकार दक्षिण में वैष्णव मत पुनरुद्धारक रामानुजाचार्य ने श्राज से 300 वर्ष पूर्व काँचीपूर्ण श्रब्राह्मण को श्रपना गुरु बनाया था। काँचीपूर्ण के गुरु यामुनाचार्य श्रौर दादा गुरु मुनिवाहन छोटी जाति के थे। मुनि वाहन के गुरु शाठ गोपालाचार्य तो सूप बेचने वाली जाति के थे।

वैष्णवों के 12 महन्तों में से श्रंदालम्मा का कुल श्रज्ञात है श्रौर तिरूप्यान श्रलवार श्रंत्यज कुल के थे। श्राचार्य रामानन्द के 12 शिष्यों में एक चमार, एक नाई,

एक कुण्ठा और एक विख्यात जुलाहा (कबीर) था। अस्तु, यह सिद्ध है कि एक पेशा करने वाले के घर में जन्मा व्यक्ति दूसरा पेशा अपना कर वर्ण बदल सकता था। सूत्र रूप में परिस्थिति निम्न त्रिभुज में वर्णित है :



6.04.03 **वर्णों के कर्म और स्वभाव का समुच्चय :**

आदि में और मनु के समय तक यह विभाग सामाजिक कर्तव्यों का जनता में विभाजन मात्र था। यह चारित्रिक अथवा नैतिक विभाजन न था। गीता के समय तक इसमें इसकी पुट आनी शुरू हो गई थी; यद्यपि महाभारत शान्ति पर्व अ० 185 में, जैसा कि आगे वर्णन किया जायेगा, यह बलपूर्वक कहा गया है कि इन सब वर्णों के धार्मिक तथा सामाजिक अधिकार और चारित्रिक स्तर के माप-दण्ड समान थे। केवल कर्म सौंपे जाने या स्वीकृत करने का ही विभाजन था। हाँ, कर्म-स्वातन्त्र्य (कर्म के चुनाव) में व्यक्तिगत स्वभाव का और स्थान का अवश्यभावी हाथ था। प्लेटो और अरस्तू दोनों ने यह भाव प्रगट किया था कि चालाक और धन के समीकरण में आस्था रखने वालों को व्यापार में लगा दिया जाये ताकि उनकी प्रवृत्तियों के प्रस्फुटीकरण के लिए एक पृथक् क्षेत्र मिल जाये, जहाँ उनके द्वारा समाज की अधिक हानि न हो, वरना वे समाज में यदि अन्यत्र स्वतन्त्र छोड़ दिये गये, तो सारे समाज की हिंसा करके उसे पापोन्मुख कर देंगे। परन्तु यह व्यवस्था भी साथ-साथ है कि वैश्य के पास धन का एकत्रीकरण, वितरण-हेतु है, ताकि वह अन्य वर्णों की आवश्यकतायें पूर्ण कर सके।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती अतिशय धन के एक स्थल पर एकत्रित होने पर निम्न प्रकार आशका प्रगट करते हैं :

"और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत-सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है, तब आलस्य, पुरुषार्थ-रहितता, ईर्षा-द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं, जैसे कि मद्य-माँस सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचारादि दोष बढ़ जाते हैं।" सत्यार्थ प्रकाश समु० 11 पृष्ठ 280। इसलिए दान देना उनके लिए अनिवार्य किया गया है और उनकी उपमा उरु (हृदय) से दी है जहाँ से सारे शरीर को शुद्ध

रक्त दिया जाता है। यही बात क्रोधी वृत्ति के स्वाभिमानी और अस्मितापूर्ण व्यक्तियों के लिए है। उन्हें अपनी वीरता, अनुशासन स्थापित करके शत्रु से मुकाबिला करने में लगाने का अवसर दे देना चाहिए। यह परम स्वाभाविक वर्गीकरण है जो समाज में हर व्यक्ति को स्वभाव और शिक्षानुसार पेशा प्रदान करता है।

6.04.04 **समाज के सारे पेशों का भार वर्णों में समा जाना :**

यह एक पुरानी प्रक्रिया है जिसका प्रयोग विश्व की प्रमुख व्यवस्थाओं में प्राय: सर्वत्र किया गया है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक (Republic) गण-राज्य में अब से 2400 वर्ष पूर्व लिखा था कि प्रवृत्ति के अनुसार मनुष्य समाज तीन भागों में ही बाँटा जा सकता है :

Guardian	रक्षक
Soldier	सैनिक
Common man	सर्वसाधारण

रक्षक के उसने वे ही कार्य बताये हैं जो दार्शनिक और ब्राह्मण के होते हैं।

आधुनिक समय में वैल्स (H. G. Wells) ने अपनी पुस्तक (Work, Wealth and Happiness of Man-kind) में मनुष्यों की प्रवृत्तियों के तीन विभाग किये हैं :

Peasant Perasona	कृषक प्रवृत्ति
Nomad Perasona	साहसी लोगों की प्रवृत्ति
Priest Perasona	पुरोहितों या शिक्षकों की प्रवृत्ति

पृष्ठ 313 पर वह इस तृतीय वर्ग की प्रशंसा में कहता है कि मनुष्य जाति का भविष्य इस प्रवृत्ति वालों की ईमानदारी और सत्यपरायणता से न फिरने वाले भाव पर ही निर्भर करता है।

यह चिन्तन यजुर्वेद के निम्न मन्त्रानुसार है :

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् क्षत्राय राजन्यं,
मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं।

ब्राह्मण का ज्ञान-सम्बन्धी, क्षत्रिय का राजकीय, वैश्य मरुत (वायु) वत तथा शूद्र का तप वाला अर्थात् श्रम-साध्य पेशा है। तात्पर्य ज्ञान-वितरण, न्याय वितरण, पदार्थ-वितरण और श्रम वितरण से है। इनमें किसी को विशेष दर्जा प्राप्त नहीं है। सब समाज की आवश्यकता पूरी करने में लगे हैं।

सारे पेशों का 4 वर्णों में मुख्यता वर्गीकरण किया जाना कुछ लोगों को आज के युग में असम्भव लगता है। परन्तु सूचनार्थ इस दिशा में ब्रिटेन में किये गये एक सर्वेक्षण को यहाँ उद्धृत करना समीचीन होगा। 1951 की जनगणना के बाद वहाँ के शासन ने यह वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया। उन्होंने पाँच वर्ग बनाये थे :

प्रथम वर्ग—प्रमुख बौद्धिक वर्ग (राजकर्मचारी, शासक, वकील, डाक्टर, इन्जीनियर प्रभृति)।

द्वितीय वर्ग— दक्ष मजदूर, फैक्ट्री के मजदूर, खानों के मजदूर, क्लर्क, पोस्टमैन।

चतुर्थ वर्ग---अर्थ-दक्ष-मजदूर, बस-कन्डक्टर, घरेलू नौकर, सफाई करने वाले।

पंचम वर्ग—अदक्ष मजदूर, चौकीदार।

यह पाँच वर्ग वहाँ के समाज की सामाजिक प्रतिष्ठा के क्रम में हैं, मासिक आय के क्रम में नहीं। 1961 में वर्गीकरण पुनः प्रस्तुत किया गया और अध्यापक को द्वितीय से प्रथम में रखा गया। पोस्ट मैन को तृतीय से चतुर्थ में।

An Introduction to Socialogy By Elizabeth J. Wilkins-Page 121.

डेविड मार्श ने अपनी पुस्तक (The Changing Social Structure of England and Wales (1871-1961)

में एक नक्शा (Table No IV) में इन वर्गों की जनसंख्या दी है। उसमें से हम तीन जन गणनाओं में आबादी का वर्गवार प्रतिशत यहाँ उद्धृत करते हैं।

वर्ग	1931	1951	1961	निष्कर्ष
प्रथम	2	3	4	यह प्रयास जनसंख्या में पेशेवार अनुपात को दर्शाता है। इसमें संस्कृति का यह प्रयोजन प्रतिलक्षित है कि समय और सभ्यता के साथ वर्ग 1-2-3-4 का अनुपात बढ़ना और वर्ग पाँच का घटना चाहिए। पर वर्गानुपात परस्पर एक-सा रहता है।
द्वितीय	13	14	15	
तृतीय	49	52	51	
चतुर्थ	18	16	21	
पंचम	18	15	9	

6.04.05 **वर्ण व्यवस्था का मूल्यांकन** :

इस व्यवस्था के प्रस्तुत कर्त्ताओं ने जो लाभ समाज के लिए अभिप्रेत किये थे, और जो लाभ इस व्यवस्था के स्थिरीकरण के बाद में हुए, वे यों हैं :

1. समाज में हर व्यक्ति को किसी सामाजिक अभाव को दूर करने का व्रत लेना चाहिए। जो व्रत न ले सकें, उन्हें व्रती लोगों की सहायता करनी है। समाज में कोई व्यक्ति निठल्ला नहीं रहने दिया जायेगा।
2. जिसको प्रशंसा (लोक-सम्मान मिलेगा) उसे प्रभाव और प्रचुरता नहीं। जिसे प्रभाव (आज्ञात्मक शासकीय अधिकार) मिलेंगे, उसे प्रशंसा और प्रचुरता नहीं। तथा जिसे प्रचुरता (भोग्य पदार्थों का बाहुल्य) मिलेगा, उसे प्रशंसा और प्रभाव नहीं। इस प्रकार विद्वत्ता, शासन और पूंजी किसी एक जगह इकट्ठी नहीं होने दी जायेगी अन्यथा वह समाज को भ्रष्ट करके अन्यायी बन जायेगी।

3. एक वर्ण के दूसरे पर अंकुश लगाने से शक्ति का केन्द्रीयकरण नहीं होने दिया जायेगा। शक्ति-सन्तुलन बना रहेगा।
4. वर्णों में सहयोग रहेगा न कि शाश्वत असहयोग। हरेक को दूसरे की आवश्यकता रहेगी।

   Class Co-operation and not class-war.
5. वर्ण बदलने की स्वतन्त्रता रहेगी। ये जन्मना नहीं होंगे। वर्ग बदलेगा जिसमें उच्च महत्त्वाकांक्षा और क्षमता दूसरे वर्ग में जाकर अग्रणी जनने की होगी। और इस प्रकार व्यक्ति को बढ़ने का क्षेत्र होगा। गुण की कद्र होगी।

   Quality and not Equality.
6. किसी को भूखा नहीं मरने दिया जायेगा।

   न वा उ देवाः क्षुधाभिकथं। (ऋग्वेद)

इसी प्रकार आलम्वन पदार्थ (Primary needs) की प्राप्ति का अधिकार सबको होगा। पर जो व्रत लेगा, वह साधारण स्तर से अधिक, भोग पदार्थ पा सकेगा। इनका आधार श्रम तथा योग्यता होगी।

No discrimination or Reward without reason.

7. स्थानीय स्वकीय वर्णों का संगठन अपने घटकों के चारित्रिक व्यवहार पर अनुबन्धन रखेगा और वर्ग निष्काषन (Ex-Communication) के शस्त्र से उनमें नियमितता स्थिर रखेगा।
8. यज्ञ करना व दान देना सब वर्णों का अनिवार्य तथा उभयनिष्ठ कर्म है। अस्तु, हर व्यक्ति की कमाई का कुछ भाग सामाजिक उत्थान तथा हीन व्यक्तियों के उपयोगार्थ स्वेच्छा से प्राप्त होता रहेगा। गुरुकुल से चलते समय समावर्त्तन (Convocation) में आचार्य सब वर्णों के युवकों को अनुज्ञा (Standing Order) देता है :

   श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्।
   ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

   (तैत्तिरीयोपनिषद्। 7/11/1-4)

श्रद्धा से देना। अश्रद्धा (बेमन से भी) अनिवार्यता समझकर देना। शोभा (लोक प्रसिद्धि) के लिए देना, लज्जा से देना। (सामाजिक अनुबन्धवत)! भय से, बाध्यता से (राज-नियमानुसार) देना। पर सबसे श्रेष्ठ है कि आज की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार देना। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आय का प्रथम दशांश धर्म हेतु और द्वितीय दशांश समाज हेतु देने की व्यवस्था की है।

यजु० में कहा है—

"सम्राट् अदित्सन्तं दामयति" जो नहीं देता है, सम्राट् उससे दिलवाता है।

9. इस व्यवस्था में भोग पदार्थों को बाँटकर उपभोग करने का मन्तव्य है। ऋग्वेद (10/117/6) में भी कहा है—

केवलादो भवति केवलादी । जो केवल स्वयं ही खाता है, वह पाप खाता है ।

10. वर्ण व्यवस्था में सारे भोग पदार्थ व्यक्ति को सदुपयोग के लिए दिये जाते हैं। यदि कोई प्राप्त भोगों का दुरुपयोग करता है तो वे भोग पदार्थ उससे ले लेने (Confiscate) की व्यवस्था है ।
11. सम्पत्ति का उपयोग भी जन्मना न होकर सदुपयोग से कहा गया है । यहाँ तक कि सन्तानें भी यथा योग्य पात्र को दे दी जा सकती हैं । जैसे कि कन्या सुपात्र को दे दी जाती है, पुत्र भी दिया जा सकता है ।
12. वर्ण व्यवस्था में सम्पत्ति के परिग्रह तथा अदान के विरुद्ध आध्यात्मिक प्रतिबन्ध है, मात्र सामाजिक या राजकीय ही नहीं । व्रत की व्यवस्था उन्हें स्वयं स्वीकृत बनाकर अवश्यमेवी प्रक्रिया का अंग बना देती है । इस प्रक्रिया में आदमी देकर भी, मानसिक प्रफुल्लता प्राप्त करना है ।
13. व्यक्तिगत स्वामित्व के ध्येय से यह अपेक्षित है कि मनुष्य में अहंकार और ममत्व की जो स्वाभाविक भावना है उसे सन्मार्ग में विनियोजित कर दिया जावे । मैं और मेरे के भाव के कारण मनुष्य मनसा, वाचा और कर्मणा अपने को सर्वांश में अपने कार्य में समा देता है । इसके विपरीत साझे का कार्य किसी एक का न होने से न तो युक्तसंगति से होता है न परिपक्वता के साथ (Everybody's business is nobody's business.)
14. इस व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा के मानवीय स्वभाव (Competetion) को ठीक प्रकार दोहन में लाया गया है । दूसरों से अधिक कमाने की ईर्षा में व्यक्ति घोरतर परिश्रम करता है । इससे उत्पादन की मात्रा और गुण दोनों में विकास होता है ।
15. व्यक्ति की योग्यता और रुचियों में भेद होता है । उनमें भोगों का यथातथ्य करने से योग्यता को प्रोत्साहन मिलता है ।
16. अस्तु, यथा योग्य दक्षिणा का सिद्धान्त प्रयोजनीय है ।
17. वर्ण व्यवस्था में शिक्षा सम्बन्धी अवसर राष्ट्र के हर बच्चे को समान उपलब्ध होते हैं । वानप्रस्थी लोग निशुल्क शिक्षा देते हैं और शिक्षण काल में सबको एकसा ही गुरु के गर्भ में अनिवार्यतः रहना होता है । शिक्षा मँहगी नहीं रहती ।
18. वर्ण व्यवस्था पद्धति में आत्मा और परमात्मा की सत्ता से इन्कार करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती । यह आध्यात्मिक चिन्तन पर आधारित है ।
19. वर्ण व्यवस्था की पद्धति अहिंसात्मक है । उसमें हिंसा की गुंजाइश नहीं है ।
20. वर्ण व्यवस्था में नैतिक और चारित्रिक नियम चालू रहते हैं ।
21. सत्य रजस्, एवं तमस् तीनों प्रकार की प्रवृत्ति के मनुष्यों को उन के गुणों के अनुसार समाज में कार्य दिया जाता है, जिसे उनको अवश्य करना पड़ता है ।

22. वर्ण व्यवस्था में न तो समाज व्यक्ति को भूल सकता है और न व्यक्ति समाज को। उसमें दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं।

6.04.06 समान वर्णों में असमानता का प्रारम्भ

जैसा कि स्वाभाविक है समान कर्मी लोग अपने-अपने पृथक्-पृथक् संगठन बना लेते हैं। संगठन सूक्त (अथर्व० 10/191/2) में समान मंत्र वालों की समिति बनने का उल्लेख है। इसी क्रम में 5वें मंत्र में संराधयन्तः अर्थात् उत्पादक धनिकों के संगठन (Syndicate) बनने का भी उल्लेख है। आगे 6/74/2 अथर्व वेद में संज्ञपनं (अर्थात् सहकारिता-जन्य) संगठनों की संस्थापना की सम्भाव्यता का भी उल्लेख है। परन्तु आर्य परम्परा में इन्हें पूर्ण पृथक (Water-Tight compartments) के रूप में गठित नहीं होने दिया गया। हर संगठन के द्वारा योग्य नवागन्तुकों के लिए खुले रहते थे।

वर्णों में कालान्तर में राजनैतिक शक्ति के आधार पर असमानता का सृजन होता है। संगठनों में प्रभुता की स्पर्धा चलती रहती है। जो वर्ग बलशाली और संगठित होता है, वह विधि (Law) का निर्माण अपने पक्ष में करके या विद्वानों और धार्मिकों से कराके सामाजिक बँटवारे में से (Lion's Share) मूल्यांश प्राप्त करता है।

जान स्टुअर्ट मिल इस विषय में यों विचार प्रगट करता है—

मानव मस्तिष्क सम्भावित प्रगति की निश्चित दिशा में चलता है, जिसमें कुछ बातें आगे-पीछे आती रहती हैं। इस गति या नियम में सरकार या सुधारक कुछ हद तक ही परिवर्तन कर सकते हैं। राजनैतिक संस्थान निरपेक्ष न होकर सापेक्ष्य हैं। मनुष्य की अलग-अलग संस्थायें होना आवश्यक है।···शासन सदैव समाज की सर्वोच्च शक्ति में रहता है। वह सदैव उस वर्ग के हाथ में रहता है, या उस वर्ग के हाथ में चला जाता है जिसकी समाज में अधिक शक्ति होती है। वह शक्ति संस्थाओं पर निर्भर नहीं होती है। बल्कि संस्थायें इस शक्ति पर निर्भर होती है। यह दूसरी बात है कि शक्ति का यह हस्तान्तरण किसी प्रगति के सिद्धान्त के अनुसार हो। (Mill's Autobiography—पृष्ठ-162)। आदि नीतिकार मनु की व्यवस्था में तो चार वर्णों में से कोई एक वर्ण दूसरे वर्णों से बड़ा या अधिक गुणवान नहीं था। सब एक ही शरीर के बराबर उपयोग वाले अंग हैं। जो कोई कहता है कि इनमें ब्राह्मण श्रेष्ठतम है, क्षत्रिय तथा वैश्य श्रेष्ठतर और शूद्र निम्न स्थलीय है, वह केवल रूढ़िवश ऐसा कहता है। गीताकार ने जो कहा है कि "चातुर्वर्णम् मयासृष्टा गुण कर्म विभागश्च" यह उस समय की स्थिति है जब कहीं तो ब्राह्मण और कहीं क्षत्रिय राज्य सत्ता दबाये बैठे थे। जिसका प्रभुत्व होता है, वह उसी पेशे को सर्वोत्तम घोषित करता ही है।

जब राजनैतिक शक्ति ब्राह्मण (दार्शनिक) की थी, तो सब कानून उसके पक्ष में थे, और वह सर्वोच्च था। जब क्षत्रिय पेशे वाले शक्ति में आये, तो कानून उनके पक्ष में थे। भारत में व्यापारी अंग्रेज शक्ति का राज्य व्यापारी को आरामदेह रहा और अब

बालिग मतानुसार श्रमजीवी का राज्य है। सब कानून और राजतन्त्र उसके पक्ष में हैं। अतः समाज में ऊँचा आसन तो राजनैतिक शक्ति पर निर्भर है।

ब्राह्मण वर्ण को अधिक अधिकारों से Theocracy, क्षत्रिय से Feudalism, वैश्य से Capitalism तथा श्रमिक राज्य बिगड़कर Democracy व Mobocracy अथवा Proletarianism का रूप ले लेता है। ऐसी हालत में वे अपनी सत्ता के पक्ष में दलील देने वाला दर्शन शास्त्र गढ़ लेते हैं।

6.04.07. वर्ण व्यवस्था का आधार पेशा है न कि जन्म या आधार

कुछ लोग वर्ण व्यवस्था को जन्म से मानते हैं। आदि ग्रन्थ ऋग्वेद के निम्न मन्त्र से स्पष्ट है कि वह जन्म से नहीं है।

कारुरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणो नना।
नानाधियो वसूय वोडनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।
(ऋग्वेद-9/112/3)

इसी प्रकार आर्य वर्ण व्यवस्था आचार मूलक नहीं है। क्योंकि कोई ऊँचा नहीं है। चारों वर्णों को समान अधिकार प्राप्त थे। यज्ञ तथा यज्ञोपवीतादि पर सबका समान अधिकार था। वेदों में सब जनता द्वारा एक-सी ही प्रार्थनायें किये जाने का विधान हैं। प्रारम्भ में वर्णों में समानाधिकारपूर्वक सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह भी होते रहे हैं। वेद एवं स्मृतियों में शिल्पकार और कारीगरों के लिए बड़े सम्मान पूर्ण व्यवहार की प्रशस्तियाँ और गाथायें आयी हैं।

आचारमूलक भेद तो दो ही हैं :—(1) आर्य और (2) अनार्थ अथवा दस्यु।

विजानी आर्य्यान्येव दस्यव : ।। (ऋग्वेद 7/5/11)

आचार सम्बन्धी नियम तो सब वर्णों के समान हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
एतं सामासिक धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीत् मनुः ।।
(10/63)

अहिंसा, सत्यास्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रहादि तो चारों वर्णों में अभीष्ट धर्म हैं। यदि वर्ण व्यवस्था आचार से होती, तब तो अध्यापक, सैनिक, व्यापारी और श्रमी में से हरेक में पुन-पुनः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्र प्रभृति और वर्ग करने होते।

6.04.08. वर्ण परिवर्तन

इसी प्रकार किन्हीं भी वर्णों का संगठन निर्माण करते समय व्यक्ति को स्वतन्त्रता रखनी चाहिए कि वह उन संगठनों में (चाहे वे ट्रेड यूनियन टाइप ही हो) जब चाहे आ सके, जब चाहे उनसे वापस आ सके। समाज वास्तव में स्वतन्त्र प्राणियों की स्वेच्छा से सहकारिता के प्रबन्ध का नाम है। जब तक व्यक्ति की इच्छा संगठन में रहने की

बनी रहेगी, तब तक वह उसमें रहेगा। बल-पूर्वक रखने से विघटन होगा। अस्तु, पेशों के मामले में स्वतन्त्रता है। व्यक्ति को समाज से बाँधकर नहीं रक्खा जा सकता। व्यक्ति अपना भोजनच्छादन, रहन-सहन, सब समाज के आश्रित कर दे, ऐसे "समाजवाद" का वैदिक वाङ्मय में कहीं उल्लेख तक नहीं है। वेद व्यक्ति की गरिमा का पोषक है।

6.04.09. वर्णों से जन्म-गत जाति का निर्माण

1. हमारे देश की आर्थिक व्यवस्था का आधार वर्ण व्यवस्था रही है। इसके अनुसार समाज में श्रम-विभाजन हो जाता था। सारा सामूहिक प्रयास पूरक था, परन्तु उसमें प्रत्येक व्यक्ति को जो कि अनेकशः जन्मों के संस्कार लेकर पैदा होता है, विकास करने और दैनिक मूल्यों पर अपनी योग्यता की छाप लगाने और तदनुरूप एक गुने, दो गुने तथा तीन गुने (त्र्योरत्नानि घतनः) तक फल पाने का अधिकार था। एक और तीन से अधिक की असामञ्जस्यता निषिद्ध थी।

(2) पीछे इन इकाइयों के संघ (Trade Unions) बने। संघों का क्षेत्र अपने व्रत के अनुसार निश्चित था। इन संघों में आपस में कड़ा अनुशासन था। वह अपने किये हुए कर्म में गौरव अनुभव करते थे। कालान्तर में गुरुकुल की इकाई नष्ट हो गयी और राज्य की नीति वर्ण-व्यवस्था को राजकीय संरक्षण देने की नहीं रहीं। परन्तु संघों ने अपने अनुशासन को चालू रक्खा।

राजकीय संरक्षण के अभाव में संघों ने अपने अनुशासन की उपयुक्तता बनाये रखने के लिए एक संघ वालों में खान-पान तथा विवाह सम्बन्ध अनिवार्य कर दिये, क्योंकि रक्त के सम्बन्ध प्रबल होते हैं। इससे एक लाभ तो यह हुआ कि देश के करोड़ों बालक बिना किसी राजकीय शिक्षा योजना के घरों में, मुहल्लों में, और जाति की बैठकों में अपने उस पेशे में माहिर हो गये। इस देश में लाखों बढ़इयों व लुहारों व कृषकों ने किसी औद्योगिक-स्कूल में बैठकर यह काम नहीं सीखा है। हर संघ के बच्चों में अपने उस कार्य के लिए अभिमान और श्रद्धा थी, क्योंकि जातीय पर्वों पर वह अपने उस कुल धर्म की पूजा-स्तुति करते थे। वह संघ एक रक्त से सम्बन्धित होने के कारण कुल के बच्चों तथा सेवकों के कार्य तथा चरित्र पर नियन्त्रण रखकर सम्पूर्ण समाज में दुर्व्यवस्था तथा दुराचार फैलने से रोकता था। संघीय सामूहिक सौदे उस संघ की जातीय पंचायत करती थी। प्रत्येक नई फैशन में यकायक बहने से रोक सकने की सामर्थ्य वाले भारतीय संस्कार कुल के बच्चों में भर दिये जाते थे। सारांशतः इसी प्रथा के कारण देश में हर समय वेद-पाठी-विद्वान्, सफल-शासक, दान-वीर-धनाढ्य तथा शारीरिक परिश्रम में गौरव समझने वाले लोग विद्यमान रहे; चाहे वह समय अवनति और दासता का ही रहा हो। पेशों वालों के संघ परस्पर खान-पान तथा विवाहादि सम्बन्धों के नियम के कारण, जाति व्यवस्था में परिणित हो गये। आज चारों वर्णों का वर्ण-नाम तो सचमुच लुप्त है। एक-एक पेशा एक-एक जाति के नाम पर मढ़ दिया गया है। नाना प्रकार की राजनैतिक और सामाजिक एवं दार्शनिक उथल-पुथल के

बाद भी जाति कायम है । पेशों से प्रारम्भ होकर वह जन्म तथा वंश पर आधारित हो गयी है । वंश-गौरव प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर विराजमान है । जातियों की स्थिति को दृढ़तर बनाये रखने में, इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का विशेष हाथ है ।

(3) वास्तव में सभी देशों में वंशगत कौलीन्य या जाति भेद की उत्पत्ति के भाव प्राप्त होते हैं । मिश्र अत्यन्त प्राचीन सभ्यता का स्थान कहलाता है । बहुत प्राचीन काल में वहाँ भी जमींदार श्रमिक और क्रीतिदास (गुलाम)—ये तीन श्रेणियाँ थीं । वहाँ भी योद्धा और पुरोहित का वंशगत गौरव बहुत ऊँचा माना जाने लगा था, और पुरोहित ही राज्य करता था । चीन में भद्रश्रेणी, किसान, शिल्पी और वणिक यह चार श्रेणियाँ थीं । ईटा और हिनिन लोग अन्त्यजों के समान थे । अफ्रीका, फीजी और प्रशान्त महासागर के द्वीप बोर्नियों में भी जाति का विचार है । मैक्सिको में भी तीन स्पष्ट जातियाँ हैं, स्थानीय लोग उत्तम हैं मिश्रित लोग मध्यम और आदिम जातियाँ अधम मानी जाती हैं । अरब के दक्षिणी प्रदेशों में कारीगर को अन्त्यज का दर्जा दिया गया है। उन्हें गाँव या नगर के बाहर रहना पड़ता था । फदर मैन साहब ने लिखा है, इनसे भी अभागे वे अन्त्यज हैं, जो निष्ठावान मुसलमान होकर भी मस्जिद में प्रवेश नहीं पा सकते । इंग्लैंड में ऐंग्लो-सेक्शन युग में भी यही व्यवस्था थी । ग्रीस और प्राचीन जर्मनी में भी अभिजात लोगों की एक श्रेणी थी ।

(4) जातियों का ज़िक्र भारतवर्ष में मध्यकाल के धर्म ग्रन्थों से मिलना प्रारम्भ हो जाता है । उनका क्रम से विकास होकर आज 7000 से भी अधिक जातियाँ हो गयी हैं । परन्तु यह सच है कि चार वर्णों से ही उत्पन्न उनका विकास, स्थान-विशेष, वंश-विशेष और कर्म-विशेष के कारण हुआ है । मागध-वैदेह, लिच्छिवि, खश, द्रविड, शक और किरात आदि नाम बड़े फिर्कों के हैं । इनको हम राष्ट्रीय वर्ण कह सकते हैं । कुछ जनसंघ विशेष पेशों पर आधारित थे जैसे अम्बष्ट लोग वैद्य का काम, सूत लोग सारथी का काम, वैवर्त लोग मल्लाहों का काम तथा लोहार लोहा एवं सुनार सोने का काम करते थे । बहुतों के नाम देश-भेद पर ही आधारित हैं, जैसे अयोध्यावासी, मध्यदेशी, कनोजिया आदि ।

(5) आर्य और आर्येत्तर लोगों के विवाह सम्बन्धों से भी जातियाँ बनीं । क्योंकि आर्यों के सामने शक, हूण, यूनानी आदि सभी को विशाल हिन्दू क्षेत्र में हजम करने की समस्या थी । इन सबको भिन्न-भिन्न जाति में दीक्षित करके हल की गई ।

(6) वैदिक वाङ्मय में भी जाति का उल्लेख है । जैसे उदाहरणार्थ ही कहा गया है, ऋग्वेद में (अ) द्रह्यु-अनु-पुरु और (ब) यदु तथा तुर्वसु की सन्तानों में युद्ध की चर्चा है । उसमें से उभय पक्ष में कई जातियों ने सहायता की । यजुर्वेद अध्याय 6 में पेशा-परक 172 जातियों का उल्लेख है ।

वेदेतर अन्य ग्रन्थों यथा छान्दोग्योपनिषद् एवं रामायण और महाभारत, महाकाव्य में आये जाति उद्धरणों से सिद्ध है कि जाति हमारे प्राचीनतम वाङ्मय के समय से देश में व्याप्त है ।

6.04.10. जाति के साथ पाँति की प्रथा द्वारा अनुशासन (Discipline through excommunication)

समाज संगठन का आदर्श ढंग कौन-सा है। इस पर बड़ी रिसर्च हुई है। तदनुसार राज्य या शासन की प्रणाली प्रत्येक देश अपने लिए निश्चय करता है। उस पर चलता है। इनमें से सब से महत्त्व की प्रथा विकेन्द्रित इकाइयों द्वारा शासन की है, जिसमें तुरन्त न्याय मिलता है। प्रिन्स क्रोपाटकिन को अराजक साम्यवादी कहा जाता है। उसने जो समाज पद्धति पूरे तर्क तथा विज्ञान के आधार पर सोची थी, यह साम्यवाद से भी आगे जाती है। वह समाज के लिए राज्य को अनावश्यक घोषित करता है।

उसका कहना है कि विभिन्न उत्पादन करने वाले सहकारी संघों की एक कमेटी होगी। वह अपने में से निरुद्यमी अथवा कामचोर मजदूर को स्वयं दण्ड देगी। उसे किसी पुलिस जैसी सत्ता को नहीं सौंपेगी। क्रोपाटकिन की राय में उस निरुद्यमी व्यक्ति के दोष को संघ सदस्यों में वर्णन करना और फिर उसका सामाजिक बहिष्कार कर देना आदि ही ऐसे पर्याप्त दण्ड हैं, जो उसका सुधार कर देंगे, और वह पुनः समाज का लाभकारी अंग हो जायेगा। नियन्त्रण का काम अनेक संस्थाओं में बाँट देने से इसे (Political Pluralism) व्यवस्था कहा जाता है।

अपनी इन जातीय पंचायतों (गिल्डस) के पास यही शस्त्र था, जिससे यह संतुलन कायम रखती थीं। जातियों के पास पाँति का ही शस्त्र था जो कि तत्कालीन जनहित सम्बन्धी कार्यों पर अनुशासन रखता था।

यों तो पाँति (या पंगत) पंक्ति शब्द का अपभ्रंश है जिसका अर्थ कतार है। स्मृतियों ने हव्य-काव्य के ग्रहण के सम्बन्ध में ब्राह्मणों के एक पंक्ति में बैठने की पात्रता पर विचार किया है। मनुस्मृति अध्याय 3 में इस पात्रता के सम्बन्ध में यों विचार है :

"धर्मज्ञ पुरुष देव कर्म (हव्य) में ब्राह्मण का उतना विचार न करें, पर काव्य (पितृ) कर्म में, आचार-विचार, विद्या, कुल और शील की जांच करें। और निम्नलिखित व्यक्तियों को ज्योनार की पंक्ति में न बिठाये—चोर, पतित, नपुंसक, वेदरहित, अजितेन्द्रिय, जुआरी, मांस बेचने वाला, दैत्य वृत्ति, गुरु-मात-पिता-विरोधी, अग्नित्यागी, चन्दा खा जाने वाला, कत्थक, शूद्रापति, उपपति सहने वाला, वेतन लेकर पढ़ने पढ़ाने वाला, विष देने वाला, मादक द्रव्य बेचने वाला, मित्र-द्रोही, पुत्र का शिष्य, कुत्तों और पक्षियों का शिकारी, कन्या-दूषक, हिंस्र, शूद्रवृत्त, चरित्रहीन, कोढ़ी, क्षय-रोगी, श्वेत कुक्षी, मृगी वाला, पील-पाँव वाला, चुगलखोर इत्यादि।" कालान्तर में सब जातियों ने अपने लिए उक्त प्रकार के नियम बना लिए। उक्त वर्णन से स्पष्ट होगा कि स्वास्थ्य की दृष्टि से वर्जित व्यक्तियों को छोड़कर, अन्य ऐसे हो की पाँति में (सहभोज) से बाहर करने का आवेश है तो कर्म या वृत्ति के कारण हीन हैं। फिर पंगत बाहर लोगों के लिए मनुस्मृति के 31 वें अध्याय में प्रायश्चित बताये हैं :

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथादानेनचापदि।

(मनु० अ० 11/227)

(पाप करनेवाला, पाप के प्रकाश करने, और पश्चात्ताप करने, तथा तप और अध्ययन करने से और यदि इनमें असमर्थ हो तो दान करने से पाप से छूटता है।)

अब शासन के केन्द्रीयकरण, अदालतों की स्थापना, पुष्टिकरण और उनमें झूठी कसम पर दी हुई झूठी गवाहियों के आधार पर दिए गए फैसलों के कारण पंगत की प्रथा लुप्त-प्राय: हो गई है।

6.04.11 जाति प्रथा से लाभ

प्राय: यह धारणा बन गई है कि जाति तथा जाति सभाओं से संबंधित सब बातें हेय हैं। इस अनुभाग में हम जाति प्रथा के लाभ की संभावनाओं पर विचार करेंगे। जाति प्रथा ही के कारण शिक्षा और टैक्नीकल स्कूलों के अभाव में इन पेशों की ट्रेनिंग बाप-दादा से उनके बच्चों को अनायास ही मिलती रही है। रीति-रिवाज, धार्मिक परम्पराएँ, पारिवारिक देवी-देवता तथा उनकी संस्कृति यह सब जाति प्रथा ने ही जीवित रखे हैं। राजनैतिक दासता के दिनों में यह प्रथा ही हिन्दुओं को मुसलमान तथा ईसाई बनने से रोके रही है। जाति प्रथा के बिना हमारे सोलह संस्कार नष्ट हो गए होते। आज भी जब साम्यवाद और समाजवाद का नास्तिक धर्म फैल रहा है और लोग परिवार, धर्म, पंचायत, नैतिकता सबसे दूर होते जा रहे हैं। पूर्वजों को दी हुई केवल एक ढाल हमारे पास है, और वह है जाति की प्रथा और शृंखला। यह ही हमें भारतीय बनाये रखेगी। इसमें यत्र-तत्र जो सुधार अपेक्षित हैं उन्हें प्रत्येक जाति की जातीय सभायें ला रही हैं। जाति आन्दोलन तथा जाति संगठन, भारतीय संस्कृति तथा परम्परा को जिन्दा रखने के पुनीत पहलू हैं। जाति प्रथा पर कुछ पश्चिमी विद्वानों ने यों लिखा है :

(1) J. H Hutton (Caste in India)

The Caste system in India, has been an unique institution and most important of its functions has been to integrate Indian, society, to weld into one community its various competeting groups. It acts as a political stabilizer, and as a preservative of India from a disorderly Government, as a defence against despotism and as a means of proserving Hindu culture under the regiemes of alien conquerors.

(भारत में जाति व्यवस्था एक असाधारण संस्था है, जिसके माध्यम से जो अत्यावश्यक कार्य सम्पन्न हुआ है, वह है भारत की एकता, जिसने इस देश के अनेक प्रतिस्पर्द्धी वर्गों को एक सूत्र में पिरोया है। जाति व्यवस्था से ही, इस देश में राजनैतिक स्थिरता

है और उसी के कारण, भारत में राजकीय अव्यवस्था नहीं होने पाती है। वह निरकुंशता पर अंकुश लगाती है। उसने हिन्दु संस्कृति को भी राजनैतिक पराधीनता के समय की पादाक्रान्ति परिस्थिति में भी जीवित रखा है।)

(2) Abo Debois considered the caste system of the Hindu, the happiest effort of their legistation :

ऐवो डोब्यिस ने जाति व्यवस्था को उनकी व्यवस्थापिका पद्धति की महानतम सुखद भेंट बताया है।

(3) Alex carrel.

Vedic oriented social order tends to direct all human activity towards the evolution of man. The principles of communist Manifesto, believe in the primacy of economics. It takes no account of scientific knowledge of the mental and physiologicl activities of man, nor of the environment which these activities need, for their ideal development. Such knowledge shows that primacy belongs not to economics but to man's own humanity which comes out with brilliance in this social order.

ऐलैक्स केरल के मतानुसार यह वैदिक सामाजिक व्यवस्था मनुष्य के अभ्युत्थान का पथ प्रशस्त करती है। साम्यवाद के सिद्धान्त, अर्थ तन्त्र को समाज का मूलाधार मानते हैं। उसमें मानव के मानसिक तथा शारीरिक कार्य क्षेत्र का समावेश है ही नहीं न उन परिस्थितियों पर विचार किया गया है जिनसे इन प्रवृत्तियों का विकास हो। पर वास्तव में इनके सम्यक ज्ञान से तो यही सिद्ध होता है कि समाज का मूलाधार अर्थ तन्त्र न होकर मनुष्यता है, जिसका प्रकाश इस वर्ण व्यवस्था में ही होता है।

(4) Sir Monier Williams (in his book, Brahmanism and Hinduism) writes : "Caste has been useful in promoting self sarifice and securing subordination of the individuol to an organised body, in restraining him from vice and in preserving pauperism.

[सर मोनियर विलियन्स ने (ब्राह्मणधर्म और हिन्दूवाद) नामक पुस्तक में यह मत प्रकाशित किया है कि जाति व्यवस्था से इसके घटकों में त्याग वृत्ति का उदय होता है। मनुष्य संगठित समुदाय के अनुशासन में रहना सीखता है। यह अनुशासन उसे कुमार्ग से बचाता है, और उसे नंगा एवं भूखा रहने के संदर्भ में तो बीमा का काम करता है।]

(5) Meredith Townsent (In his book, Europe and Asia) has

writen : "I firmly believe caste to be a marvellous discovery and a form of socialism which through ages, has protected Hindu society from anarchy and from the wor.t evils of industrial competetion. It may be a poor law, to begin with, but it is the strongest form of trade unionism."

मैरेडिथ टाउनसेन्ट अपनी पुस्तक 'यौरुप एवं ऐशिया' में यह कहता है कि मेरा दृढ़ विश्वास है कि जाति व्यवस्था एक विस्मयजनक अनुसन्धान है। यह एक ऐसा समाजवाद है जिसने युग-युग से हिन्दू समाज को अराजकता तथा औद्योगिक प्रतिस्पर्द्धा-जन्य समाज के पापों और कुप्रभावों से बचाया है। प्रारम्भिक दृष्टि में चाहे यह एक कमजोर व्यवस्था लगे पर वास्तव में यह एक बड़ी पुष्ट ट्रेड यूनियनिस्म अर्थात आधुनिक व्यवसायिक संगठनों की एकता का श्रेष्ठतम उदाहरण है।

इसी प्रकार 'A Vision af India' नामक पुस्तक में लेखक श्री सिडनी ने भूमिका में जो लिखा है उसका अविकल अनुवाद यों है :—

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उस मूलभूत दृढ़ता और शान्ति का जिसका उपभोग भारतीय समाज शताब्दियों से करता रहा है, मुख्य श्रौत, जाति-पाँति की प्रथा रही है। इसी प्रथा ने राजनैतिक आघातों और प्राकृतिक उपद्रवों से उसकी रक्षा की है। इस प्रथा से समाज में हरेक व्यक्ति एक पेशे में बंध जाता है। दूर के विवाह होने से नस्ल सुधार तथा परिचितों में विवाह से रक्त रक्षा होती थी। एक ही पेशे के घटकों में कम्पीटीशन बचता है।

जाति प्रथा से ही प्रत्येक व्यक्ति के स्थान और उसके क्षेत्र का निरूपण हो जाता है। यह प्रथा प्रारम्भ से ही उसको एक संघ का सदस्य बना देती है और यही सामाजिक अन्याय एवं अतृप्त महत्त्वाकांक्षाओं के अभिशापों से उसकी रक्षा भी करती है। इसी प्रथा से उसके हृदय में लोकोपकार की भावना का उदय होता है। इसी प्रथा से वह समाज के हित को अपना हित और उसके अहित को अपना अहित समझने लग जाता है। आर्य के लिए यह व्यवस्था उसका अवलम्बन और उसका व्यवसाय संघ होने के अतिरिक्त उसके लिए कल्याणकारी समाज की सृजना भी कर देती है। भारतवर्ष में बेरोजगारों को काम पर लगाने के लिए इतिहास में विशेष संस्थानों का कहीं पर भी उल्लेख नहीं मिलता है, क्योंकि इनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। बन्धु-बान्धवों और मित्रों का आपत्तिकाल में सहायता करने का भाव, भारत में सर्वत्र पाया जाता है। इसका कारण पारिवारिक बन्धनों की दृढ़ता और इस व्यवस्था के सिद्धान्त से उद्भूत सम्मिलित ध्येय के बन्धन ही हैं जिनकी उपयोगिता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। वर्तमान स्थिति में वर्ण और जाति व्यवस्था विहीन भारत की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

उक्त विषय में कुछ स्पष्टीकरण अपेक्षित हैं। राजनैतिक पराभव के मुस्लिम शासन वाले दिनों में जाति-व्यवस्था ने हिन्दुओं को जिलाए रखा। न केवल

उनके राजनैतिक और सामाजिक अधिकार बनाए रखे वरन् आर्थिक हित भी। यह आज साफ दीखता है कि विजेता मुसलमान अधिकांश में सेवकों के बहुमत वाली जाति बनकर रह गए हैं। यह भी सत्य है कि यदि जाति प्रथा न होती तो और अधिक हिन्दू जन विधर्मी हो गए होते, क्योंकि राज्य शक्ति का आकर्षण और धनादि का प्रभाव प्रचुर मात्रा में था। यदि 80% लोग हिन्दू बने रहे हैं, तो उसका श्रेय जाति प्रथा को ही है।

जाति प्रथा वास्तव में विधर्मी राज्य में आत्म रक्षा के भिन्न-भिन्न दल थे। भिन्न मान्यता वाले भारतीयों को इकट्ठा करके बराबरी कायम करके हिन्दू समाज के नाश होने का मार्ग जाति प्रथा ने ही रोका और उसमें सफलता मिली।

हम अगले अध्याय में यह दिखायेंगे कि साम्यवाद के नास्तिक धर्म को भी जाति प्रथा से टकरा कर नष्ट हो जाना होगा, क्योंकि जाति प्रथा ने एक साम्यवाद पहले ही बना रखा है।

> Caste system has organised inequality, so that its regour was much less.

और इतने प्रयत्नों के बाद हिन्दू की परिभाषा ही यह रह गयी है कि वह संगठन जो जाति प्रथा मानता हो। दार्शनिक रूप से चाहे आस्तिक हो या नास्तिक साम्यवादी और वेदान्ती, द्वैतवादी या त्रैतवादी हो, धर्म-कर्म-पुनर्जन्म को मानता हो या न मानता हो, चार्वाकी हो, बौद्ध हो या जैन, सनातनी हो या आर्य-समाजी या किम्वा कबीर पन्थी, साहित्यिक वैज्ञानिक हो या राजनैतिक नेता या शासक या अखबार नवीस, हिन्दू होने की अधुना यही पहचान है कि वह किसी एक जाति में से हो और जन्म, विवाह, मरण आदि पर उस जाति के निश्चित रीति-रिवाजों को मानता हो। एक ईसाई लेखक ने तो यह लिखा है कि केवल जाति प्रथा मानते रहिए और किसी सिद्धान्त में निष्ठा रखिए चाहे न रखिए, आप हिन्दू हैं। इसी एक अनुशासन द्वारा हिन्दुओं के सब सस्कार आप में आ जाएंगे। ऐसा विलक्षण आविष्कार उनके स्मृतिकार हिन्दुओं को द गये हैं, जिसे नष्ट नहीं होने देना चाहिए।

और अन्त में स्वर्गीय लाला लाजपत राय का एक उद्धरण जाति-प्रथा के विषय में देकर यह सारणी समाप्त करते हैं।

> The caste system of the Hindus, has been their curse as well as their salvation. While it has been the principal cause of their social and political downfall, it has saved, them from complete destruction and from total annihilation as a social national organism. It has saved them from absorption into other religio-social systems, that attained more or less ascandency in India in different period of the history of that country.

(जाति प्रथा हिन्दुओं का पाप भी रही है और रक्षा करने वाली वरदान भी। एक ओर तो यह उसके सामाजिक और राजनैतिक पराभव का कारण बनी है, परन्तु दूसरी ओर इसने उन्हें पूर्णतया छिन्न-भिन्न और नष्ट होने से बचाया है। उनकी जातीय राष्ट्रीयता संरक्षित रही है। जाति प्रथा ने हिन्दुओं को और दूसरे सामाजिक धार्मिक संगठनों द्वारा हजम कर लिए जाने से बचाया है, क्योंकि भारत के इतिहास में समय-समय पर इन विदेशी सामाजिक धार्मिक वर्गों ने प्रभुता प्राप्त कर ली थी।)

और आज नास्तिक साम्यवाद के फैलते हुए शिकंजे से हमारे पूर्वजों द्वारा प्रदत्त यह प्रणाली ही हमारी रक्षा करेगी, अन्यथा हम असहाय ही हैं।

6.04.12 दयानन्द सरस्वती के दीक्षणाग्नि पर विचार

दयानन्द सरस्वती ने 19वीं शताब्दी में वैचारिक क्रान्ति का उपोदघात् किया था। वे आर्य-परम्परा की पुनर्स्थापना के महानोद्देश्यों से परिप्लावित थे। अतः आर्य परम्परा के किसी भी अंश को समूल नष्ट करने के प्रतिकूल थे। उसमें जो कुछ काल-क्षेम से बाह्य परिवेश आकर छा गया था, उसी को निकाल फेंकना उन्हें अभीष्ट था। परिवार को जीवित रखकर वे परिवार के अवांछित फैलाव के प्रतिकूल थे और इसीलिए पिण्ड तर्पण के विरुद्ध उन्होंने जिहाद की। इसी प्रकार वर्ण व्यवस्था के प्रकरण में वे वर्णों के जन्मना होने के विरुद्ध थे। यदि कोई पुत्र अपना पारिवारिक धन्धा करता है तो उसमें राष्ट्र व समाज को कोई हानि नहीं है। पर उसे अपना व्रत (वर्ण या व्यवसाय) बदलने का सदा अधिकार होना चाहिए, वरना, संसार की सारी प्रगति अवरुद्ध हो जाएगी। अस्तु उन्होंने वर्ण को कर्म से माना और वर्ण परिवर्तन की सम्भावना का पुरजोर समर्थन किया। जिसका आधार मनुस्मृति (10-65) का यह श्लोक था :

शूद्रो ब्राह्मणातामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्यद्वैश्यात्तथैव च ॥

परन्तु हरेक क्रान्तिकारी पुरानी व्यवस्था के मूल को बनाए रखना चाहता है। ऐसा करने में उसे कुछ समझौते भी करने पड़ते हैं। वर्ण और जाति के बारे में इस समझौते को समझना आवश्यक है। प्रथम समझौता यह था कि कर्म के अलावा उन्होंने गुण और स्वभाव को भी वर्ण का आधार माना। उन्होंने बुद्धिपरक कार्य करने वाले शिक्षाविदादि वर्ण को ऊँचा तथा क्रमशः अन्य वर्णों को गुण में तथा व्यवहार में नीचा माना। यह जन्मना व्यवस्था के भग्नांश ही कहे जा सकते हैं। वर्ण के अनुसार पुत्र-परिवर्तन तक का सुझाव रखने वाला क्रान्तिकारी ऐसा क्यों कर कह सकता था? हम पहिले सत्यार्थ प्रकाश से कुछ उद्धरण यहाँ देते हैं :

(1) समुल्लास 4-पृष्ठ 96/ प्रकरण वर्ण व्यवस्था :

"जो कोई रज वीर्य के योग से वर्ण व्यवस्था माने और गुण कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिए कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच अन्त्यज अथवा क्रश्चीन, मुसलमान हो गया हो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते। यहाँ यही कहेंगे

कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिए इसलिए यह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि सत्कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण, कर्म, स्वभाव वाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम कर्मस्थ हो के नीच काम करे, तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिए।"

यहाँ जहाँ-जहाँ उत्तर या नीच विशेषण आये हैं, वहाँ "तथाकथित" क्रिया विशेषण होना था। अर्थात् जिन्हें विश्व में उत्तम या नीच कह के कहा जाता है। गुजराती होने के कारण, किम्बा हिन्दी भाषा की गद्यके प्रारम्भिक दिन होने के कारण भी, गद्य का इस रूप में लिख दिया जाना सम्भव है।

(2) आपस्तम्ब धर्मसूत्र (2-5-20-1/2) को महर्षि ने उद्धृत किया है :

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तो ।। 2 ।।

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्व-पूर्व वर्णमापदते जाति परिवृत्तौ ।। 1 ।।

इसका पृष्ठ 87 पर स्वामी जी यों अर्थ करते हैं :

(धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम वर्ण को, प्राप्त होता है। और वह उसी वर्ण में गिना जाये, जिसके कि वह योग्य होवे। वैसे अधर्माचरण से पूर्व-पूर्व अर्थात् उत्तम-उत्तम वर्ण वाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जाये।)

(3) समु० 4 पृष्ठ 113/प्रकरण-नियोग :

"प्रश्न— नियोग अपने वर्ण में होना चाहिए था अन्य वर्णों के साथ भी ?

उत्तर—अपने वर्ण में, या अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ, अर्थात् वैश्या, स्त्री, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, क्षत्रिया, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ; ब्राह्मणी, ब्राह्मण के साथ; नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वीर्यसम वा उत्तम वर्ण का चाहिए, अपने से नीचे वर्ण का नहीं।"

सारांश यह है कि स्वामी जी महाराज ने, वर्ण को गुण-कर्म स्वभाव से माना जन्मना नहीं। पर जाति व्यवस्था में जो ऊँच-नीच का भाव था उसे वह वर्णों में ले गये, और जाति व्यवस्था एवं जातीय खानपान एवं विवाह के नियमों और जातीय अनुशासन की प्रक्रिया, उनको उन्होंने भंगनीय न बताकर प्ररक्षणीय प्रणाली ही समझा प्रतीत होता है। हम आगे कह आये हैं कि उन्हें प्रवर मूलक समाज रचना यदि कबूल होती तो वे आर्य समाजियों की एक पृथक् जाति का निर्माण कर देते। पर उन्होंने आर्य समाज के सदस्यों को अपनी-अपनी जातियों में ही रहने दिया। उनमें वर्ण व्यवस्था का प्रचलन अवश्य होना चाहिए, यह उन्हें मान्य था। वह तो समाज की आवश्यकतायें पूर्ण करने की योजना है। हमारा सुझाव है कि ऊँच-नीच से स्वामी जी का अभिप्राय तथा कथित ऊँच-नीच का था। उन्हें वर्ण नं० 1-2-3-4 का क्रम कहना था। 2-3-4 की संख्यायें 1 के नीचे अर्थात् बाद में हैं। परस्पर भी 3 तो 2 के और 4 भी 3 के बाद है। बाद वाले वर्ण कह कर आर्य भाषा में लिखना अधिक अभीष्ड था। वर्ण वास्तव में, देश की अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित होने के कारण केवल पेशे हैं! पेशे को कुछ गुण अपेक्षित

हैं। फिर वैसे गुणों के अनुसार, स्वभाव निर्मित होता है। गुण और स्वभाव के अनुरूप, कर्म (पेशा) हर व्यक्ति चुनता है। अतः गुण-कर्म-स्वभाव में द्वन्द्व समान न होकर गुण और स्वभाव से प्रेरित कर्म अर्थ द्वन्द्व-कर्मधारय समास है।

फिर जाति का कार्य, भोजन, पंक्ति और वैवाहिक क्षेत्र में, अनुरूप वर प्रस्तुत करना रह जाता है। भाग्यवश भारत में प्रयुक्त, जाति समूह मोटा माटी 4 वर्णों के प्रभाग हैं। महर्षि एक वर्ण की कन्या का विवाह उसी वर्ण की जातियों या उपजातियों में करने का सुझाव देते हैं। पौराणिक पथ में, उसी उपजाति में ही विवाह करने की अनुज्ञा है। महर्षि ने क्रान्ति में मध्यम मार्ग अपनाया है।

उनके समकालीन तथा अनुवर्ती, सब आर्य नेता अपनी जातियों से सम्बद्ध बने रहे। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी अपनी जाति के उन्नयन में हाथ बटाया और अपने, अपने वैवाहिक क्षेत्रों को वृहत्तर करते हुए वर्ण के क्षेत्र में वर ढूंढ़ने की प्रथा का भी श्रीगणेश किया। यह सब महर्षि की योजना के अनुरूप ही था।

अपने उपरोक्त निष्कर्षों के समर्थन में हम यह कहेंगे कि यद्यपि जाति के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचार स्पष्ट रूप से कहीं एक स्थल पर नहीं मिलते हैं पर जहाँ-जहाँ जाति की चर्चा हुई है, वे मौन से हैं। निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं :

(क) समुल्लास 4 पृष्ठ 104 प्रकरण-सदाचार महिमा :

यहाँ मनु 4/31 का यह श्लोक उद्धृत किया है :

नापुत्र या सहायार्थं पिता-माता च तिष्ठतः।
न पुत्र दारं न जाति धर्मस्तिष्ठति केवलः।

अर्थ यों किया है :

"परलोक में, न माता न पिता, न पुत्र, न स्त्री, न जाति सहाय कर सकते हैं, किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है।" यहाँ जाति की मौन स्वीकृति है--खंडन नहीं किया गया है।

(ख) समु० 11/पृष्ठ 388-विषय ब्रह्म समाज के गुण दोष :

ब्रह्म-समाजी लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है।—खानपान, विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं।—वे कहते हैं कि आर्यावर्त्तीय लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। इन्होंने अंगरेज, यवन, अन्त्यजादि से भी खाने-पीने का भेद नहीं रक्खा। इन्होंने यही समझा होगा कि खाने-पीने और जाति-भेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायेगा। परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहाँ उलटा बिगाड़ ही होता है।

प्रश्न—जाति भेद, ईश्वर कृत है या मनुष्य कृत ?

उत्तर—ईश्वर और मनुष्य कृत भी जाति भेद हैं।

प्रश्न—कौन से ईश्वर कृत और कौन से मनुष्य कृत हैं ?

उत्तर—मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, फल, जन्तु आदि जातियाँ परमेश्वर कृत हैं। जैसे पक्षिओं में हंस काका वकादि। जल-जन्तुओं में मत्स्य मकरादि ईश्वर कृत हैं। वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अन्त्यजादि जाति भेद हैं। परन्तु मनुष्यों में

ब्राह्मणादि को सामान्य जाति में नहीं, किन्तु सामान्य विशेषात्मक जाति में गिनते हैं ; जैसे पूर्व वर्ण व्यवस्था में लिख आये हैं। वैसे ही गुण कर्म स्वभाव से वर्ण व्यवस्था माननी अवश्य है। इसमें मनुष्य कृतत्व, उनके गुण कर्म स्वभाव से पूर्वोक्तानुसार, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करनी राजा और विद्वानों का काम है। भोजन भेद भी ईश्वर कृत और मनुष्य कृत भी हैं। जैसे सिंह मांसाहारी और अर्णी भैंसा घासादि का आहार करते हैं। यह ईश्वर कृत, और देश-काल वस्तु भेद से भोजन भेद मनुष्य कृत है। देखो योरोपियन में भी जाति भेद है। जब कोई योरोपियन किसी अन्य मतवालों की लड़की या योरोपियन की लड़की अन्य देश वाले से विवाह कर लेती है तो उसी समय उसका निमन्त्रण, साथ बैठकर खाने और विवाहादि का अन्य लोग बन्द कर देते हैं।

ससु० 4 पृष्ठ 116-प्रकरण-नियोग :

"पति की 6 पीढ़ियों में पति का छोटा या बड़ा भाई अथवा स्वजातीम तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से, विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए।"

समु० 10/पृष्ठ 268-विषय— शूद्र के हाथ का खाना, पर उसके घर पर उसके पात्रादि में बना, न खाना—आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः ।।

(आपस्तम्ब धर्म सूत्र प्रपाठक-2 पटल 2 खण्ड 2 सूत्र 4)

इसका अर्थ करते हुए स्वामी जी लिखते हैं :

आर्यों के घर में; शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री-पुरुष पाकादि सेवा करें, परन्तु वे शरीर वस्त्र आदि से पवित्र रहें।

प्रश्न—शूद्र के छुये हुए पके अन्न के खाने में, जब दोष लगाते हैं तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं ?

उत्तर— यह बात कपोल कल्पित—झूठी है क्योंकि जिन्होंने गुड़, चीनी, घृत, दूध, पिशान, शाक, फल, मूल खाया उन्होंने जानों सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया। क्योंकि जब शूद्र चमार, भंगी, मुसलमान, ईसाई आदि लोग खेतों मे ईख को काटते, छीलते, पीसकर रस निकालते हैं। जब इन पदार्थों को खाया तो सब के हाथ का खा लिया। हमारी समीक्षा यह है कि जाति-विचार से एक-दूसरे के हाथ का खा लेना चाहिए – यह क्रान्ति है। पर शूद्र के घरों में, उन्हीं के पात्रों में बना, भोजन नहीं करना, यह मूल रिवाज को कायम रखना है।

(घ) पृष्ठ 273 : प्रकरण—जूठा खाने में दोष।

प्रश्न—कहो जी, मनुष्य मात्र के हाथ की पकाई हुई रसोई, उस अन्न के खाने में, क्या दोष है ? क्योंकि ब्राह्मण से लेकर, चाण्डाल पर्यन्त के शरीर, हाड-मांस चमड़े के हैं। पुनः मनुष्य मात्र के हाथ की पकी, रसोई के खाने में क्या दोष है ?

उत्तर—दोष है। क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने-पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के

शरीर में दुर्गन्धादि दोष रहित रज वीर्य उत्पन्न होता है, वैसा चाण्डाल और चाण्डाली के शरीर में नहीं । क्योंकि चाण्डाल का शरीर, दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है, वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं । इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चाण्डालादि नीच भंगी चमार आदि का न खाना । भला जब तुमसे कोई पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर माता, सास, वहिन, कन्या, पुत्रवधू का है, वैसा ही अपनी स्त्री का भी है, तो क्या माता आदि स्त्रियों के साथ भी स्वस्त्री के समान वर्तोगे ?

इसका अध्याय के निष्कर्ष रूप, में जब हम वाद, प्रतिवाद और सम्वाद के त्रिभुजों पर लौटते हैं ।

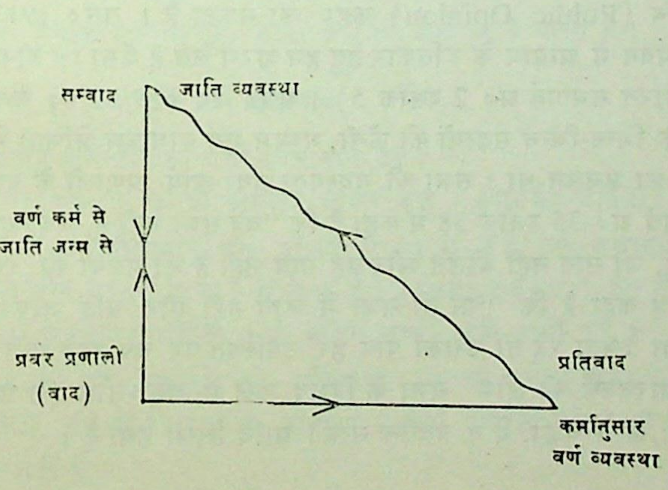
अच्छत्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः संचरातै ।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवंतु बहुं बलि प्रति पश्यासा उग्रः ।।

(अथर्व वेद 3/4/3)

जब जाति प्रथा को पूर्व वर्णित प्रवर प्रथा से जोड़ दिया गया तब जातियाँ अपनी पृथक् पूजा प्रणाली अपनाने लगी, और वह जाति के संस्कार, कहे जाने लगे । इस प्रवरीय जाति में विभिन्न रक्त-स्रोत के परिवार होते थे, अस्तु उनमें वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में कुछ आपत्ति न थी ।

उक्त मंत्र में इस व्यवस्था की ओर संकेत हैं :

"(सजाताः) सजातीय लोग (हविनः) हवन करते हुए (त्वा) तेरे पास (अर्थात् राज्य के संरक्षण में, जैसा कि मंत्र संख्या एकमें राष्ट्र को सम्बोधित किया गया है) मैं (अच्छयन्तु) आसम्मुख होकर मिलें । अग्नि के सम्मुख, उन्हीं में से स्त्री को पावें और स्त्री से पुत्रादि उत्पन्न करें और उत्तम मन वाले बने । तभी से राज्य शक्ति तुम्हें इनसे अच्छे परिणाम में (वलि) राज्य कर मिलेगा ।" जो भारतीय संहिता में अन्तर्जातीय विवाहों को ही कानूनी विवाह मानने की प्रथा पड़ी उसका श्रोत यही आदेश है ।



प्रवर प्रणाली की प्रतिवाद (Anti thesis) रूप में वर्ण व्यवस्था थी। वर्ण व्यवस्था विकसित होकर जाति व्यवस्था बनी। जाति व्यवस्था बाद में प्रवर प्रणाली और वर्ण व्यवस्था का साममंजस्य (Synthesis) होकर आई, यह मंत्र में स्पष्ट है। इस सारी क्रान्ति और स्थिति को उक्त त्रिभुज में सूत्र रूप से दर्शाया है।

अस्तु दयानन्द सरस्वती का उपरोक्त दृष्टिकोण, भूमिका में कहे अथर्व वेद की त्रैत मान्यता के अनुरूप है।

6.05 समाज की चौथी क्रान्ति और पाँचवीं स्थिति-सभा की स्थापना

एक ही नगर या ग्राम-समूह में, हर व्यवसाय वालों के संगठन भी, न्याय व्यवस्था बनाये रखने में, सफल नहीं होंगे। तब समाज में फिर क्रान्ति होगी। दूसरा त्रिभुज प्रारम्भ होगा। जिसका बाद रूप, यह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का सिद्धान्त है, जैसीकि हमारी भूमिका में, साधारण प्रतिज्ञा है।

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥

(अथर्व० 8/10/मंत्र 8 एवं 9)

(समाज में फिर क्रान्ति हुई और इस बार नियन्त्रण-व्यवस्था सभा के रूप में प्रगट हुई या हो सकती है)।

वैराज्य (Statelessne) से क्रमश: परिवार व पेशों के संघ और तदन्तर सभा की आवश्यकता हुई, जो पूरे समाज और नगर के लिए नियम (Laws) बनावे। इस वैदिक सभा (Witan) के लिए सभा भवन (Community Hall) बने। वहाँ एकत्रित होकर लोग आमोद-प्रमोद भी मनाते थे। कालान्तर में आर्थिक (Secular) विषयों पर भी वहाँ मन्त्रणा होने लगी। वहीं से जनता की सम्मति राजनैतिक प्रकरण में बनने लगी। जिसे जन-रुचि (Public Opinion) कहा जा सकता है। समु० 191/3 में आया है कि सभा भवन में अन्याय के प्रतिकार हेतु हम शरण लेते हैं जैसा कि द्रौपदी ने किया था। (महाभारत सभापर्व अ० 2 श्लोक 5)। अथर्व वेद (19/55/6) से प्रगट होता है कि सभा के भिन्न-भिन्न सदस्यों को ऊँची, मध्यम एवं साधारण श्रेणियों में अनुभवानुसार बाँटने का प्रचलन था। सभा की सदस्यता तथा कार्य प्रणाली के बारे में महाभारत सभा पर्व अ० 35 श्लोक 38 में कहा है कि "वह सभा नहीं है, जहाँ वृद्ध नहीं है। वे वृद्ध नहीं हैं, जो सत्य नहीं बोलते और वह सत्य नहीं है जो आत्मा को जचकर न रह जावे।" अन्यत्र कहा है कि "या तो सभा में जावे नहीं और यदि जाकर असत्य को प्रतपादित हुआ देखता रहे तो उसका पाप हर उपस्थित पर चुप रहने वाले सदस्य पर पड़ता है।" भारतवर्ष की लोक सभा के विशद कक्ष में, यह श्लोक (न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, न ते वृद्धाः ये न वदन्ति सत्यं) आदि लिखा हुआ है।

6.05.01 सभा के द्वार किसी के लिए बन्द न हों अर्थात् वयस्क मताधिकार

ऋग्वेद 18/5/33 के मंत्रांश में सभा के प्रति यों कहा गया है :

वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतंस्य द्वारौ मा मासन्ताप्रम् ।

(सभा में वाणी के वार्तालाप द्वारा राज्य शक्ति यह निश्चित करे कि ऋत (धर्म और सत्य) के द्वार, किसी के लिए बन्द न हों । वे द्वार किसी को, दुखदाई न हों । उनके माध्यम से प्रजा को स्वस्ति श्री ही मिले ।) सभा में स्त्रियाँ भी जाकर बोल सकती हैं, ऐसा विधान वेद में था ।

6.05.02 संसद

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद । (अथर्व 7/38/4)

यशसा इस्याः संसदोऽहं प्रददितास्याम ।। (साम०)

यहाँ सभा के लिए संसद शब्द प्रयुक्त हुआ है । मैं संसद में उत्तम एवं यशस्वी वक्ता बनकर ही रहूँ ।

नमो सभाम्यः । (यजु० 16/24)

सभापतिभ्यश्च वोनमः । (यजु 16/24)

सभा में सत्य-सम्भाषण अनिवार्य—

विद्यते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।

ये तेकेच सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ।। (अथर्व०)

हे (सभैः) सभा । तेरा नाम (विद्य) जानते हैं । तेरा नाम (न-रिष्टा) अविनाशक है । (ये के च) जो कोई (ते सभासदः) तेरे सभासद हैं (ते) वे (मे) मेरे साथ (सवाचसः सन्तु) सत्यवचन बोलने वाले होवें ।

लोक सभा का काम (न-रिष्टा) किसी का नाश न करने वाली, स्वयं नष्ट न होने वाली अथवा (नर-इष्टा) लोगों के लिए इष्ट करने वाली है ।

6.05.03 सभा की गण पूर्ति और एक मत

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।

अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु । (अथर्व० 7/12/3)

(एषां समासीनानां) इन उचित संख्या में बैठे हुए सभासदों का (वर्चः विज्ञानं) तेज और ज्ञान (आददे) में लेता हूँ । (अस्याः सर्वस्याः) इस सब (संसदः) सभा का, हे (इन्द्र) राज्यशक्ति (मां भगिनं कृणु) मुझे भागी कर ।

राजा को तथा सभापति को उचित है, कि वह संपूर्ण सभा के सब सदस्यों का मत क्या है, वह निःपक्षपात से जानकर उसका उपयोग करे । मात्र बहुमत का यहाँ उल्लेख नहीं है ।

6.05.04 सभा का उत्तरदायित्व

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ।

(अथर्व काण्ड 1 अनु० 7 सूक्त 55 मं० 5)

ऐ सभा में बैठने की अर्हता वाले । तू मुझ सभापति की इस धर्म युक्त व्यवस्था का पालन कर और जो सभ्यों का बहुमत है, वह भी, अनुशासन का पालन करे अर्थात् अल्प और बहुमत दोनों ही, व्यवस्था को मानें ।

6.05.05 सभा के धन जुटाने सम्बन्धी अधिकार

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्त्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात्प्रमंचति दत्तः शितिपात् स्वधा ।। 1 ।। (अथर्व 3/29/1)

(यमस्य) नियम पालन करने वाले राजा के (अमी सभासदः राजानः) ये सभासद राजे (इष्टा पूर्तस्य षोडशं) अन्नादि भोग का सोलहवाँ भाग (विभजन्ते) विभक्त करते हैं। यह सोलहवाँ भाग (दस्तः) दिया हुआ (अविः) रक्षक होता है और वह (शितिपात्) हानि से (प्रमुञ्चति) मुक्त कर देता है और (स्वधा) अपना धारण करता है ।

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन्प्रभवन्भवन् ।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ।। (अ० 3/29/2)

पूर्वोक्त कर (दत्तः) दिया हुआ। (अविः) रक्षक बनकर (शितिपात्) हानि से (न उपदस्यति) नाश नहीं करता । परन्तु (आकृति प्रः) संकल्पों को पूर्ण करता हुआ (सर्वान् कामान्) सब कामनाओं को (आभवन्, प्रभवन्, भवन) विजयी, प्रभावी और वृद्धियुक्त होकर (पूरयति) पूर्ण करता है ।

ग्राम ग्राम, नगर नगर की अपनी सभाओं में, वहाँ के सब नागरिक बैठकर जन्मपरक, प्रवर प्ररक, वर्ण परक अर्थात् सब समस्याओं से सम्बन्धित नियम बनाते हैं। स्थान-स्थान पर सभा भवन हैं। भारतीय पद्धति में मुख्यतः उत्तरी भारत में हर नगर में ऐसे सभा भवन नगर श्रेष्ठ महाजन के अथवा सामूहिक प्रयत्न के द्वारा बनाये जाते थे। इन्हें धर्मशाला कहते थे। इनमें आगन्तुकों को ठहराने की भी व्यवस्था होती थी। क्योंकि अनायास आगन्तुक किसी एक घटक का न होकर, सारे वर्ण या सारे ग्राम का अतिथि माना जाता था। धर्म से अर्थ नैतिक नियमों के सृजन से है। इन सार्वजनिक स्थानों में सब की बात सुनकर नियम पास किए जाते थे। इनमें एक मत पर जोर दिया जाता था न कि बहुमत पर। और उद्देश्य बहु-जन-हिताय न होकर "सर्वे भवन्तु सुखिना" होता था। सभा सारी प्रजा को आश्वस्त करती थी।"

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुखभाग् भवेत् ।।

सभी सुखी हों! सभी विपत्ति से सुरक्षित और निडर हों। सभी भद्र

(Welfare) को ही देखें ताकि किसी को भी दुःख न हो। 'बहुजन हिताय' वाली बौद्ध कल्पना ग्रार्ष-पराभव के बहुत बाद में सोची गई थी।

यह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) है। इसमें चुनाव की प्रथा न थी। सभा में सारे वयस्क लोग प्रवेश कर सकते थे। वर्णों के संगठनों में जब स्वार्थ ग्राया ग्रौर जातीय संगठनों में जब पक्षपातपूर्ण व्यवस्थायें हुईं तो इन संगठनों को वृहदाकार करके पूर्व व्यवस्था को न्यक्रामत (प्रतिवादित) किया गया, ग्रौर उनके स्थान पर ज्ञान (वेद) द्वारा उत्तम तर भौगोलिक इकाई की व्यवस्था हुई जिसमें एक ग्राम या नगर में बसे सारे उत्पादन संघ, सांस्कृतिक (विभिन्न पूजा पद्धतियों पर ग्राधारित) एवं जन्मना संगठित रक्त परक संस्थान, सब ग्राकर एक स्थान पर बैठकर कानून बनाने लगे। इसे बैठक कह सकते हैं। यहाँ वह स्थिति स्पष्ट है कि ग्राह्वनीय क्रान्ति व्यक्तिगत वस्तु बन चुकी थी ग्रौर पृथक्-पृथक् व्यवसायों में चमकने वाले परस्पर मिलकर विचार-विनिमय करने लगे। ताकि वे सभा में जाकर ग्रपना एक मत प्रगट कर सकें।

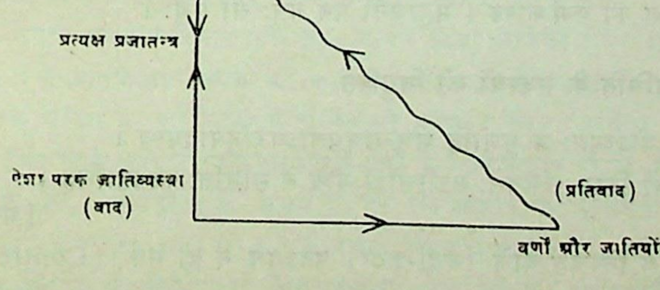
6.05.06 दयानन्द सरस्वती का मत

सभा में ग्रौर संसद का देदीप्यमान स्वरूप बनाए रखने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सभापति ग्रादि की व्यक्तिगत चारित्रिक निष्ठा का उल्लेख भी इस प्रकार किया था।

"सब सभासद ग्रौर सभापति इन्द्रियों को जीतें ग्रर्थात् वश में रख कर, सदा धर्म में वर्तें; ग्रौर ग्रधर्म से हटें, हटाये रखें। रात-दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें क्योंकि जितेन्द्रिय ग्रपनी इन्द्रियों को जीते बिना बाहर की प्रजा को वश में करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता।"

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, राजनीति प्रकरण)

भूमिका में दिए ग्रथर्ववेदीय त्रैत सिद्धान्तानुसार इस क्रान्ति का सूत्र रूप त्रिभुज यों बनता है।



6.06 समाज की पाँचवीं क्रान्ति और छठी अवस्था

'समिति' : सभा में सदस्य संख्या बहुत अधिक होती थी। फिर हर ग्राम में सभा बनती थी। उनके माध्यम से शासन चलाना आसान नहीं है। तब फिर समाज में क्रान्ति हुई या हो सकती है। क्रान्ति पूर्व की यह स्थिति, अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के 49वें मन्त्र में यों दर्शाई गई है :

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु बदेम ते॥

ग्राम और नगर में सभा से कार्य चलता है, पर युद्ध संचालन एवं शासन तन्त्र को चलाने के लिए, छोटी समिति होनी चाहिए। इसकी तुलना आजकल के (Upper House) राज्य सभा से कर सकते हैं। तदन्तर क्रान्ति हमारी साधारण प्रतिज्ञानुसार यों हुई :

सोदक्रामत्सा समितो न्यक्रामत् यन्त्यस्य समितिम्
सामित्यो भवति यम एवं वेद।

समाज में फिर क्रान्ति हुई और इस बार उसका नियन्त्रण समिति रूप में प्रगट हुआ, या होता है। जो इस प्रकार जानता है, वही जानता है। यह समिति, एक प्रकार से ऋषियों का समूह था। कुछ पुरुष जन्म-जन्मान्तर से संचित संस्कारों के कारण, दूसरों से अधिक योग्य होते ही हैं। ऋग्वेद में समिति के अर्थ में सम्मति शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् वह स्थान या संस्थान, जहाँ योग्य नागरिक प्रायः और सभापति, यदाकदा जाया करते थे। इस समिति के अन्य उपभाग (Sub-Committees) भी होते थे, जिन्हें विद्रथ कहते थे। यह सेना के लिए और युद्धकाल में, सारे राष्ट्र के लिए गठित होती थी। ऋग् (1/166/3) एवं (1/167/6) में इनका उल्लेख है। पर सभापति इनकी सम्मति मानने को, वाध्य न था। महाभारत सभापर्व (अ० 100 श्लोक 71) में भी ऐसा ही उल्लेख है। समाज का यह विशिष्ट अंश (Oligarchical Element) अपनी विद्वत्ता एवं त्याग के कारण निस्पृह सम्मति देता था। अतः त्रैत-दर्शन परिप्लावित भारतीय राजनैतिक-व्यवस्था में उनका विशेष स्थान रहा है। यह Oligarchical Element ही, स्व स्व भौगोलिक क्षेत्र में राष्ट्र को उत्पन्न करता है, और उत्पन्न करके वहाँ की विधि व्यवस्था का भी निर्माण करता है, जो कि स्मृति कहलाती है। वही सदाचार के स्तर निश्चित करता है, और वही उस देश का कर्मकाण्ड। महाजनो येन गतः सो पंथः।

6.05.01 समिति के सदस्यों की नियुक्ति

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून्छत्रूयतोऽधरान्पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह।

(अथर्व 6/88/3)

ध्रुव निश्चय वाले (यदा-कदा) पदच्युत न हो सकें, (Continuing House

का संकेत) शत्रुओं या शत्रुओं के एजेण्टों से साँठगाँठ न रखते हों, एक राष्ट्र में स्थित, सब दिशाओं के क्षेत्रों से छाँटे हुए उत्तम मन वाले, (सध्रीचिः) मिल-जुलकर मन्त्रणा करने में विश्वास रखने वाले (इह) इस राष्ट्र के ही नागरिक, इनसे समिति (कल्पना) बनाई जाये, ताकि राष्ट्र में ध्रुवता (स्थिरता Stability) आवे।

प्रत्येक समाज में जो लोग, क्रान्ति दर्शी अर्थात् आगे की चिन्ता करने वाले होते हैं उन्हें ही कवि कहते हैं। समाज में जैसे ही मनुष्यों ने प्रकृति से नाना प्रकार के पदार्थ, स्व स्व परिश्रम से उत्पन्न किये, तैसे ही उन्हें समाज को संगठित करने और उसमें न्याय व्यवस्था स्थापित करने की चिन्ता होती है क्योंकि बहुत से कार्य ऐसे हैं, जिन्हें समुदाय ही कर सकता था। कोई एक व्यक्ति नहीं। प्रकृति के संसर्ग से आदर्श व्यक्ति के भी स्वार्थी बन जाने की भी आशंका थी। समाज के कल्याण की इच्छा करने वाले यह दूरदर्शी लोग घोर चिन्तन और एतदर्थ परिश्रम करके तथा स्वयं का आदर्शमय त्याग-पूत जीवन बिता के धर्म संस्थापन करते हैं। इस धर्म संस्थापन से समाज में ओज, अनुशासन (Decipline) और भय उत्पन्न होता है। फिर उसी को राज्य और राज्य-शक्ति कार्यान्वित करती है। ऋषियों ने धर्म शास्त्र एवं विधि-विधान बनाया, और आज्ञा दी कि सब श्रेष्ठ पुरुष उसके पालन में सदा तत्पर रहे क्योंकि समाज की सेवा स्वयं उनके द्वारा उन्हीं की सेवा है।

ऐसे समुन्नत समाज का निर्माण, ऋषियों द्वारा ही सम्भव है। वे समाज के (Elite) विचारवान् प्राणी हैं। वे ही सोच सकते हैं कि समाज का भद्र किसमें है। उनका चिन्तन समाज के भद्र (कल्याण) मार्ग ही के लिए है। यह शासन का (Oligarchical) परन्तु त्यागी, तपस्वी और दीक्षावान् (Trained) अंश है। बिना इसके, किसी समाज की रचना नहीं हो सकती। समाज को इनकी आज्ञा माननी ही चाहिए।

यह प्रक्रिया सदा होती रही है, और सदा होती रहेगी। यदि वह अंश तप, त्याग और श्रम पर आधारित होगा तो समाज दोहनशील (Exploiter) एवं आचरणविहीन (Corrupt) नहीं होगा।

स्वयं प्लेटो ने 2500 वर्ष पूर्व कहा था कि, समाज के इस श्रेष्ठतर अंश का नियोजन करना होगा अर्थात् उसकी योजनाबद्ध पूर्ति करनी होगी। उन दार्शनिक उच्च पुरुषों को, गरीबी का जीवन रहना होगा, उनकी सम्पत्ति नहीं होगी। प्लेटो के अनुसार तो उन्हें विवाह करके परिवार भी नहीं बनाने दिया जावेगा। पर शासन वे ही करेंगे। जनता में से प्रतिभावान बच्चों को 6-7 वर्ष की आयु में ही उनके परिवारों से लेकर पृथक्-पृथक् गुरुओं के सान्निध्य में अन्तेवासी बनाकर रक्खा जावेगा। उन्हें वहाँ शिक्षा-दीक्षा देकर आने वाले उत्तरदायित्व पूर्ण पदों के लिए तैयार किया जायेगा।

जापान में भी, टाकोहोमा के समय से ही इस प्रकार के प्रशासक तैयार करने का विश्वविद्यालय खोला गया था। इस पृथक् विश्वविद्यालय के स्नातक बिना प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के सीधे उच्च पदों पर लिए जाते रहे हैं। आज भी शासन

में वे 80% हैं। वे शासन के सूत्रधार रहे हैं। ब्रिटेन में एपिसकोपिल चर्च के मान्य परिवारों के बच्चे Public School में प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। आज उन्हीं 500 परिवारों में से आधे बच्चों का उच्च पदों पर प्रतिनिधित्व 60% है। प्रतियोगितात्मक परीक्षाएं, वे ही लोग पास कर पाते हैं।

परन्तु ध्यान रहे कि, उनके निहित स्वार्थ न पनपने पावें। आर्ष गुरुकुल प्रणाली में जिसकी नकल पर ही प्लेटो का एतद्विषयक प्राविधान है, गुरु और सब शिष्यों के एक से खान-पान और पहिराव की व्यवस्था है। समावर्त्तन के समय जब आचार्य, प्रशिक्षित स्नातक नागरिक, समाज को समर्पित करता है तो कहता है कि, हे ब्रह्मचारियो! तुम हमारे सदगुणों की ही आवृत्ति करना, दुर्गुणों की नहीं। तदनन्तर आचार्य कहता है :

सहनाववतु सहनोभुनक्तु सहवीर्यम् करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै।

जैसे हमारा और तुम्हारा, एक साथ बोलने, एक साथ भोजन करने और महत्त्वाकांक्षाएँ रखने का साथ रहा है, वैसा ही जनता-जनार्दन में तुम रखना। असमानता का प्रदर्शन (vulgar show of disparity) न होने पावे। इसी मार्ग से तुम्हें तेज और बल प्राप्त होगा। लोग तुम्हारी बात मानेंगे।

ऋषियों में परस्पर विद्वेष भी न हो। राजनीतिज्ञ एवं सामाजिक नेताओं का परस्पर विद्वेष ससाज में भद्र की स्थापना नहीं करने देगा। अस्तु, आर्य पद्धति राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय मनोबल (pressure of public opinion.) के राष्ट्र के भद्र के हेतु बने रहने के लिए, ऋषि समूह को आवश्यक समझता है। यह द्विसदन की आवश्यकता का पक्ष स्थापन है। इसका शक्ति सम्पन्न होना आवश्यक है। तस्मै देवो उप सन्नयन्तु। इनकी बात चलनी चाहिए। सुनी-अनसुनी नहीं होनी चाहिए। कोई कुछ भी कहे, आधुनिकतम प्रजातन्त्र देशों में वास्तविक तन्त्र थोड़ से आदमियों के हाथ में होता है। चुनाव के समय भिन्न-भिन्न पार्टियों के नेता जो संख्या में बहुत थोड़े होते हैं, मत दाताओं से कहते हैं, हम दोनों गुटों में ही से किसी एक को चुन लो। और मत-दाता उनमें से ही चुनने को बाध्य हैं। बहुमत प्राप्त करने के बाद पूरे समय के पेशेवर गुटबाज पार्टियों पर काबिज हो जाते हैं। वोटों के इस कम्पीटीशन में जीत कर पेशेवर राजनीतिज्ञ राज्य शक्ति का वितरण आपस में कर लेते हैं। वे ही सारे कानूनों का मसविदा बना कर पार्टी से कहते हैं कि इसे पास करो। धन के बल पर जो कि वे चुनाव के समय अपने प्रत्याशी पर खर्च करते हैं, वे हर विधायक का मुँह बन्द कर देते हैं। यह गुट ही पार्टी के बुद्धिजीवी लोगों को लोक सभाओं में बोलने का समय और विषय तक निश्चित करता है। इस प्रकार मतदाता प्रभुसत्ता सम्पन्न इकाई नहीं है। उनका काम यही है कि वे इन पेशेवर गुटबाज राजनीतिज्ञों को सारी राज्यशक्ति सौंप दें।

हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन देशों में कम-से-कम इतनी

स्वतन्त्रता अवश्य है कि जनता यह चुन ले कि किस गुट के (Elite) द्वारा वह शासित होना चाहती है। प्रतिनिधियों को एक बार चुनकर उन्हें वापिस बुलाने (Recall) का अधिकार अथवा जनमत संचय (Refrendum या Plebicite) द्वारा उनके निश्चय बदलवाने का अधिकार स्विटजरलैंड के अतिरिक्त अन्य किसी देश के विधान में नहीं है। अस्तु, यह आवश्यक है कि कम व्यक्तियों की सम्मति का, यदि वे त्यागी व दीक्षित हों, अधिक मूल्य होना ही चाहिए। इसकी पद्धति यही होगी कि जो (Upper House.) द्वितीय सदन है, उनमें योग्यतम व्यक्ति हों। मोटामाटी निम्न श्रेणी के लोग उसमें हो सकते हैं :

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यऽश्व ये।
उपस्तीन् पर्व मह्यं त्वं सर्वान कृण्वभितो जनान्।

(अथर्व० 1/3/5/7)

[जो (राजान) सरदार (राजकृतः) राजा बनाने वाले (kingmakers) (सूताः) गाथाओं को सुनाने वाले अर्थात् कवि, इतिहासकार, (ग्रामण्य) ग्राम संगठनों के अगुवा हैं, उन सबको राज्य शक्ति के चारों ओर जनता स्थापित करें।]

यदक्षेपु वदा यत्समित्यां यद्वा अनृतं वित्तकाम्या।

(अथर्व 12-3-52)

और उनकी सहमति के बिना कोई कानून न बने। पर वे ऐसे व्यक्ति होने चाहिए, जिन्हें न प्रभाव की लिप्सा हो, न प्रचुरता की और न प्रमुखता की। त्रैतवाद समर्पित राजनीति में, इनकी सम्मति का मूल्य अधिक'रहेगा। यही समिति वाली क्रान्ति थी, जो सभा वाली क्रान्ति की अनुपूरक सिद्ध हुई। ग्रीक सिटी स्टेट पर प्लेटो ने यही मलहम लगाई थी।

इस समिति में मनीषियों का होना, और उनकी सम्मति की विशेष मान्यता होना, कदाचित आज कल के प्रजातान्त्रिक चिन्तन में अटपटा-सा लगता हो। परन्तु यह अनिर्वचनीय है। अधुना पूँजीवादी, प्रजातन्त्र और जनता के प्रजातन्त्र (Capitalist and people's Democracies) दोनों में संचालित राजनीति तन्त्र पर सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो दोनों में हम Oligarchical अर्थात् एक छोटे से गुट द्वारा ही राजतन्त्र को संचालित होते हुए पाएंगे। साम्यवादी देशों की तो मान्यता डंके की चोट है कि राज्य पर मजदूरों का अधिकार होगा, और मजदूर चूँकि अर्द्धशिक्षित और असंगठित है, अतः अपना भला-बुरा समझ नहीं सकते। अतः उनकी ओर से साम्यवादी पार्टी ही शासन करेगी, और चूंकि पार्टी में भी वही है, अतः पार्टी के सामने निर्णय रख दिए जाया करेंगे। पार्टी के सदस्य उन पर विचार भी करेंगे। पर वह (Inner Party Democracy) होगी, जिस पर केन्द्रीय नियन्त्रण होगा। अर्थात् अन्तिम निर्णय वही होगा, जो कि पार्टी की केन्द्रीय कार्यकारिणी ने निश्चित कर लिया है। चाहे पार्टी कान्फ्रेंस हो चाहे सुप्रीम सोवियत। उसका सम्मेलन में एक ही कार्य है, वह है ऊपर से लिए गए निर्णयों पर स्वीकृति की मोहर लगाना। इसके पक्ष में

विशन्सी महोदय ने अरस्तू और रूसो के तर्क प्रस्तुत किए हैं कि बहुमत ही व्यक्तियों की सभी इच्छाओं को (wills) नहीं प्रगट करता, यदि वह प्रत्येक को इच्छाओं का योग मात्र हो। उनकी वास्तविक इच्छा तो यह है कि जिसमें उनका कल्याण निहित है और कल्याणकारी इच्छा ही सच्ची इच्छा है। यदि कोई घटक, उस कल्याणकारी इच्छा को अपनी इच्छा कहकर परतन्त्र ही बना रहना चाहता है, तो राज्य शक्ति उसे उसकी इस पराधीनता से स्वतन्त्र कराने का अधिकार रखती है।

इसी प्रकार की बात स्वतन्त्र कहे जाने वाले प्रजातान्त्रिक देशों में भी है। ये देश कहते तो यह हैं कि प्रजा को अपने शासक पार्टियों के प्रोग्राम के आधार पर स्वयं चुनने का अधिकार है। इसका अर्थ यह होना था कि हर व्यक्ति राज्य व्यवस्था में कुछ-न-कुछ हाथ लगा सके। परन्तु प्रजा अपने ऊपर स्वयं शासन कहाँ कर पाती है? राजनीति में शासन चलाना और उद्योगों का प्रबन्ध करना, ये दोनों विशिष्ट योग्यता वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं। और ऐसे विशिष्ट व्यक्ति सदा अल्प मत में होते हैं और थोड़े होते हैं। इस प्रकार असमानता, एक राजनैतिक और सामाजिक आवश्यकता बन जाती है। अतः प्रजातन्त्र प्रजा के लिए प्रजा द्वारा राज्य न होकर प्रजा में से चुने हुए थोड़े से व्यक्तियों का ही शासन है। ऐसा प्रोफेसर दुवर्जर (फ्रांसीसी) ने लिखा है। उन लोगों को (Elite) विशिष्ट गुण सम्पन्न पुरुष कहते हैं। इस प्रकार प्रजातन्त्र में भी राजनीतिज्ञों के छोटे से गुट का ही राज्य होता है।

6.06.02 सभा और समिति में समन्वय

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥
(अथर्व० 7/12/1)

[प्रजापतेः (राजा अथवा शासन शक्ति की) दुहितरौ (पुत्री) वत् ही सभा और समिति हैं। ये दोनों मुझ प्रजा (मां) की (अवतां) रक्षा करें। मेरे अधिकारों की ये रक्षक हैं। ये दोनों (संविदाने) मेल कराने वाली हैं। (येन) जिस सभासद ही के साथ मैं मिलूं, वह मुझे (उपशिक्षात) ज्ञान दे। हे पालन करने वाले सभासदो, (संगतेषु) सभाओं में (चारु वदामि) मैं ठीक बोलूं।]

यदि यह सभा या समिति के सदस्य की शपथ की भाषा है, तो इसका अर्थ यों होगा—सभा और समिति दोनों राज्यशक्ति की सगी बहिन वत् एक ही पति को ब्याही, दो सहोदर बहनें हैं। ये मुझे बल दें कि मैं उनमें जाऊँ और परस्पर शिक्षित होऊं तथा मैं वहां सदा ठीक ही बोलूं। अर्थात् एक व्यक्ति दोनों में जा सकता था।

मुख्य शब्द संविदाने यहाँ प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् उनमें तालमेल होना चाहिए और संवैधानिक सम्बन्ध होने चाहिएँ। परस्पर ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए। पितर जो वयोवृद्ध हैं, उन्हें सभा, समिति दोनों में होना चाहिए।

6.06.03 दयानन्द सरस्वती का मत

"जिस सभा में ऋक्, यजुः, साम को जानने वाले, तीन सभासद (Sub-Committee) होके व्यवस्था करे, उसे कोई भी उल्लंघन न करें। एक अकेला सब वेदों का जानने हारा, द्विजों में उत्तम सन्यासी, जिस धर्म (Law) की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों करोड़ों मिल के जो कुछ व्यवस्था न करें, उनको कभी न मानना चाहिए। मूर्खवत् सहस्रों लोगों के मिलने से सभा नहीं कहाती। हाँ सभा राजा को भी दण्ड दे सकती है।"

भूमिका में आई अथर्ववेदीय प्रतिज्ञानुसार, इस परिस्थिति का भी वाद-प्रतिवाद और सम्वादजनक त्रिभुज बन सकता है।

6.07 समाज की छठवीं क्रान्ति और सातवीं स्थिति

आमन्त्रण.पद्धति : सभा ने सुविधा के लिए सभापति बना लिया था। वह समिति द्वारा, प्रवर्तित कानून पर अमल करवाता था। सभापति परिवारों के अध्यक्षों में, अर्थात् राजकार्य वाहक क्षत्रियों में प्रयुक्त ही हो पाता था। यह स्वाभाविक ही है कि महत्त्वाकांक्षी सभापति सभा और समिति से सैनिक शक्ति के आधार पर अधिकार छीनते रहते हैं। वे सृष्टि के राजा ईश्वर की अपने को प्रतिमूर्ति भी समझने लगते हैं।

6.07.01 क्रान्ति की पृष्ठभूमि

राजा द्वारा अपने ईश्वरीय अंश होने का प्रचार : वेदों में प्रभु द्वारा सृष्टि संचालन की बात बताई गई थी, कि एक ईश्वर ही, इन्द्र रूप से, द्विपद-चतुष्पद और मुक्त जीवों एवं मार्गावस्थित जीवों पर शासन करता है। वह ब्रह्म रूप से उन्हें जन्म देता है, विष्णु नाम से पालन करता है, रुद्र नाम से कटु फल देता है। सोम नाम से न्याय करता है। वरुण नाम से विद्या दान का प्रबन्ध करता है। उसी के प्रतिरूप, इस सभापति और राष्ट्रपति को होना चाहिए। जो चरित्र सम्बन्धी महान् आदर्श है, और पूर्णता की जो सीमा है, तदनुरूप विश्व का राजा ईश्वर है। पृथ्वी तल पर राष्ट्रों का राजा ऐसा ही होना चाहिए। इस तुलना का सुन्दर पहलू यह हैं :

(क) पुरूकुत्सु राजा अर्धदेव = (ऋ० 4/42/8 एवं 9) राज्य शक्ति (या राजा) अर्धीश्वर हैं, क्योंकि उसमें ईश्वरीय लहरें उठती हैं, जो उसे न्याय करने पर विवश करती हैं।

(ख) राज्य शक्ति ही ईश्वर वत् है। पंच परमेश्वर है।

(ग) न्यायकारी राज्य शक्ति ईश्वर की हर राष्ट्र को देन है।

(घ) राजा या राज्यशक्ति पृथ्वी पर प्रभु की भाँति संरक्षक है।

(ङ) राजा या राज्यशक्ति में ईश्वरीय अंश विद्यमान है।

(च) राजा या राज्यशक्ति द्वारा वे ही कार्य सम्पन्न होते हैं जो ईश्वर द्वारा।

(छ) राजा या राज्यशक्ति पृथ्वी पर ईश्वर की प्रतिनिधि है ।

(ज) जब राजा शासन हेतु सिंहासनारूढ़ है, उस समय उसके अन्दर प्रभु विशेषतया आ विराजता है । शतपथ (5/4/3-7) । वाजपेय यज्ञ में राजा ही इन्द्र, ब्रह्म सवितु, वरुण और रुद्र बन जाता है । छोटे राज्यों के समूहीकरण की पद्धति ही वाजसनेय यज्ञ है । अथर्ववेद में ऐसा मत उसके मंत्र 4/22/4-5 में प्रगट किया गया है ।

परन्तु जब एक व्यवित या व्यक्ति समूह में शक्तियां सन्निहित हो जाती हैं, तो कालान्तर में वह या तो निरंकुश हो जाता है । तब वह यह कहने लगता है कि जो कुछ राज्यशक्ति के बारे में कहा गया है वह व्यक्तिगत राजा के बारे में भी लागू है । वह इस हेतु यह प्रचार करवाता है कि—

(त) राजा ही ईश्वर या प्रभु है ।
(थ) ईश्वर सृष्टि पर राजा में होकर प्रगट हुआ है ।
(द) राजा ईश्वर का अवतार है ।
(ध) राजा ईश्वर का विशेष पुत्र या सन्देशवाहक है ;
(न) राजा ईश्वरीय होने से उसकी आज्ञा ईश्वरीय आज्ञा है ;
(प) राजा का शरीर ईश्वर के शरीर से बना होने से पवित्रतम है ।
(फ) राजा अमानवीय तत्त्वों से बना है और ईश्वर उसकी कही बात सदा पूरी करता है ।

(ब) राजा को ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और पृथ्वी में से श्रेष्ठतर अंश लेकर बनाया है । (मनु० अ० 7/4-5)
(भ) राजा ही अग्नि, इन्द्र, सोम एवं कुबेर है । (मत्स्य पुराण 9/303, 6)
(म) राजा सब स्वर्गीय अलौकिक वस्तुओं में से अंश लेकर बनाया गया है ।
(य) राजा यह है जिसके लिए सारी लक्ष्मी विनियोजित है । उसके बल में विजय, क्रोध में मृत्यु सन्निहित है । सब की सोभा उसी से है ।
(र) पृथ्वी पर राजा ईश्वर बन कर शासन करने को प्रगट हुआ है ।
(ल) मनुष्य शरीर में राजा ईश्वर ही है । अतः अवधनीय है ।

(व) यह इन्द्र ही तो है जो राजा बनकर पृथ्वी पर विचरता है । उसकी अनुज्ञा न करो । एक निरर्थक व अयोग्य राजा भी पूजनीय है । जैसे स्त्री द्वारा उसका बेकार पति । (नारद स्मृति 18/20/23)
(श) पापी राजा की भी अवज्ञा नहीं होनी चाहिए क्योंकि वह प्रभु के तेज का प्रतिनिधि है । (श्रीमद्-भागवत 4/13/23) ।
(स) यदि कोई पिता, राजा का वध कर दे तो पुत्र को उससे नाता तोड़ लेना चाहिए । (गौतम स्मृति-20/1)

(ह) जो राजा की विरुद्धता करे उसका क्रूरता पूर्वक वध कर देना चाहिए।
(ग्रग्नि पुराण 24/21)।

इस चिन्तन का कारण यह था कि वेद में जो कुछ राज्य शक्ति के बारे में कहा गया था, वह सभापति, राष्ट्रपति या राजा ने स्वयं अपने व्यक्तित्व के लिए समझ लिया। किसी समय विशेष या देश-विदेश में ऐसा होता रहा हो सो बात नहीं है। यह मनुष्य का स्वभाव है। इसी परिस्थिति में राज्य की नियन्त्रण शक्ति को एक व्यक्ति के हाथ में न जाने देने के लिए वेद ने क्रान्ति की 7वीं किश्त या सोपान का उल्लेख किया था। भूमिका में ग्राई ग्रथर्ववेदीय साक्षरण प्रतिज्ञा यों है :

सोदक्रामत्सामन्त्रणो न्यक्रामत्।
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद।
(ग्रथर्व॰ 8/10/12 एवं 13)

(प्रजा में फिर क्रान्ति होती है। इस बार वह ग्रामन्त्रण बन कर प्रगट होती है। राज्यशक्ति में सभापति ग्रथवा राष्ट्रपति को मन्त्रणा करके निश्चय करने पर, बाध्य किया जाता है। इसे मंत्रिमंडल प्रणाली कहते हैं।)

6.07.02 ग्रामन्त्रण-पद्धति का श्रीगणेश :

समिति से ग्रभिमंत्रणा पद्धति का क्रम ऋग्वेद के निम्न मंत्र में भी कहा गया है :

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।
ऋग्वेद-10/19/30)

(समितियां समान होती हैं। उसके नागरिकों का चिन्तन ग्रादर्श ग्रौर महत्त्वाकांक्षायें एक-सी होती हैं। उसी के ग्राधार पर उनमें ग्रामन्त्रण पद्धति का निर्माण होता है।)

सभा ग्रौर समिति में से वे लोग छाँट लिए जाते हैं, जो प्रबुद्ध होने के साथ-साथ निम्न बातों में एकमत होते हैं :

(1)	समानमंत्रः	= उद्देश्यों की समानता
(2)	समानः समितिः	= उनके लिए ग्रावश्यक ताना-बाना बुनने की संगठना विषयक समानता।
(3)	मनः समानं	= उन उद्देश्यों को प्राप्त करने की एक-सी महत्त्वाकांक्षा।
(4)	एषां चित्तं सह	= चित्त में समानता। उनसे विचलित न होने का दृढ़ निश्चय।
(5)	समानं मन्त्रं ग्रभिमन्त्रये	= इस उद्देश्य के लिए उन्हें मंत्रिमंडल में बराबर ग्रधिकार से रखा जाता है।
(6)	समानेन हविषा जुहोमि	= उनका वेतन, रहन-सहन का स्तर समान होता है।

अर्थात् मंत्रीमंडल में विविध विचारी नहीं होना चाहिए। उनका ओहदा बराबर का होना चाहिए। उनका समान उत्तरदायित्व Joint Responsibility होनी चाहिए।

6.07.03 दयानन्द सरस्वती का मत

(क) सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 6 के उद्धरण :

"ईश्वर उपदेश करता है कि राजा और प्रजा के पुरुष मिल के सुख-प्राप्ति और विज्ञान वृद्धि कारक राजा प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में, तीन सभा, अर्थात् विद्यार्थ सभा, धर्मार्थ सभा, राजार्थ सभा नियत करके, बहुत प्रकार के समग्र प्रजा सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें। पृष्ठ 136

नोट : यहाँ धर्मार्थ सभा से तात्पर्य, विधि नियम बनाने वाली समिति है। राजार्थ सभा, शेष शासन यन्त्र चलाती है। दयानन्द, विद्या का कार्य दोनों से ही स्वतन्त्र और पृथक् एक संस्थान को सौंपते हैं, जो Autonomous अर्थात् स्व शासन में अन्य दो से स्वतन्त्र है। यह political pluralism. बहुलवाद के सूत्रवत् विचार हैं। इनका विशद् वर्णन आगे करेंगे।

(ख) अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार, न देना चाहिए, किन्तु राजा को सभापति, तदधीन सभा, समाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा (मन्त्रि-मण्डल) के अधीन रहे। जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करेगा, जिसलिए अकेला राजा स्वाधीनता उन्मत्त हो के प्रजा का नाशक है, अर्थात् वह राजा प्रजा को खाये जाता (अत्यन्त पीड़ित करता) है, इसलिए किसी एक को राज्य में स्वतन्त्र न करना चाहिए। स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है, अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देना, अभिमान तथा, लूट-खूँट अन्याय से दण्ड देके अपना प्रयोजन पूरा करेगा। पृष्ठ 137

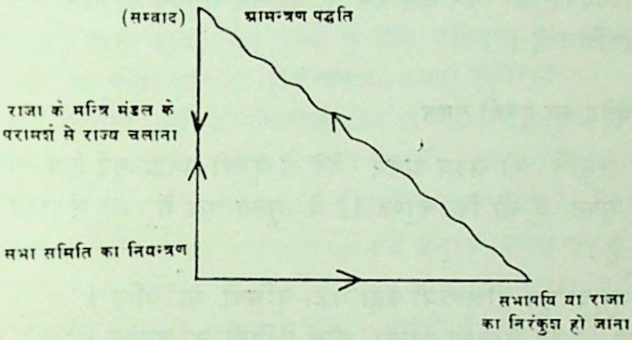
(ग) महा विद्वानों को विद्या समाजाधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्म समाजाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को, राजसभा (मन्त्रिमण्डल) के सदस्य और जो सब में सर्वोत्तम गुण कर्म-स्वाभाव युक्त महान पुरुष हो, उसको राज सभा का प्रतिरूप मान के सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति से राज-नीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग बर्तें। सब के हितकारक कार्यों में सम्मति करें। सब हित करने के लिए परतन्त्र और धर्मयुक्त कार्यों में अर्थात् जो-जो निज काम हैं, उनमें स्वतन्त्र रहें। (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका)

(घ) स्वदेश में उत्पन्न, शास्त्रों के जानने वाले, शूर वीर, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित, जिनका लक्ष्य और विचार निष्फल न हो, और कुलीन तथा सुपरीक्षित सात व आठ उत्तम धार्मिक, चतुर सचिवान अर्थात् मंत्री करें। एक को राजा और एक की ही बुद्धि पर राज्य कार्य का निर्भर रहना, बहुत ही बुरा काम है। सभापति

को उचित है कि कुशल मंत्रियों के साथ, सन्धि, निग्रह, समुदय, गुप्ति, लक्ष्य, प्रशमनादि से मन्त्रणा करें। (सत्यार्थ प्रकाश पृ० 145)

(ङ) जब राजा और राजपुरुष विषयासक्त होंगे, तो राजधर्म ही नष्ट हो जायेगा। इस पर भी ध्यान रखना चाहिए कि, यथा राजा तथा प्रजा—जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा होती है। इसलिए उन्हें उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म न्याय से बरत कर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें। अन्यथा सभा राजा को भी दण्ड दे सकती है। (स० प्र० पृष्ठ 170 एवं 172 पृष्ठ)

इस प्रकार वाद-प्रतिवाद-सम्वाद रूप में भूमिका में आई अथर्ववेदीय साधारण प्रतिज्ञा का सूत्र रूप त्रिभुज यों बनता है :



6.08 समाज की सातवीं उत्क्रान्ति और आठवीं स्थिति

'पृथिवी की पूजा और देश प्रेम'—राज्य शक्ति अर्थात् आमन्त्रण सहित सारे राज्य की संगठना का विशद वर्णन पृथक् अपेक्षित होने से उसे समुल्लास 9 में दिया है। त्रैत क्रम की अगली स्थिति का अध्ययन इस परिच्छेद में ही करेंगे। नगर-नगर में सभा और समिति, फिर निवासियों का रक्तपरक, संस्कृतिपरक और वर्ण-व्यवस्था (पेशा) परक फैलाव जहाँ तक है, उस भूभाग के सभी लोग एक शासन में आ जाते हैं। तब राज्य शक्ति विचार करती है कि इन विभिन्न हितों और वर्गों को किस प्रकरण में और किस नारे से संगठित किया जाये। अन्वेषण से ज्ञात हुआ कि नदी-नालों के जल से सिंचित पृथ्वी सभी को योग्य पदार्थ देती है अतएव उसी के इर्द गिर्द सब को समेटा जावे। इसी परिवर्तन को अथर्ववेद ने काण्ड-15, सूक्त-8 में यों वर्णन किया है :

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ।। 1 ।।
स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत ।। 2 ।।
विशां च वै स सम्बन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्यव च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ।। 3 ।।

इस अध्याय में, सा (प्रजा), उत्क्रामत, निक्रामत, शब्द प्रयुक्त नहीं हुए हैं। मंत्र में सा का स्थान सः (राजा) ने ले लिया, और सा को स्पष्ट करके विशः

(प्रजा-जनता) शब्द ले आये, क्योंकि राज्य संगठित हो चुका था। सः (राजा) प्रजा का (अरज्यत) अनुरंजन करने लगा। अतः (राजन्यः) राज्य शक्ति (अजायत) उत्पन्न हुई।

वह (सम्बन्धून विशः) भ्रातृभाव से परिप्लावित प्रजा के लिए, (अन्नाद्य अभि उदतिष्ठत्) अन्न आदि का वितरण, प्रबन्ध करता रहा। तब उस पृथ्वी का ज्ञान बोध हुआ, जिस पर वे सब रहते थे। मनीषियों ने चिन्तन किया कि इस सीमा के चारों छोरों पर चार धाम (पवित्र स्थल) निर्माण करके इनसे परिवेष्टित भूमि की पूजापद्धति, सन्मान, व्यवस्था चलनी चाहिए तो लोग रक्त परक, संस्कृति-परक और पेशे-परक संगठनों में व्याप्त स्वार्थ से छुटकारा पा जावेंगे। अन्नादि की धर्स-रक्त-वर्ण-निर्पेक्ष आवश्यकताओं पर बल देने से, बृहत्तर संगठन के निर्माण के प्रयत्न, इस परिवर्तन में अपेक्षित हैं।

6.08.01 अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त

इस पूजा और स्तुति का लक्ष्य अथर्व वेद में पृथ्वी बनाई गई है। पूरे प्रकरण का नाम ही पृथ्वी सूक्त है जो कि काण्ड 12 के सूक्त एक में 63 मंत्रों में वर्णित है। प्रथम मंत्र यों है :

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षातयो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पुत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

इसमें उपोदघात है कि सत्य बृहत (फैलाव) ऋत (त्रिकालावधित प्राकृतिक कानून) ब्रह्म उग्रता दीक्षा (समिति का द्योतक) यज्ञ, (प्रवर का द्योतक), तपबल सब मिल कर पृथ्वी को धारण करते हैं। विख्यात पृथ्वी माता भूत (पूर्व की परम्परा भविष्य (उत्क्रामण) की रक्षा करती है, और हमारे लोक सदा विस्तृत करती है। हमारे आकाश को बृहत्तर बनाती है, क्योंकि वह सृष्टि के चौथाई क्षेत्रफल में व्याप्त है, यह देश प्रेम ही विस्तृत लोक-लोकान्तर प्रेम का कारण बनता है। आगे के मुख्य मंत्र यों हैं :

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यमिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ 3 ॥

(अ० 12-1-3)

(यस्यां) जिसमें समुद्र (उत) और (सिन्धुः) नदी तथा (आवः) जलाशय बहुत हैं, और (यस्यां) जिसमें (कृष्टयः) खेतियाँ (अन्नं) अन्न की (संवभूवः) उत्पत्ति करती हैं, (यस्यां) जिसपर (इदं प्राणत्) यह श्वास लेने और (सजत) हल-चल करने वाला प्राणिजात (जिन्वति) चलता फिरता है, (सा) वह (भूमिः) हमारी मातृभूमि में (नः) हमको (पूर्वपेये) अर्थात् समस्त खान-पान के पदार्थ (ददातु) देवे। यहाँ उत्पादन अभिप्रेत है।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथ्वी नो दधातु ।।5।।

(अ० 12-1-5)

(यस्यां) जिस मातृभूमि में हमारे (पूर्वे) प्राचीन (पूर्वजनाः) पूर्वजों ने वि-चक्रिरे) विविध कर्तव्य किये थे, और (यस्यां) जिसमें (देवाः) देवों ने (असुरात्) असुरों को (अभ्यवर्तयन्) हराया था। तथा जो (गवां) गौओं (अश्वानां) घोड़ों, (च वयसः) और पक्षियों का (विष्ठा) विशेष निवास-स्थान है, वह (नः पृथ्वी) हमारी मातृभूमि हमें (भगं) ऐश्वर्य और (वर्चः) तेज (दधातु) देवे ।

जिस मातृभूमि में हमारे प्राचीन पूर्वजों ने विविध प्रकार के पराक्रम किये थे, जिसमें देवों ने राक्षसों का पराभव किया था, वह हमारी आश्रयदात्री मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देने वाली होवे । यह पृथ्वी के साथ इतिहास का सम्मिलन है ।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ।। 6 ।।

(विश्वं-भरा) सब का पोषण करने वाली, (वसुधानी) रत्नों की खानों (प्रतिष्ठा) सबका आधार (हिरण्य-वक्षाः) जिसके अन्दर सुवर्ण है, (जगतः निवेशनी) प्राणियों का निवास करने वाली, (वैश्वा-नरं) सब मनुष्य समूह रूप (अग्नि) अग्नि का (बिभ्रती) धारण पोषण करने वाली और (इन्द्र ऋषभा) इन्द्र से जिस पर वृष्टि होती है ऐसी हमारी (भूमिः) मातृभूमि (नः) हमको (द्रविणे) धन धान्य और बल के बीच में (दधातु) रखे। यहाँ प्रवर पद्धति का, पृथ्वी से सम्मिलन है ।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणी विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथ्वीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ।। 11 ।।

हे (पृथिवि) मातृभूमि (ते) तेरे (गिरयः) पहाड़, (हिमवन्तो पर्वताः) हिम वाले ऊँचे पर्वत और (अरण्यम्) वन हमारे लिए (स्योनं) सुख दायक (अस्तु) होवें (बभ्रुम्) भरण-पोषण करने वाली अथवा सफेद मिट्टी वाली (कृष्णां) कृषित होने वाली अथवा काली मिट्टी वाली (रोहिणी) जिसमें वृक्षादि बढ़ते हैं ऐसी अथवा लाल मिट्टी वाली (विश्व-रूपां) सब प्रकार की (इन्द्र गुप्ता) वीरों से रक्षित (पृथ्वी) गति के कारण स्थिर, और (पृथ्वी) विस्तृत (भूमि) मातृभूमि का (अहं) मैं (अ-जीततः) अपराजित (अहतः) न मारा जाकर, (अक्षतः) व्रणादि रोग से रहित होकर (अध्यष्ठां) अधिष्ठाता-अध्यक्ष होता हूँ ।

यो नो द्वेषत् पृथिविः यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा
यो वधेन । तं नो भूमे रंधय पूर्वकृत्वरि ।। 14 ।।

हे (पृथिवि) मातृभूमि (यः) जो (नः) हमसे (द्वेषत्) द्वेष करें, (यः पृतन्यात्) जो हमारे ऊपर सेना चढ़ाये, (यः) जो (मनसा) मनसे (अभिदासात्) हमें दास बनाने का विचार करे, और (यः वधेन) जो वध से हमारे नाश का इच्छुक हो

हे (पूर्व-कृत्वरि) पूर्ण कर्मों में कुशल (नः) हमारी (भूने) मातृभूमि ! तू (तं) उसका (रंधय) नाश कर दे ।

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यैः हिरण्यवक्षसे पृथिव्यै अकरं नमः ॥ 26 ॥

(शिला) शिला, (अश्मा) पत्थर, तथा (पांसुः) धूलिरूप यह (भूमि) मातृभूमि है। (सा) उसका (सं-धृता) उत्तम रीति से धारण होने पर ही, वह (धृता) सुरक्षित होती है। (तस्यै) उस (हिरण्य-वक्ष से) अपने अन्दर सुवर्ण धारण करने वाली (पृथिव्यै) मातृभूमि के लिए मैं (नमः) नमन (अकरं) करता हूँ। वन्दे मातरम् संबोधन इसी का अनुवाद है ।

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमयिते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ 38 ॥

(यस्यां) जिस भूमि में (सदोहविर्धाने) सभा और अन्न के स्थान हैं (यस्यां) जिसमें (यूपः) यज्ञस्तंभ (निमीयते) खड़ा किया जाता है। (ब्राह्मणः) ज्ञानी लोग जिसमें (ऋग्भि...) ऋग्, साम और यजुः मन्त्रों से (अर्चन्ति) ईश्वर की उपासना करते हैं, और (यस्यां) जिसमें (ऋत्विजः) ऋतु के अनुसार यज्ञ करने वाले यज्ञ-कर्ता लोग (इन्द्राय पातवे) सुराज्य शक्ति के पाने के लिए (सोमं) आनन्द (युज्यन्ते) उपयोग करते हैं ।

हमारी मातृभूमि में परिषद् और सत्र तथा अन्न के स्थान बहुत हैं। जहाँ यज्ञ स्तूप खड़ा किया जाता है और जहाँ ऋक्, यजुः और साम मंत्रों से ईश्वर की उपासना की जाती है, और यज्ञों में जहाँ रस पान किया जाता है। यह आह्वनीय पद्धति का पुनः स्तवन है ।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं' कामयामहे ।
भगो अनु प्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ 40 ॥

(सा) वह (नः भूमि) हमारी मातृभूमि, (यत्धनं) जो धन हम (कामया महे) चाहते हैं, हमें (आ दिशतु) देवे। (भगः) धनवान् (अनु) पीछे से (प्रयुङ्त्काम) चले, और (इन्द्रः) राज्य शक्ति (पराभवः) अग्रगामी होकर (एतु) चले ।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मां पृथिवी कृणोतु ॥ 41 ॥

(यस्यां) जिस (भूम्यां) मातृभूमि में (व्यैलबाः) विशेष प्रेरणा करने वाले वीर (मर्त्याः) मनुष्य (गायन्ति) गाते हैं और (नृत्यन्ति) नृत्य करते हैं। (यस्य) जिसमें (आक्रन्दः) गर्जना करते हुए वीर लोग (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं, जिसमें (दुन्दुभिः) विजयगाथा का ढोल (वदति) बजता है। (सा पृथिवी भूमिः) वह हमारी विस्तृर्ण मातृभूमि (नः) हमारे (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रणुदतां) हटा देवें और

(मा) मुझे (अ-सपत्नं) शत्रुरहित (कृणोतु) करे कला और युद्ध दोनों की प्रवर्त्त-कता की ओर यहाँ संकेत है ।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ।। 43 ।।

(यस्याः) जिसके (पुरः) नगर (देवकृताः) देवता लोगों ने बनाये हैं (यस्या) जिसके (क्षेत्रे) खेतों में मनुष्य (वि कुर्वते) विविध कार्य करते हैं, उस (विश्वगर्भा) सब को गर्भ में धारण करने वाली (पृथिवीं) मातृभूमि को (प्रजापति) प्रजापालक (आशा माशा) प्रत्येक दिशा में (नः) हमारे लिए (रण्यां) रमणीय (कृणोतु) करें।

हमारी मातृभूमि में जो नगर है, वे सब इञ्जीनियर लोगों की परिकल्पना से बसाये हुए हैं। यहाँ सब मनुष्य विभिन्न प्रकार के उद्योग करके अपनी उन्नति का साधन करते रहते हैं वहाँ ग्राम्य (Rural) तथा नगरीय (Urban) दोनों व्यवस्थाओं पर नागरिक को नाज है । दोनों पूरक हैं ।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्र धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेवधेनुरनपस्फुरन्ती ।। 45 ।।

(वि -वाचसं) अनेक प्रकार की बोली बोलने वाले तथा (नानाधर्माणं) नाना प्रकार की धार्मिक मान्यता वाली (जन) मनुष्यों को (बहुधा) अनेक प्रकार से (यथौकसम्) एक ही घर में रहने के समान (बिभ्रती) धारण करने वाली (ध्रुवा) स्थित (पृथिवी) मातृभूमि (मे) मुझे (द्रविणस्य) धन की (सहस्रधाराः) सहस्र धारायें (दुहां) दुहने दे, जैसे (अनपस्फुरन्ती) निश्चल (धेनुः) गो दूध की धारा देती है ।

अनेक प्रकार की बोली बोलने वाले अथवा विविध आध्यात्मिक विचारों को धारण करने वाले, मनुष्यों को एक घर के परिवार के समान जो मातृभूमि हम सब को समान रीति से धारण कर रही है, वह मातृभूमि हम सबको अनेक प्रकार का धन देवे । मातृभूमि अवलम्बन पदार्थ बहुमत तथा अल्पमत दोनों को देती है ।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ।। 56 ।।

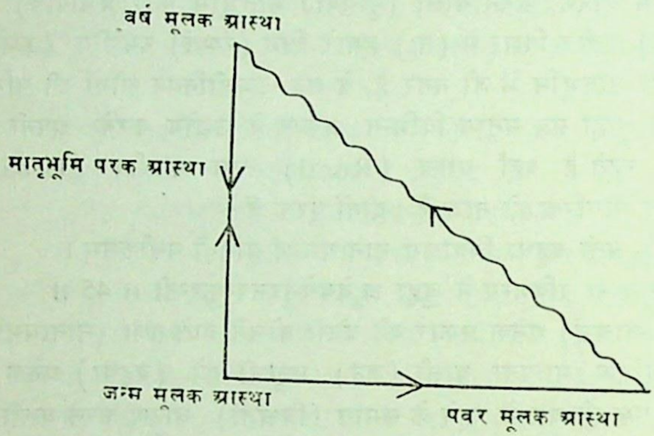
(ये ग्रामः) जो गाँव, (यत्अरण्यं) जो वन, (याः सभाः) जो सभायें (भूम्यां अधि) भूमि पर है, तथा (ये संग्रामाः) जो युद्ध होते हैं और जो (समितयः) समितियाँ (तेषु) उन सबमें (ते) तेरे विषय में (चारु) सुन्दर आदर युक्त (वदेम) भाषण करें, सभा समितियों की स्वाभाविक उत्क्रान्ति तत्रथ्य मातृभूमि प्रेम में निहित है ।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ।। 62 ।।

हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (ते प्रसूताः) तुझसे उत्पन्न, तेरे पुत्र हैं । अतएव (उप-स्थाः) तेरी गोद, आश्रय स्थान के सब पदार्थ (अस्मभ्यं) हम सब के लिए (अनमीवाः) आरोग्य कारक और (अयक्ष्माः) रोग रहित (सन्तु) होवें । (नः)

हमारी (आयुः) आयु दीर्घ होवे। (वयं) हम सब (प्रतिबुध्यमानाः) उत्तम ज्ञानी बनकर (तुभ्यं) तेरे लिए (बलिहृतः) अपनी बलि देने वाले (स्याम) होवें। यह जीवन मातृभूमि पर न्योछावर है, ऐसी प्रतिज्ञा का संकेत है।

नोट :—पृथ्वी सूक्त का श्रीपाद दामोदर सातवालेकर कृत अर्थ ही प्रायः उपरोक्त प्रकरण में अपनाया गया है, इस त्रैतात्मक अवसान को हम यों प्रगट कर सकते हैं :



(कृपया वर्ष के स्थान पर वर्ण पढ़ें)।

6.08.02 भारतभूमि की स्तुति

ऊपर जिस मातृभूमि-परक आस्था का आह्वान है—वह सार्वभौमिक प्रार्थना है। भारत में वेदों के प्रकटन के कारण, वह मात्र भारत भूमि की स्तुति या अर्चना में प्रयुक्त वर्णन नहीं है। उसमें सब रंगों की मिट्टी, सब प्रकार की ऋतुओं और सब प्रकार की वनस्पति और खाद्य पदार्थों का वर्णन है। हर देश के निवासी अपनी जन्म भूमि की प्रशंसा में, ऐसा भाव प्रकट कर सकते हैं।

हर देश के अन्तरोय वाङ्मय और महाकाव्य में उस देश की भूमि की प्रशंसा का स्रोत आ सकता हैं। भारत भूमि के संदर्भ में निम्न प्रसंग हमारी साधारण प्रतिज्ञा की पुष्टि करते हैं :

मातृभूमि का स्तवन

(1) नमो मात्रे पृथिव्यै

नमो मात्रे पृथिव्याऽइयं ते राड्यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा
रय्यै त्वा पोषाय त्वा। (यजु०: 9/22)

इसमें प्रथम बार पृथ्वी को माता कहा है। मातृभूमि शब्द का प्रादुर्भाव यजुर्वेद से है।

(2) वाल्मीकीय रामायण—लंका काण्ड में राम लक्ष्मण का यह प्रस्ताव निरस्त कर देते हैं कि लंका-विजय के बाद वहीं वास किया जावे। रामचन्द्र जी के मुख से रामायणकार कहलवाते हैं :—

यद्यपि स्वर्णमयी लंका तदपि न मे रोचते लक्ष्मण।
जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

[3) गायन्ति देवा: किल गीतिकानि धन्यास्तु भारत भूमि भागे
स्वर्गापवर्गास्पद मार्ग भूते भवन्तिभूय: पुरुषा: सुरत्वात् ॥
(विष्णुपुराण 2/3/24)

(स्वर्ग में बैठे देवता यह सदा कामना करते हैं कि चलो भारतभूमि में चलकर पुन: जन्म लें, जहाँ की भूमि ग्रपवर्गोन्मुख है, जिससे ग्रात्मा का कल्याण होता है)

(4) काशी, कांची, ग्रवन्तिकापुरी, द्वारावती, चैवसप्ता, मोक्षदायिका:।
त्रयाणामपि लोकानां तीर्थे मध्यममुदाहृतम्।
जाम्बवे भारतवर्ष तीर्थे त्रैलोक्ये विश्रुतम् ॥
(ब्रह्म पुराण 70/20)

(5) प्रथम प्रभात उदय तब गगने
प्रथम साम रस तव उपोवने
प्रथम प्रचारित तव भुवने
छन्द-काव्य रस कथा काहिनी।
(रवीन्द्र नाथ टैगोर)

(6) ऐ हिमालय ! ऐ फसीले किश्वरे हिन्दोस्तां।
चूमता है तेरी पेशानी को झुककर ग्रासमां।
ऐ हिमालय ! दासतां उस वक्त की कोई सुना।
मस्काने ग्रा जाये इन्सां जब बना दामन तेरा।
(ग्रल्लामा इकबाल)

6.08.03 दयानन्द सरस्वती का मातृभूमि से प्रेम

(1) वे पहले मनु ग्रध्याय 2 को उद्धृत करते हैं :—
ग्रासमुद्रात्तू वै पूर्वादासमुद्रात्तू पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं बिदुर्बुधा: ॥ 22 ॥
सरस्वती दृषब्दस्त्यो र्देवनधोर्थदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं र्देशमार्यावर्तं प्रचचक्षते ॥
इसकी व्याख्या महर्षि यों करते हैं :—

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल पूर्व ग्रौर पश्चिम समुद्र, पहाड़ से निकल के बंगाल के दक्षिण, ग्रासाम के पूर्व ग्रौर ब्रह्मा के पश्चिम से होकर दक्षिण के समुद्र में

मिली है, जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जा उत्तर के पहाड़ों से निकलकर दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक (में आकर) मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको आर्यावर्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त देव अर्थात् विद्वानों ने बताया है। और आर्य-जनों के निवास करने से, आर्यावर्त कहाया। आर्यावर्त से पहले इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों से पूर्व इस देश में बसते थे क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आदि काल में कुछ काल पश्चात् तिब्बत से सारे इसी देश में आकर बस गये थे।

(स० प्र० समु० 8 पृष्ठ 224-225)

2. (अ) सुसंस्कृति के प्रसार हेतु पूर्व काल में भी आर्य अपना सन्देश लेकर सौर मण्डल में चारों ओर गये थे। उनके गमन से पूर्व वहाँ असंस्कृत स्थिति थी। जिसके विषय में स्वामी जी लिखते हैं :—

"प्रश्न—कोई कहते हैं कि आर्य लोग ईरान से आये। इसी से इनका नाम आर्य हुआ। इससे पूर्व यहाँ जंगली लोग रहते थे। जिनको असुर और राक्षस कहते थे। आर्य लोग अपने को देवता बताते थे और उनका जब संग्राम हुआ, उसका नाम देवासुर संग्राम कथाओं में ठहराया।

स्वामी जी का उत्तर—

यह बात सर्वथा झूठ है क्योंकि :

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्यते रन्धया, शासदव्रतान्।

(ऋग्वेद 1/51/8)

एवं उद शूद्र उतार्ये (अथर्व० 19/62/1)

(इनका अर्थ करते हुए) यह लिख चुके हैं कि आर्य नाम धार्मिक विद्वान् आप्त पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम दस्यु, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है। तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, द्विजों का नाम आर्य और शुद्र का नाम अनार्य तथा अनाड़ी है। जब वेद ऐसे कहता है तो दूसरे विदेशियों कपोल कल्पित को बुद्धिमान लोग नहीं मान सकते। और देवासुर संग्राम में आर्यावर्तीय अर्जुन तथा महाराज दशरथ आदि, हिमालय पहाड़ में आर्य और दस्युम्लेच्छ असुरों का जो युद्ध हुआ था, उसमें देव अर्थात् आर्यों की रक्षा और असुरों के पराजय करने को सहायक हुए थे, इससे यही सिद्ध होता है कि आर्यावर्त (के) बाहर चारों ओर जो हिमालय के पूर्व, अग्निम, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम वायत्य, उत्तर ईरान्य प्रदेश में मनुष्य रहते हैं उन्हीं का नाम असुर सिद्ध होता है। क्योंकि जब-जब हिमालय प्रदेशस्थ लोग उन्हीं (आर्यों) पर लड़ने की चढ़ाई करते थे, तब-तब यहाँ के राजा-महाराजा लोग उन्हीं उत्तर आदि देशों में आर्यों के सहायक होते थे और जो श्री रामचन्द्र जी से दक्षिण में युद्ध हुआ था, उसका नाम देवासुर संग्राम नहीं है। किन्तु उसे राम-

रावण अथवा आर्य और राक्षसों का संग्राम कहते हैं। किसी संस्कृत ग्रन्थ में नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरान से आये और यहाँ के जंगलियों को, लड़कर, जय पाके, निकाल, इस देश के राजा हुए। पुनः विदेशियों का लेख, मान्य कैसे हो सकता है।"

(सत्यार्थ प्रकाश) समुल्लास 9/पृष्ठ 225/226)

इस विषय में स्वयं ऋग्वेद यों कहता है :

अहं भूमिमददाम आर्याय अहं वृष्टिं दाशुषेमर्त्याय,
अहमपो अनय वावशानाः मम देवासो अनुकेतुम आयन् ॥ (8/26/2)
यह भूमि मैंने आर्यों को दी है।

नोट—तिलक महाराज ने कहा था कि आर्य उत्तरी ध्रुव से आये थे। नये आविष्कारों से यह सिद्ध होता है कि सुमेरु प्रदेश भी चलायमान है। आदि सृष्टि में ध्रुव प्रदेश भारत में ही था।

हिमालयः मिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः।
अर्धयोजन विस्तारः पञ्चयोजनमायतः।
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुसप्तम पर्वतः।
ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विज सत्तम।

(हिमालय नाम पर्वत संसार में विख्यात है। वहाँ पाँच योजन लम्बा और आधा योजन चौड़ा एक स्थान है। इस घेरे में मेरु नाम का एक पर्वत है। वहीं पर आदि मानव की उत्पत्ति हुई।) मेरु के दक्षिण और मानसरोवर के ऊपरी भाग में प्रजा पर धर्म शासन करने वाले मनु का स्थान था।

इसमें यह प्रमाण है कि ब्रह्मा के पुत्र विराट, विराट का मनु, मनु के मरीच्यादि दक्ष, उसके स्वयंभुवादि सात राजा और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा जो आर्यावर्त के प्रथम राजा हुए, जिन्हों ने यह आर्यावर्त बसाया है .

(स० प्र० समु० 9/पृष्ठ 226)

इसी राष्ट्रप्रेम से प्रेरित होकर उन्होंने इसके उन्नयन हेतु आर्य समाज की स्थापना की थी :

"जो उन्नति करना चाहो तो आर्य समाज के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण स्वीकार कीजिये। नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा; क्योंकि हम सब को अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे भी होगा, उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें, इसलिए जैसा आर्य समाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता। यदि इस समाज को यथावत् सहायता देवें तो बहुत अच्छी बात है क्योंकि समाज का सौभाग्य बढ़ाना समुदाय का काम है, एक का नहीं।

—दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ प्रकाश-11 वां समुल्लास)

6.09 समाज की आठवीं उत्क्रान्ति और 9वीं स्थिति, चरम परिणति-राष्ट्र

6.09.01 राष्ट्रीयता से स्वराज्य प्राप्ति

हीगेल ने भी राष्ट्र के सृजन को समाज के अभ्युत्थान की अन्तिम कड़ी कहा है जिसमें उसके द्वारा वर्णित आत्मा का चरमोत्कर्ष सन्निहित है। उसके आगे विकास नहीं होता है। वह राष्ट्र को ही विश्वात्मा का रूप कहता है। अथर्ववेद ने तो क्रान्तियों हेतु उत्क्रान्ति शब्द प्रयुक्त किया है। वह उत्क्रान्ति यहाँ पर आकर विचार में बदल गई है। सभा, समिति, आमन्त्रण-पद्धति तो पराधीन राष्ट्रों में भी सम्मान्य है। वहाँ जब जन्मभूमि का प्रेम उत्पन्न होता है तब वहाँ राष्ट्रीयता जन्म लेती है। राष्ट्रीयता उत्पन्न होते ही वहाँ उद्बोध होता है "यतेमहि स्वराज्ये" (स्वराज्य के लिए उद्यम करो) इसमें ऋग्वेद की मानवों को अनुज्ञा यों है :

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥
म० 1 सूक्त-80-मंत्र 3 ॥

(आगे बढ़ो। कठिनाइयों से लड़ो। शत्रु को शस्त्र से भी पछाड़ो। विजय प्राप्त करके स्वराज्य की अर्चना करो।)

राष्ट्रीयता उत्पन्न देश पराधीन नहीं रह सकते। स्वराज्य शब्द वेद से लिया गया है।

6.09.02 स्वतंत्र राष्ट्र की नीति का प्रारम्भ

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराऽस्यभिमातिहा
जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यऽमित्रहा ॥ यजु० 5/24

इसमें राष्ट्रों को बदलती राष्ट्रनीति की विकासोन्मुखता का संकेत है।

(1) स्वराज्य से राजा-प्रजा पक्ष में शत्रुता का क्षय होता है।
(2) सत्र राज्य में पूर्व के विदेशी राजा के स्थान पर, विधान बनकर, उसकी गरिमा स्थापित की जाती है। उस सत्र के प्रति, सारे जनों को, उसकी अनुकूलता की शपथ लेनी होती है।
(3) फिर जनराज्य में प्रत्येक उस राष्ट्र की रक्षा के लिए तैयार किया जाता है।
(4) तब जाकर सर्व राज्य अर्थात् सत्य के उपकार एवं भरण-पोषण की योजनायें बनती हैं, पर वे होतीं सब के लिए हैं। एक वर्ग के लिए ही नहीं।

यहाँ स्वराज्य को राष्ट्र को सपत्नहा (असमानता) को नष्ट करने वाला भी कहा है क्योंकि एक राष्ट्र वाले राज्य में राज्य-पक्ष और प्रजा-पक्ष के हित समान हो जाते हैं। तब उस स्वराज्य में प्रजा का अनुरंजन होता है। दोहन समाप्त होने से श्री का उपभोग सब के लिए प्रस्तुत होता है। सभा समिति और मंत्रिमंडल से युक्त राज्य जब पृथ्वी का प्रेम लोगों में जागृत कर देता है तब अन्तिम उत्क्रान्ति अर्थात् उन्नतिशील कदम उठता है और उस स्थिति की संज्ञा राष्ट्र हो जाती है। राष्ट्र से ही राष्ट्रीयता

जन्मती है और सब संस्थाओं का एक व्यक्तित्व बन जाता है। इस स्थिति को ऋषि और सभापति ही ला उपस्थित करते हैं। वे अपने विचारों द्वारा प्रजा में योग्यता का सृजन करते हैं। इस परिवर्तन का उल्लेख भूमिका की अथर्ववेदीय साधारण प्रतिज्ञा वाले मंत्र 15/9/3 में है।

6.09.03 राष्ट्र की घटकों से अपेक्षा

(क) अभीवर्तेन मणिनायेनेन्द्रो अभिवावृधे।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभिराष्ट्राय वर्धय ॥ (अथर्व० 1/29/1)

ऐ राष्ट्र! ज्ञान युक्त (ब्राह्मण) का तू पति है। विजय-मणि जिसने प्राप्त की है वह भी तेरे अधीन है। धनधान्य की अभिवृद्धि करना तेरे ही लिए है। यह सब तेरे अभ्युत्थान हेतु समर्पित है। अर्थात् चारों वर्णों के श्रम से उत्पन्न सब कुछ राष्ट्र के अर्पण हैं।

मयि क्षत्रं पर्णमणेमयि धारयताद्रयिम्।
अहं राष्ट्रस्यामी वर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ (अथर्व० 3/5/2)

ऐ पर्णमयो! तू मुझ में क्षात्रबल (Military Drill) एवं रयि (ऐहिक सुख धन-धान्यादि) स्थापित कर। मैं राष्ट्र के हित के लिए उसके अभिवर्गों में उनका अपना बनकर रहूँगा।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन पर्ण मह्यं त्वम् सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥
(अथर्व० 3/5/6)

(धीवान, रथ कार तथा अन्य कर्मी और शिल्पी मिलकर राष्ट्र के निर्माण में बद्ध-परिकर हों।)

(ख) इस राष्ट्र के घटकों की निम्न बातें उभय निष्ठ होती हैं।

(1) उनके रक्त की एकता जो गृहपति के अनुशासन से प्रारम्भ होती थी। गृहपतियों का अनुशासन, गम्यागम्य की परिधि, वैवाहिक नियम और उत्तराधिकार के कानून।
(2) उनकी पूजा पद्धतियों की अक्षुण्णता जिनसे उनका दर्शन शास्त्र उभयनिष्ठ होता है।
(3) उनके उत्पादन संघों का अनुशासन और संगठन।
(4) उनका जन्मजात वर्गीकरण।
(5) उनकी सभा की पद्धति द्वारा निश्चय।
(6) उनके प्रभावकारी अंगों द्वारा समिति के रूप में कानून बनाने के विशेषाधिकार।
(7) सभापति (राजा) के चयन और निष्कासन की पद्धति और उसके पद की गरिमा।
(8) आमन्त्रण पद्धति की प्रयोगनीयता।

(9) निवास स्थल की विशालता, स्थिरीकरण और उसके प्रति प्रेम तथा उसके स्वातन्त्र्य का सतत उपभोग। इस अष्टचक्र नव द्वार दुर्ग का नाम राष्ट्र होता है।

> अष्टचक्रा नव द्वारा च देवानाम् पूरयोध्या
> तस्यां हिरण्यःकोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।
> तस्मिन् हिरण्ये कोषो त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते।
> तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥
> (अथर्ववेद 10/2/31-32)

आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली यह देव नगरी अयोध्या बसती है और तब इस नगरी (राष्ट्र) में सुवर्णमय कोष प्रगट होते हैं और यह महासुखदायक स्वर्गवत् बन जाती है। तीन अरों तथा तीन आरों वाले इस धनधान्य से पूर्ण राष्ट्र में यक्ष (राज्य शक्ति) रहती है। यह बात ज्ञान-चिन्तन से ही समझ में आती है।

6.09.04 राष्ट्र से उपलब्धियाँ

राष्ट्र बन जाने पर प्रजा में आ जाने वाले लाभों और गुणों का वर्णन यजु 10/3 एवं 10/4 में भी आया है।
वे गुण यों बताये हैं :

अर्थदा = धनधान्य की पूर्णता।
ओजस्वती = जनता में ओज।
आप परिवाहिणी (जलवत् सुखधारा वाली) व्यवस्था।
अपापति = शुभ्र विचार से भरा समाज।
अपां गर्भ = योजनापूर्ण निबंधन।
सूर्यत्वचसः = तेजवान् नागरिक।
सूर्यवर्चसः — वर्चस्वी नेतृत्व
मान्दाः = आनंदित प्रजा
वज्रक्षितः = संघबद्ध उत्पादन
वाशाः = सोद्देश्य रचना
शविष्ठाः = बलवान् नागरिक
शक्वरीः = सामर्थ्य युक्त प्रजा
जनभृतः = जनों का पोषण करना
विश्वभृतः = संसार का पोषण करना
स्वराजः = स्वतन्त्रतायुक्त

जब जनता में राष्ट्र भाव जाग्रत हो जाता है, तो वह परतन्त्र नहीं रह सकती।
मधुमतीः = मधुरभाषिणी
लम्बा होने से मन्त्र का उद्धरण नहीं दिया है, पर मन्त्र के हर विन्यास में निम्न

वाक्यांश बार-बार आया है :

राष्ट्रदा राष्ट्र मे दत्त स्वाहा

अर्थात् राष्ट्र बनने पर प्रजा में उपरोक्त गुण उत्पन्न होते हैं।

6.09.05 दयानन्द सरस्वती का मत

(क) अब (1875 ई० में) अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद परस्पर के विरोध से, अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या, आर्यावर्त से भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है (तत्कालीन देशी राज्य) (Princley States) सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुख भोगना पड़ता है।

कोई कितना ही कहे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।

(यह सम्भवत: अंग्रेजी राज्य को लक्ष्य करके कहा गया है)

नोट : कोष्ठक की भाषा हमारी है।

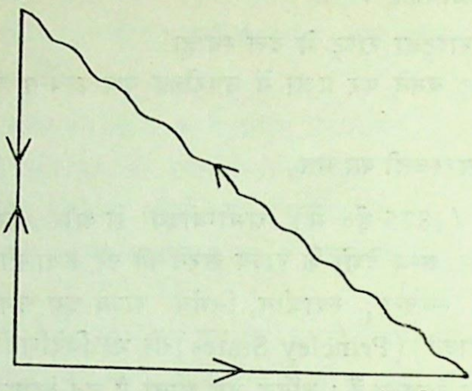
(स० प्र० समु० 9 पृष्ठ 227)

(ख) "जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग अव्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें तो सिवाय दारिद्र्य और दुख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।

(स० प्र० समु० 10 पृष्ठ 267)

(ग) "अब आर्य लोगों के जोकि आर्यावर्त देश में बसने वाले हैं, उनके मत का खण्डन तथा मण्डन का विधान करेंगे। यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसलिए इस देश का नाम स्वर्णभूमि है क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है, इसलिए सृष्टि के आदि में आर्य लोग इसी देश में आकर बसे। आर्यों से भिन्न मनुष्यों का नाम दस्यु है। जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते हैं, और आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है, जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूने के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

इस अध्याय में वर्णित साधारण प्रतिज्ञा के सिद्धान्त सूत्र रूप से निम्न त्रिभुज में प्रगट होते हैं।



6.09.06 **एक राष्ट्र में भिन्न-भिन्न धर्म**

आर्य परम्परा की एक विशेषता रही है । राष्ट्र (Nation) की परिभाषा में सुरो की मान्यता, अर्थात् ऐतिहासिक परम्परा (Mythological Dieties) के प्रति श्रद्धा तो शामिल है, पर एक बोली या एक आध्यात्मिक मान्यता उसके लिए अनिवार्य नहीं है। यहाँ एक बार पुन: अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त के 45 वें मन्त्र को उद्धृत करते हैं :

जनं विभ्रती वहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथ्वी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मेंदुहां ध्र्ुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥

(विवाचसं) अनेक प्रकार की बोली बोलने वाले तथा (नाना-धर्माणां) नाना प्रकार की धार्मिक मान्यता वाले (जन) जन मानस को (विभ्रती) धारण करने वाली (ध्रूवा) स्थिर (पृथ्वी) मातृभूमि (मे) मुझे नागरिक को (द्रविणस्य) धन या भोग्य पदार्थों को (सहस्र धारा:) सहस्रों प्रकार से (दुहां) दुहे—वे जैसे (अनपस्फुरन्ती) निश्चल (धेनु:) गौ दूध की धारा देती है।)

यहाँ मातृभूमि की उपमा गौमाता से दी गयी है। इसमें भिन्न-भिन्न बोली बोलने वाले प्रजाजन रहकर भोग प्राप्त कर सकते हैं। भाषा तो मूल सबकी एक संस्कृत है—बोली में भिन्नता, जलवायु परिवर्तन से ही हो जाती है। धार्मिक मान्यता से आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धी विचारों से तात्पर्य है। इसमें आर्ष दृष्टिकोण वृहत स्वतन्त्रता देता है। भारतवर्ष में दार्शनिक क्षेत्र से समय-समय पर भिन्न-भिन्न वाद प्रस्थापित हुए हैं और सभी प्रस्तुतकर्ताओं एवं उनके अनुयायियों ने पूर्ण नागरिकता के अधिकारों का सदुपयोग किया है। यद्यपि यह सत्य है कि दार्शनिक मान्यता से ही जीवन और समाज के प्राप्तव्य इष्टों का निर्माण होता है। पर चिन्तन की स्वतन्त्रता मनुष्य की स्वयं ईश्वर प्रदत्त धार्मिक स्वाधीनता का आवश्यक एवं अपरिहार्य अंग है। उन्हें मातृभूमि से अवलम्बन (Necessities) पदार्थ प्राप्त करने का अधिकार है। इसलिए इस देश में हद दर्जे की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता रही है। नास्तिकों तक के समुदाय बने व चले हैं।

पर राष्ट्र की परिभाषा में, जिन आठ चक्रों और नौ द्वारों का उल्लेख है, वे

ग्रावश्यक हैं। उनमें ग्रास्था न रखने से राष्ट्र के ग्रंश नहीं बन सकते। फिर तो दूसरे राष्ट्र के नागरिक (विदेशी) ग्रथवा निर्राष्ट्रीय (किसी भी देश के नागरिक न होना) हुए। ऐसी स्थिति वाले व्यक्ति किसी भी देश में रह तो सकते हैं, पर उन्हें वहाँ की नागरिकता के या उस देश की सभा समिति में जाने के ग्रधिकार नहीं हैं। ग्रस्तु यह ग्रावश्यक है कि विदेशी राष्ट्रीय या निर्राष्ट्रीय जनों को इस ग्रष्ट चक्रा ग्रौर नव द्वारा पुरी में जाँच होने पर ही भरती करने का दरवाजा खोला जाना चाहिए। निष्ठा की जाँच परमावश्यक है।

भारत में शक, हूण प्रभृति ग्रनेक विदेशी ग्रंश ग्राये, पर उन्होंने ग्रष्ट चक्र के ग्रनुशासन को मान लिया, तो वे इस राष्ट्र के ग्रंश हो गये। उन्हें ग्रपने देवी देवताग्रों ग्रौर ग्राध्यात्मिक विचार मानने की स्वतन्त्रता रही। यहाँ तक हुग्रा कि उनके देवी-देवताग्रों को, देशीय देवी, देवताग्रों की पंगत में स्वीकार कर लिया गया। उनके ग्राध्यात्मिक मापदण्ड भी उनके पास सुरक्षित हैं। पर जिन्होंने इन नव द्वारों में प्रवेश नहीं किया, व बलात् यहाँ बसे रहे हों, उन्हें ग्रन्न जल चाहे प्राप्त होता रहा हो—पर क्या वे इस राष्ट्र के ग्रंश हैं?

(01) **साम्यवादी रूस में धार्मिक ग्रल्पमत की समस्या का समाधान :** साम्यवादीय क्षेत्रों में ग्रल्पमतों का क्या हुग्रा? हम पहले रूस का उदाहरण देखेंगे। देखना होगा कि तत्रस्थ देशों के ग्रष्ट चक्र एवं नव द्वारों में न घुसने वाले मुसलमानों का क्या हुग्रा। उन्हें ग्राध्यात्मिक स्वतन्त्रता से भी वंचित कर दिया गया, उनकी मस्जिदें ढा दी गयीं ग्रौर उनका स्वतन्त्र ग्रस्तित्व नष्ट कर दिया गया।

समरकन्द (बुखारा) की प्रसिद्ध मस्जिद में जूते का कारखाना स्थापित है। उसके बाहर पत्थर लगा है। उस पर ग्रंकित है कि इस प्रांगण में ग्रब भोर होने से पहले कोई खुदा-खुदा चिल्लाकर प्रजा की नींद हराम नहीं करेगा, वरन् यहाँ मशीन की मधुर-ध्वनि के साथ उत्पादन होगा। जिससे प्रजा की ग्रावश्यकताग्रों की पूर्ति होकर उनके सुख की ग्रभिवृद्धि होगी।

साम्यवादीय दर्शन शास्त्र में ग्रास्था न रखने के कारण, रूस में निम्न भिन्न भाषा वाले मुस्लिम वर्गों का, वहाँ की सरकार ने विनाश कर दिया है।

(1) टर्कीय मुस्लिम (कराचायी एवं बाल्कन)

(2) ईटानियन (ग्रौसीशियन)।

(3) चेचन ग्रौर इन्गुशी।

(4) ग्रधान्यू (कार्सिका वाले) कावरडीन।

इनकी जनसंख्याग्रों की द्वितीय महायुद्ध के पहले तथा बाद की संस्थायें यों हैं। शेष को नष्ट कर दिया गया है। उन्हें जन्मभूमि से उखाड़कर, साइबेरिया में बलात् इवानसीरोब ने ले जाकर बसा दिया।

	जनसंख्या 1939 में	जनसंख्या 1960 में
1. चेचन	407690	275000
2. इन्गिशू	92074	50000
3. कालिमकखान	134271	70000
4. कराचाई	175737	65000
5. बाल्कन	42666	30000
6. क्रीमियन टारटार	2020000	273500

पहले काकेकश घाटी में इनकी स्वतन्त्र राज्य इकाइयाँ थीं।

उदाहरणतः (1) Chechan—Ingus Autonomous Soviet Socialist Republic अर्थात्-चेकन इन्गस गणराज्य।

(2) Cremean ASSR अर्थात् क्रीमियन सोवियत उपराज्य।

(3) काबरडीन बाल्कन सोवियट उपराज्य।

(4) कराचाई सोवियट-उपराज्य।

सन् 1946 तक यह सारे उपराज्य समाप्त कर दिए गये, और निकट के प्रान्तों के जिले बना दिए गये।

(02) **साम्यवादी चीन में मुसलमान और बौद्धों के धार्मिक अल्पमत की समस्या का समाधान** : चीन में सिन्कियाना, अन्तरीय मंगोलिया प्रभृति प्रान्तों में अल्पमतों की संख्या, कुल आबादी का 50% है, परन्तु अल्पमत के सारे प्रान्तों में चीनी बसा दिए गये हैं और सारी जनसंख्या को चीनी जनसंख्या से घुलाने-मिलाने का उपक्रम जारी है। 1966-70 के बीच रेड-गार्ड आन्दोलन बहुत उग्र हो गया था। चीनी युवकों ने 10 आदेश मुसलमानों को दिए थे।

(1) सारे इस्लामी संगठनों की समाप्ति की जावे।

(2) मस्जिदों को बन्द किया जावे।

(3) उसमें लगी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण।

(4) नमाज़, जुम्मा नमाज और रोज़ा पद्धति की समाप्ति, कुरान पढ़ने पर प्रतिबन्ध और उत्तर की ओर अभिमुख हो झुकना, कब्रों की पूजा करना, मुस्लिम बच्चों को कुरानीय नाम देना-रखना। इस सब कार्यों पर रोक लगा दी गयी है।

(5) मुर्दों को गाढ़ने के स्थान पर जलाने की प्रक्रिया का आरम्भ, और यदि गाढ़ना ही है तो अत्यन्त गहरा गाढ़ना और उसके ऊपर कबर का निर्माण न होने देना।

(6) शादी और मृत्यु पर के विशेष संस्कारों पर पाबन्दी।

(7) बकरों और पक्षियों की, धार्मिक रूप में, मुल्लाओं द्वारा बलि पर रोक,

ताकि वे दक्षिणा न पा सके। रमज़ान के पर्व की समाप्ति।

(8) किसी मकान या दुकान पर विशेष प्रकार का चिह्न प्रवेश द्वार पर न लगाना।

(9) धूप जलाने और कुरान रटने पर प्रतिबन्ध।

इसी प्रकार तिब्बत में बौद्धों के मठादि भी ध्वस्त कर दिए गये हैं। उनकी पूजा-पद्धति (लामा-पद्धति) नष्ट हो गयी है। पूजा और बुद्ध का नाम रटने पर भी प्रतिबन्ध है। उनके वस्त्रादि का रंग तक बदल दिया गया है। लामाओं से सड़कें कुटवाने का काम लिया गया है। चीनी लड़कों से वहां की युवतियों का विवाह कर दिया गया है।

(13) **आर्य राष्ट्र में नागरिकों से इतर प्रजाजनों के अधिकार** : इन दो उदाहरणों के उल्लेख का प्रयोजन यह दिखाना है कि आर्ष परम्परा में जो धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों की स्वतन्त्रता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। हाँ रूस में मुस्लिम-विध्वंस का कारण, द्वितीय महायुद्ध में मुसलमानों द्वारा युद्ध-प्रयत्नों में भाग न लेना, बताया गया था। पर मस्जिदों में फैक्ट्री बनाना तो नीति-वश नहीं है।

इन प्रयत्नों से जितना अंश राष्ट्रीय धारा (अष्ट-चक्र एवं नव द्वारों) में सार-गत करने का है, वह तो श्लाघ्य है, हर राष्ट्र को करना होता है।

हो सकता है, कुछ लोग राष्ट्र धारा में न घुलना चाहें, पर उन्हें भी प्रजाजन की भाँति दूसरे राष्ट्र में रहने का सगौरव अधिकार है, पर उन्हें नागरिकता के वे अधिकार नहीं मिल सकते जो उन्हें शासन यन्त्र में भाग देते हैं और इनमें से भी जो बिल्कुल कट्टर हों और यदि उनकी संख्या अधिक हो तथा बाहरी सीमा के एक अंचल में एकत्रित हों तो उन्हें पृथक् राष्ट्र बनाने का भी अधिकार है। यदि यह सम्भव न हो तो वे किसी भी दूसरे राष्ट्र में जाकर बस सकते हैं, जो उनके अष्ट-चक्रों (अनुशासनों) के अनुकूल हो या सन्निकटतर हो। जो वृहत्तर राष्ट्र के अष्ट-चक्र अनुशासन और नव द्वारों में प्रवेश नहीं करना चाहते, उन पर ज़ोर-ज़ुलम और हिंसा नहीं की जा सकती, यदि वे उपरोक्त 3 में से कोई मार्ग अपनाते हैं। क्योंकि कहावत है कि राष्ट्र (nationonaleism) तो सब बातों का राष्ट्रीयकरण करता ही है। हाँ मात्र दार्शनिक चिन्तन इसका अपवाद है, क्योंकि उसमें ज़ोर-ज़बर करने से मनुष्य जाति का उन्मुक्त-चिन्तन अवरुद्ध हो जायेगा और वह पतन का पथ होगा। पर हर दर्शन-शास्त्र के प्रणेता और अनुगामी को अपने दर्शन का प्रचार-प्रसार और सम्वर्धन अहिंसक रीति-नीति से करने का स्वातन्त्र्य होना चाहिए। वेद की यही अनुज्ञा है। दयानन्द सरस्वती ने कहा था—सत्य को ग्रहण और असत्य के त्यागने को सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

6.09.07 राष्ट्र के निर्माण में भाषा और लिपि का महत्त्व

आर्य उन्हीं को कहते हैं जो संस्कृत भाषा-भाषी हैं। हरेक राष्ट्र की एक भाषा होती

है। वेद में किन्हीं स्थलों पर तीन देवियों का वर्णन है।

इड़ा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयी भुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः। (ऋग्वेद 1/13/1)

(इड़ा-मही और सरस्वती नामक तीन देवियों (भुवः) संसार में (मयों) ऐहिक ऐश्वर्य लाती हैं। ये तीनों किसी राष्ट्र में (अस्रिधः) न भूलते हुए (सीदन्तु) सदा विराजमान रहे।)

इडा-मही और सरस्वती।—इनसे ही किसी राष्ट्र की निर्माण शिला रखी जाती है। इड़ा तो संस्कृति और विरासत है। मही वहाँ की भूमि है और सरस्वती वहाँ की भाषा है। भाषा से तात्पर्य लिखित साहित्य के माध्यम से और उसके व्याकरणीय अनुशासन से है, बोली से नहीं।

भाषा बोलचाल में जलवायु के भेद के कारण, थोड़ी-थोड़ी दूर पर उच्चारण में बदलती रहती हैं। भारत में गोरखाली, पंजाबी, खड़ीबोली, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, बंगाली, असमियाँ, उड़िया, तैलेगु, मलयालम, कन्नर, मराठी, गुजराती प्रभृति सब बोलियाँ ही हैं। पर उनका शब्द भंडार 90% संस्कृत का है। लिपि भी ब्राह्मी लिपि का यत्र-तत्र परिवर्तित रूप है। व्याकरण पर साधारणतया संस्कृत व्याकरण का साम्राज्य है। उनके साहित्य में कथासार, वाङ्मय, कहावत, उपमा, उपमान, ऐतिहासिक उद्धरण, क्रिया-कलाप और कर्म-कांड वर्णन सब का एक ही स्रोत, वेद-ब्राह्मण उपनिषद और महाकाव्यों से है। अतः उनमें साम्य और एकरूपता है। वस्तुतः भारत की दृढ़ राष्ट्रीय एकता का यही एक कारण है, जो उसके एकत्व को कभी स्वेच्छया नष्ट नहीं होने देगा।

सारे संघीय राज्य अपने-अपने क्षेत्रों में एक राष्ट्रीय भाषा का चलन करते हैं। रूस के विशाल साम्राज्य और अन्तर्गत राज्यों में रूसी, चीनी गणराज्य के सब भागों में चीनी, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ब्रिटेन के भूभाग में अंग्रेजी अनिवार्य है। इधर निकटवर्ती पाकिस्तान संघ ने पूर्वी बंगाल में संघ भाषा उर्दू का अनिवार्य चलन न करके घोर गलती की उसके कारण उनका संघ छिन्न-भिन्न हो गया। राष्ट्र भी बँट गया। एक राष्ट्र के लिए, एक उद्गमीय भाषा की महान् आवश्यकता है। पर ध्यान रहे कि जलवायु-प्रणीत बोलियों की स्वतन्त्रता अविच्छिन्न रहनी चाहिए।

धार्मिक सन्त, ब्रह्म देश से संस्कृत का ज्ञान लेकर, आसेतु हिमालय, इस देश के हर अंचल में जाकर बैठ गये। वहाँ की जलवायु से, जो कुछ उच्चारण भेद होता था उसके आधार पर उन्होंने संस्कृत को बदला और वेदोक्त वाङ्मय व दर्शन उस भाषा में लिखा। भाषार्थ से, उपमानों से, लोक-कथा और रूपक से, वहाँ की भाषा में उसे वर्णित कर दिया। आज, पीढ़ी दर पीढ़ी, हम वही सब कुछ पढ़कर अपनी महत्त्वाकांक्षा तथा अपने मूल्य निर्धारित करते हैं। वे सन्त ही इस देश की एकता के आदि निर्माता थे।

इसका एक ही व्यतिक्रम है, वह है तमिल भाषा जिसका निकास संस्कृत से

नहीं है। विद्वानों ने इसको पाणिनि से पूर्व का माना है। तोल्गाप्पियम ग्रन्थ में तमिल पद का प्रयोग हुआ है। भाषा का नामकरण इसी पर आधारित है। इस भाषा के बोलने वालों की संख्या 1971 में लगभग तीन करोड़ थी। तमिल भाषा भी संस्कृत के शब्दों का विशेष आदर तथा लगन के साथ स्वागत करती है और करती थी और उन्हें अपनी प्रकृति के अनुकूल आवश्यक परिवर्तन के साथ आत्मसात् कर लेती है। तमिल का वह संस्कृत अंग (ध्वनि योजना) अविभाज्य बन गया था।

6.09.8 राष्ट्र के निर्माण में आर्यों के द्वारा निर्मित ब्राह्मी लिपि का भी विशेष योगदान है, जिसे ओझल नहीं किया जा सकता। यह लिपि प्राचीन काल में भारत में प्रचलित थी। ब्राह्मी एक प्रकार से राष्ट्रीय लिपि थी। इसका प्रचार पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़कर समस्त भारत में था। यह बायें से दायें लिखी जाती थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश की खरोष्ठि लिपि आर्य लिपि नहीं है। पश्चिमोत्तर प्रदेश में प्रयुक्त ईरानियों की भारत विजय के बाद उनकी अरमण्डक लिपि में यहाँ के विद्वानों ने नये अक्षरों की योजना कर मामूली पढ़े-लिखे लोगों के लिए काम-चलाऊ लिपि (खरोष्ठि= गधे के होंठ वाली) बना दी थी। उसमें ह्रस्व स्वरों की मात्राओं का प्राविधान भी किया गया था। यह दाँये से बाँये लिखी जाती थी। इस लिपि का पश्चिमी भारत में तीसरी शती ई० पूर्व से तीसरी शती ईस्वी तक प्रचार रहा।

तीसरी शताब्दी के बाद उस प्रदेश में भी ब्राह्मी का व्यवहार होने लगा। मध्य तथा आधुनिक काल की समग्र भारतीय लिपियों का विकास राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से हुआ है। आज यह पूर्णत: निश्चित है कि ब्राह्मी भारत की मौलिक लिपि है। यह भारतवर्ष के आर्यों का अपना मौलिक आविष्कार है। इसका कर्ता ब्रह्मा माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा है। ब्राह्मी लिपि 350 ई० तक प्रचलित रही है। उस समय उत्तर तथा दक्षिण में इसके रूपों में अन्तर आ गया था। मलयालम आदि भाषाओं की लिपियों का सम्बन्ध ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शैली से है। उत्तरी भारत में 400 ई० में इसका नाम गुप्त लिपि पड़ा।

गुप्त-लिपि के विकसित रूप का कल्पित नाम कुटिल-लिपि (स्वरों की कुटिलाकृति) रखा गया। इसका प्रचार छठी से नवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में रहा। इसी लिपि से काश्मीर की प्राचीन लिपि शारदा, जो वर्तमान कश्मीरी, टाकरी, गुरुमुखी लिपियों की जननी है, निकली। कुटिल लिपि से ही प्राचीन नागरी का विकास हुआ। इसकी पूर्वीशाखा से 10वीं शताब्दी में प्राचीन बँगला लिपि निकली, जिससे आधुनिक बँगला, मैथिली, उड़िया तथा नैपाली लिपियों का विकास हुआ। नागरी से ही गुजराती, कैथी तथा महाजनी लिपि निकली हैं।

नागरी लिपि का प्रयोग उत्तर भारत में 10वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिलता है, किन्तु दक्षिण में इसका प्रयोग 8वीं शताब्दी में भी पाया जाता है। वहाँ इसका नाम नंदि नागरी है। राजस्थान, संयुक्त प्रान्त तथा मध्यभारत व मध्य प्रान्त के इस काल के लिखे समस्त शिला-लेख, ताम्र-पत्र आदि नागरी लिपि में ही पाए जाते हैं।

देवनागरी लिपि का भारतीय एकता में योगदान : किसी भी देश की संस्कृति को अक्षुण्ण रखने के लिए लिपि का स्थान सर्वोपरि है। प्रत्येक स्वाभिमानी देश अपनी संस्कृति को अजर-अमर बनाने के लिए सर्वप्रथम लिपि समस्या को हल करता है। जनसंख्या की दृष्टि से विश्व का सबसे बड़ा देश चीन अपनी जातीय और सांस्कृतिक एकता के लिए बहुत कुछ एक ही लिपि पर अवलम्बित रहा है। भारतीय लिपियों की एकात्मकता वाली प्रेरणा ने यहाँ को सांस्कृतिक एकता को दृढ़ बनाने में अपूर्व योग दिया है।

राजस्थान से लेकर मिथिला तक का समाज इसका प्रयोग करता है। हिमालय की तलहटियों में निवास करने वाली जातियाँ भी प्राय: देवनागरी का उपयोग करती हैं। बँगला, उड़िया, गुजराती और गुरुमुखी आदि लिपियाँ देवनागरी लिपि से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। महाराष्ट्र में भी कुछ अक्षरों के भेद को छोड़कर देवनागरी लिपि को ही प्रधानता मिली है। सभी भारतीय भाषाओं का आदान-प्रदान सरल पद्धति से देव नागरी लिपि द्वारा ही सम्भव है।

6.09.09 दयानन्द सरस्वती का मत

परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा पृथक्-पृथक् शिक्षा अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इस (विरोध) के छूटे परस्पर का उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना ही कठिन है। इसलिए जो कुछ वेदादि शास्त्रों में व्यवस्था व इतिहास लिखा है, उसी का मान्य करना भद्र पुरुषों का काम है। (स० प्र० समु० 9 पृष्ठ 227)

6.09.10 रूसो के मत से तुलना

रूसो (1712-1792)—धार्मिक असहिष्णुता अत्यन्त हीन वस्तु है। सहिष्णुता के उद्बोध के कारण एक राष्ट्र में विभिन्न धर्म वालों का सह अस्तित्व सम्भव है। पर सामाजिक नियमों को जो न माने, राज्य उन्हें देश से निकाल दे। ऐसा विधान रूसो ने रखा था। आगे चलकर वह कहता है कि जो सामाजिक नियमों को मानने की घोषणा तो करे पर दैनिक क्रिया-कलाप में उनकी अवहेलना करें, उन्हें मृत्यु दण्ड तक दिया जा सकता है। क्योंकि नागरिकता इन्हीं सिद्धान्तों पर ठहरी हुई है। यह खेद है कि रूसों की बात किसी योरुपीय शक्ति ने नहीं मानी। वहाँ कहीं तो चर्च ने राजशक्ति के विरुद्ध बगावत की और कहाँ एक धर्म वालों ने दूसरों को रौंदकर रख दिया।

रूसो दोनों प्रकार के मतान्धों पर राज्यशक्ति द्वारा प्रहार करना अति आवश्यक बताता है।

(Social Contracts Book IV, Chapter VIII)

7

मातृभूमि से लोक अर्थात् राष्ट्र का समूह

अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में राष्ट्रभूमि की पृथ्वी कहकर वंदना की गई है । पहले प्रतीत होता था कि यह पृथ्वी हमारी यह (Earth) सम्पूर्ण पृथ्वी है । परन्तु एक के बाद एक मंत्रों में पूर्व पुरुषाओं, उनके कार्यों तथा राष्ट्रीय परम्पराओं का वर्णन होने लगा, तब प्रतीत हुआ कि ये इस रूप में प्रस्तुत हैं कि हरेक घटक उन्हें अपने देश (मातृभूमि) के रूप में प्रयुक्त कर सके ।

पर प्रथम मंत्र ही में यह सतर्कता, बरती गई है कि मातृभूमि की इस वन्दना का उद्देश्य वर्णन कर दिया गया है । हम उस मंत्र के अर्थ को पुनः उद्धृत करते हैं :

[सत्य, विशालता, ऋत, दीक्षा, यज्ञ और तपोबल मिलाकर पृथ्वी (राष्ट्र) को धारण करते हैं । यह विख्यात पृथ्वी माता भूत व भविष्य की रक्षा करती है । और हमारे लोक सदा विस्तृत करती है ।]

राष्ट्रीयता विकासोन्मुख है । उसमें भविष्य भी छिपा है । अर्थात् इस अन्तिम Synthesis) ज्ञानमय चिन्तन (यो यं वेद) के बाद भी भविष्य का कुछ पुरोगम होता है । "उक्थं, प्राणो वै उक्थं ।" ऐसा छान्दोग्य के अध्याय 30 में कहा है । जीवन का चिह्न बढ़ना है । कूप-मण्डूक राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं । जैसे शरीर में दो सिर नहीं हो सकते वैसे ही एक राष्ट्र में दो प्रभु-सत्ताएँ नहीं हो सकती । उसी प्रकार संसार में दो प्रमुख राष्ट्र नहीं हो सकते, क्योंकि निखिल ब्रह्माण्ड में दो ईश्वर नहीं हो सकते । अतः किसी एक राष्ट्र को बलशाली होकर अन्य राष्ट्रों से वरीयता प्राप्त करनी चाहिए । इस वरीयता का ध्येय धर्म-चक्र प्रवर्त्तन है—अर्थात् धर्म की संस्थापना । अशोक ने धर्म-चक्र का प्रारूप निर्माण किया था । चक्र, विष्णु का हथियार कहा गया है । चक्र

का अर्थ है—निर्बाध घूमने वाला यन्त्र। इस लोक-विस्तार के लिए तीन माध्यम अर्थात् पद्धतियाँ हैं।

7.01 प्रथम पद्धति : राष्ट्रों या राज्यों में सान्ध-विन्यास

दुर्बल राष्ट्र सबल राष्ट्रों से अपनी सुरक्षा के आश्वासन प्राप्त करने के अभिप्राय से सन्धि करते हैं। ऋग्वेद 1/36/18 में उपमा देकर यदु, तुर्वसु एवं उग्रदेव की सन्धियों का उल्लेख है। यह सन्धियाँ अग्नि को साक्षी देकर की गई थी। तुर्वसु का यौगिक अर्थ है शत्रु का निग्रह।

कतिपय सबल राष्ट्र दोहन और परोत्पीड़न के लिए भी मिलकर दुरभिसन्धि करके दुर्बल राष्ट्रों की भूमि, प्रभुसत्ता, किंवा आय-स्रोतों का बन्दर बाँट कर लेते हैं। पर यह तो इस प्रक्रिया का व्यतिरेक है।

महाभारत शान्तिपर्व श्लोक 81/3 में 4 प्रकार के मित्र बताये हैं :

(1) जिनका उद्देश्य एक ही हो।

(2) जो अपनी सुरक्षा हमारे माध्यम से चाहते हों।

(3) प्राकृतिक मित्र।

(4) जिन्हें धन, शक्ति, वैभव या वाणी से अपने वश में कर लिया गया हो।

मनुस्मृति 7/54 एवं 111 में मित्रों के प्रकार यों गिनाये हैं :

(1) अरि मित्र (Friend of Enemy)

(3) मित्रारि

(3) प्रसनिग्रह

(4) आक्रेड

(5) मध्यम उपसीन

लोक विस्तार की इस पद्धति को (International Diplomacy) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहेंगे। कौटिल्य ने मित्रा-मित्रों के समूह को बारह प्रकारों में बाँटा है। उस पद्धति का सामूहिक नाम मण्डल-सिद्धान्त है।

7.02 दूसरी पद्धति
(राष्ट्र के प्रमुख पुरुषों के विवाहादि रक्त सम्बन्ध)

यह पद्धति एक देश के प्रमुख राष्ट्र-पुरुषों द्वारा अन्य राष्ट्र प्रमुख के परिवारों में विवाहादि द्वारा निकटता लाने की है। भारतवर्ष में यह एक परम्परा सी थी कि ऊपर का चक्रवर्ती राजा आश्रित-प्रमुखों के परिवारों की कन्याओं से विवाह कर लेता था। इस का वर्णन अब से 2400 वर्ष पूर्व भी दिखाई देता है जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिकन्दर के भारत स्थित उपराज प्रमुख सिलूकश को युद्ध में परास्त करके उसकी कन्या हेलेना से स्वेच्छया प्रेरित विवाह-प्रस्ताव स्वीकृत किया था। पर इसमें विवशता की बात अग्राह्य है। वैवाहिक सम्बन्धों की प्रक्रिया राजतन्त्र की समाप्ति तथा प्रजातन्त्रों के उदय के

कारण समाप्त-सी हो गई लगती है। पर वास्तव में तथ्य यह बताते हैं कि प्रजातन्त्र में जो प्रजाजन उभरते हैं, वे लगभग सारे जीवन राजनीति और राजनैतिक पदों पर चिपटे रहते हैं वे ऐसा भी उपक्रम करते रहते हैं कि अन्य नेता उनके समकक्ष न होने पावें और वास्तविक शक्ति की लक्ष्मण रेखा के वृत तक तो आ जाये पर उसको तोड़-कर उस परिधि में प्रवेश न कर सके। पार्टियों की व्यूह-रचना इसी प्रकार की जाती है कि मुख्य (प्रमुख) अपनी सन्तान को ही उत्तराधिकारी बनाने का वातावरण प्रस्तुत कर सके। स्वयं बर्तानियों की प्रजा-तन्त्र पद्धति में एक ही परिवार की तीसरी पीढ़ी तक मंत्री-गण चुनाव की परिपाटी द्वारा भी आ सके हैं, जोकि एक करिश्मा लगता है। रूस, चीन, भारत, अमेरिका—सर्वत्र यह प्रक्रिया देखने को मिलती है। अतएव इन प्रमुख परिवारों में वैवाहिक सम्बन्ध राष्ट्रों के धुरीकरण के मार्ग को प्रशस्त कर सकते हैं ही।

इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यों लिखा है :

"देखो काबुल, कन्धार, ईरान, अमेरिका, योरुप आदि देशों की कन्या गान्धारी माद्री, उलोपी आदि के साथ आर्यावर्त्तदेशीय राजा लोग विवाह आदि व्यवहार करते थे। उस समय सर्वभूगोल में वेदोक्त एक मत था।

(स० प्र० समु० 10 पृष्ठ 274)

"(धृतराष्ट्र का विवाह गांधार जिसको कन्धार कहते हैं, वहाँ की राजपुत्री से हुआ। माद्री-पाण्डु की स्त्री, ईरान के राजा की कन्या थी और अर्जुन का विवाह पाताल में जिसको अमेरिका कहते हैं—वहाँ के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था। जो देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर में न जाते होते तो यह सब बातें क्यों कर हो सकती हैं।")

(स० प्र० समु० 10 पृष्ठ 267)

7.03 तीसरी पद्धति (विजय द्वारा)

यह पद्धति दूसरे राष्ट्रों को जीत कर उन्हें आत्म-सात् करने की है, जो निकृष्ट पद्धति है। परन्तु वहाँ भी वृहस्पति स्मृति 2/34 आज्ञा देती है कि विजेता विजित राष्ट्र की परम्परायें और कानून ही चालू रखें। अर्थशास्त्र 13/5/400 एवं 409 में चाणक्य यह सम्मति देते हैं कि विजेता को चाहिए कि वह विजित राष्ट्र की जीवन-पद्धति, आच्छादन-पद्धति, बोली व भाषा तथा रीति-रिवाज और पर्व संस्कार ही अपना लें और सदा धर्म की वृद्धि करें। परन्तु आर्य परम्परा में एक राष्ट्र द्वारा, दूसरे राष्ट्र को दबोचने और आत्मसात् करने की आज्ञा कहीं नहीं है। इस निषेधाज्ञा, अनुज्ञा का स्रोत स्वयं वेद हैं :

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्रमावते।
सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे।। (ऋग्० 1/8/9)

ऐ (इन्द्र) राज्य शक्ति ! संसार में जो तेरी विभूतियाँ हैं वे निश्चय पूर्वक (दाशुषे)

आश्रितों की रक्षा तथा (ऊतये) उत्थान के लिए अविलम्ब विद्यमान रहती है।

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयंवावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥

(ऋग्० 4/26/2)

(अहं) मैंने (आर्याय भूमि अददाम्) आर्यों को जो भूमि प्राप्त कराई है (वृष्टि दाशुषे मर्त्याय अददाम) आश्रितों के लिए वैधानिक प्रक्रियादि से वर्षादि कराने के लिए दी है। (अहं अपः अनयं बावशानः) मैं विजेता इन नागरिकों को पेय जल भी प्राप्त कराऊँगा। बशर्ते (मम केतु अनु आयनं) यह मेरे झंडे के नीचे बने रहें।

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः।
विश्वा वसूनि दाशुषे व्यानुशः ॥

(ऋग० 8/12/21)

(अस्य) इस विजेता की (प्रणीतयः महीः) न्याय, नियम तथा व्यवस्थायें महान् हैं (उत) और (पूर्वी) सनातन हैं। (अस्य प्रशस्तयः) इसका अनुशासन भी महान् है। (दाशुषे) आश्रितों को लाकर (विश्वावसूनि) विश्व से भोग्य पदार्थ लाकर (व्यानुशः) उनके लिए जुटाना इसका कर्तव्य है।

पर ध्यान रहे हर पराधीन जनता को 'यतेमहि स्वराज्ये' का अधिकार है। और जैसे ही उसमें राष्ट्रीयता का उदय हो जावे, प्रभुसत्ता सौंप देना चाहिए केवल धर्म-चक्र प्रवर्तन के अधिकार सुरक्षित रखने चाहिए।

7.04 चौथी पद्धति (धर्म-चक्र-प्रवर्तन)

यह है कि राष्ट्र समूहों में से कुछ या एक राष्ट्र चक्रवर्ती हो जावे। उसके अनुशासन का चक्र उस परिधि में निर्बाध घूमे। इसका उदाहरण महाराज कृष्ण द्वारा युद्ध आयोजन और उसकी समाप्ति पर किया अश्वमेध था। इसके उपरान्त स्थापित चक्रवर्ती राज्य में स्थानीय क्षेत्रों को अन्तः स्वराज्य प्राप्त था और वे बलि (कर) ही पाण्डवों को प्रतीक रूप से देते थे। अश्वमेध यज्ञ के कर्त्ता को सार्वभौम (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 20/1/1) भी कहते थे। जितनी परिधि में सम्राट का चक्र घूमे वह उसकी सीमा होती थी। चक्र सूर्य का प्रति रूप है जो पृथ्वी के चारों ओर अथवा पृथ्वी जिसके चारों ओर घूमती है। सूर्य का सारी पृथ्वी पर साम्राज्य है। ऋग्वेद 6/24/3 तथा 10/89/4 में दो ग्रहों को रथ के दो पहिया बताया गया है जिनकी धुरी इन्द्र अर्थात् राज्य-शक्ति है। अश्वमेध यज्ञ की प्रक्रिया शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/8 में यों वर्णित है :

(यज्ञ में चावल की खीर बनाई गई, जिसे सब पुरोहितों ने खाया। राजा ने 4000 गौएँ तथा 400 स्वर्ण मुद्रायें उन्हें दान में दीं। राजा और राजमहिषी ने ईश्वर स्तुति की। सन्ध्या समय यज्ञ हुआ। राजा अपनी पत्नी के पास पूरी रात्रि ब्रह्मचर्य-

पूर्वक बैठा रहा। दूसरे दिन एक हृष्टपुष्ट घोड़ा लाया गया। उसके साथ 100 घोड़ और थे। इनके साथ राजा की सेना थी। यह घोड़े और सेना एक वर्ष दिग-दिगान्त में घूमे। जो छोटे राज्य इन्हें अपनी सीमा में निर्बाध जाने देते थे, यह समझा जाता था कि वे उस सम्राट् के धर्म-चक्र के अंग बन गए। जो उन्हें रोकते थे, उनसे युद्ध होता था। लौटने पर घोड़े को सजाकर उसका जलूस निकालते थे।)

यह एक अहिंसक प्रथा तब तक थी जब तक उस सम्राट का दमदमा छोटे राष्ट्र मानते थे, क्योंकि इसका उद्देश्य धर्म चक्र प्रवर्त्तन था। बदले में प्रतीकात्मक कर मात्र देना होता था। ऋग्वेद 10/7/3/6 में इन्द्र (राज्यशक्ति) को आदेश है कि इन विभिन्न राज्यों (राष्ट्रों) से कर प्राप्त करे। यह आवश्यक है कि धर्म की स्थापना के लिए एक बड़ा राष्ट्र सारे संसार में न्याय की स्थापना का भार ग्रहण करे। अन्तर्राष्ट्रीय कानून सदेच्छा मात्र से नहीं चल सकता। उसके पार्श्व में शक्ति होनी चाहिए। आर्ष प्रणेताओं ने इसीलिए इस अश्वमेध यज्ञ की प्रक्रिया बनाई थी।

05 दयानन्द सरस्वती का मत

"और जब महाराज युधिष्ठर ने राजसूय यज्ञ किया था। उसमें सब भूगोल के राजाओं को निमन्त्रण देने के लिए अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं को गये थे। सो प्रथम आर्यावर्त्तदेशीय लोग व्यापार, राजकार्य और भ्रमण के लिए सब भूगोल में घूमते थे।" (स० प्र० समु० 10 पृष्ठ 267)

"सृष्टि से लेकर पाँच सहस्र वर्ष से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलीय अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे। क्योंकि कौरव-पाण्डव पर्यन्त यहाँ के राज्य और अनुशासन में सब भूगोल के राजा और प्रजा चले थे क्योंकि मनुस्मृति जो कि सृष्टि के आदि में हुई है, उसका प्रमाण है। इसी आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, दस्यु मलेच्छादि सब अपने-अपने योग्य विद्या-चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करते थे। और महाराजा युधिष्ठर के राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध पर्यन्त यहाँ के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो: चीन का भगदत्त अमेरिका का बभ्रूवाहन, यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् माजार के सदृश आंख वाले यवन जिसको यूनान कह आये और ईरान का शल्य आदि सबराजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में सब आज्ञानुसार आये थे। जब रघु राजा था तो रावण भी यहाँ के अधीन था। जब रामचन्द्र के समय में विरुद्ध हो गया तो उसको रामचन्द्र ने दण्ड देकर राज्य से नष्ट कर उसके भाई विभीषण को राज्य दिया था।

स्वायंभुवराजा से लेकर पांडवपर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् आपस में विरोध से लड़कर नष्ट हो गये। क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन तक नहीं चलता।

मैत्र्युपनिषद् (प्र० 1/ स० 4) के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राज्य आर्यकुल ही में हुए थे।

जैसे यहाँ सुद्युम्न, भूरिधुम्न, कुवलयाश्च, यौवनाश्च, वद्ध्यश्च, अश्वपति, शचिविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननवंतु, सयाति, यायाति, अनरण्य, मरुत और भरत सार्वभौम सब भूमि में प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजाओं के नाम यहाँ लिखे हैं वैसे स्वायम्भुवादि चक्रवर्ती राजाओं के नाम स्पष्ट मनुस्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों में लिखे हैं।"

(सत्यार्थ प्रकाश---समु० 11 पृष्ठ 279-281)

8

संस्कृत-जनित भाषा-भाषी आर्य राष्ट्र-मण्डल और उसका केन्द्र भारत

8.01 भूमण्डलीय राज्य की अवांछनीयता

कुछेक विचारकों का मत है कि राष्ट्रीय समुदायों और इनके शासनक्रम में फिर क्रम-विकास होगा और राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता में बदल जायेगी और राष्ट्रीय सरकारों की प्रभुसत्ता नष्ट-प्राय: होकर एक भूमण्डलीय शासन सत्ता की स्थापना भी द्वन्द्व के सिद्धान्त में अभिप्रेत है। जो पुरानी स्थिति का पुन: आना मानते हैं, वे कहते हैं कि राष्ट्रीय प्रभु-सत्ता की समाप्ति के बाद हम विराट (वैराज्य) की ही प्रारम्भिक स्थिति में पहुँच जायेंगे जहाँ से कि इस चक्र का प्रारम्भ हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय शासन की विशदता और वैराज्य की स्थिति कुछेक लेखकों को एक-सी ही जँचती है। पर वैदिक चिन्तन में ऐसा होना आवश्यकीय नहीं माना है।

भूमण्डल में एक शासन व्यवस्था जो प्रभुसत्ता सम्पन्न हो, असंभव है। उसका कानून सदा ऐच्छिक और नैतिक रहेगा। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में इस सम्प्रभुता को विधान-बद्ध करना सर्वदा असंभव है। पर ऐसी प्रभुसत्ता तो ईश्वर की है ही। उसकी न्याय-व्यवस्था चतुर्दिक भू-मण्डल और भूलोक तथा अन्तरिक्ष में व्याप्त है ही। उसे कौन तोड़ सकता है ? भू पर उसके निर्माण करने में जन-जन का परिश्रम क्यों व्यर्थ में व्यय किया जावे !

वेदों की सर्वप्रिय प्रार्थना गायत्री मंत्र में है, जो यों हैं :

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्यधीमहि।
धियो योनः प्रचोदयात्।

भूलोक, द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक (Earth, Sky and Spectrosphere) सर्वत्र ईश्वर का भर्ग (तेज, अनुशासन) व्याप्त है। उसकी दया से हमारी बुद्धि में प्रेरणा होती रहे। (Synthesis) के लिए "यो यम् वेद" जो ऐसा ज्ञान रखता है— यह महा वाक्य अथर्व वेद के पूर्व वर्णित सूत्र में प्रयुक्त हुआ है। गायत्री मंत्र में उसी ज्ञानपूर्वक-चिन्तन का वर ईश्वर से माँगा है। अन्त में लोक एकात्म का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः। (ऋ० 10/81/3)

(विश्वतः चक्षुः) जिस प्रभु के चक्षु सब विश्व की कार्यवाही देख रहे हैं। (उत्) और (विश्वतः मुखः) जिसका मुख चहुँ ओर विधान को घोषित कर रहा है। (विश्वतः बाहुः) जिसके बाहु सर्वत्र अनुशासन रखे हुए हैं। (विश्वतः पात्) जो सर्वत्र न्याय तथा भोग प्रदानार्थ जा पहुँचता है। (बाहुभ्याम् पतत्रैः) वह प्रापणीय फलों का अनुशासन रूप से (सम्धमति) गति देता है। वही (एकः देवः) एक अधिपति (द्यावाभूमि) आकाशलोक और पृथ्वी लोक को (जनयन्) उत्पन्न करता है।

स्वामी दयानन्द का उद्बोधन था कि :—

"और हम यह समझें कि

वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम।

(यजुर्वेद 18/29)

हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपाकर के अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करें और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्त करावें।"

(स० प्र०-समुल्लास 6 पृष्ठ 172)

दयानन्द ने उक्त उद्धरण में परमेश्वर को महाराजा मानते हुए राज्याधिकारी बनाने की बात कही है। वे राज्यों में चक्रवर्तित्व के क़ायल थे।

8.02 राष्ट्रों का भाषा के उद्‌गम के आधार पर समूहीकरण :—

गत समुल्लास में वर्णित चारों पद्धतियों के फलस्वरूप शक्तियों के एक से अधिक दो या तीन मुख्य समूहों का उद्‌भव सम्भव है। विश्व मानस के लिए यह आवश्यक है कि यह विभिन्न समूह एक दूसरे को सीमा के अन्दर रखते रहें। महा बलशाली कोई समूह न होने पावे, अन्यथा यह महा समूह (Leviathon) मनुष्य को कुचल देगा। इससे दूसरा लाभ है कि एक समूह में समुपस्थित छोटा राष्ट्र अपने अस्तित्व के विषय में आरक्षित रहता है। बदले में उसे नकद या वस्तुओं के रूप में थोड़ी बलि (कर) देनी होती है। राष्ट्रों को अपनी विशेषता के अनुसार विश्व-संस्कृति के निर्माण और उन्नयन में अपना योग-दान देने का अवसर मिलता रहता है। यह समूहीकरण अनेक आधारों पर हो सकता है। परन्तु द्वन्द्वात्मक पद्धति में जिन आठ चक्रों और नवद्वारों का विकास होकर राष्ट्र बना है, उनमें से जितने कम अंश इसके निर्माण के आधार

होंगे उतना ही यह समूहीकरण टिकाऊ होगा ।

इन सब का निचोड़ भाषा और साहित्य में होगा। अतएव जिन-जिन देशों की भाषाओं का उद्गम एक होगा, उनका समूहीकरण स्वाभाविक लगेगा—क्योंकि उनके साहित्य में समाहित महत्त्वाकांक्षाओं का स्रोत मूल में एक चिन्तन होगा ।

8.03 संस्कृत भाषा के विस्तार अंचल

प्रसिद्ध भाषा-विज्ञ जर्मन नागरिक रूडिगो (Rudigo) ने यह सिद्ध किया है कि लगभग 100 भाषाओं का मूल स्रोत आदि वैदिक भाषा है। इन सौ में से उसने भारत की 12 भाषायें, 7 आधुनिक फारसी, 2 अमैनैटिक और अल्बैनियन, 7 ग्रीक, 8 लैटिन और 6 कैल्टिक-गैलिक (इंग्लैंड और आयर्लैंड की) बताई हैं। संस्कृत भाषा शुद्ध की हुई न होकर मूल वैदिक भाषा का उच्चारण (Colloquial) रूप है।

संस्कृत साहित्य के एडेलिंग द्वारा लिखित इतिहास के पृष्ठ 38 से 40 पर इस विषय में यों कहा गया है :

The great nunber of Languages which are said to owe their origin or bear close affinity to the sanskrit is greatly astonishing and is another proof of its antiquity xx xx It seems a remarkable fact that various theories in which Learned men have lately indulged tend to confirm this antiquity and the influence of Sanskrit on various vocabulariss which we now possesse Sanskrit has not only furnished words for all languages of Europe but forms a new feature in almost all those of the east as well.

A host of writers have made it immediate parent of the Greek and Latin and German families of languages while others have regarded them as descended from Sanskrit through a Language that is now extinct.

Sir William zones has identified it as persian and Zand. Hall hand notced the simlitudes of Sanskrit and Arabic words and this is not merely in the Technical and metaphysical terms but in the main ground work of languages.

(संसार की भाषाओं में से अधिकतर का स्रोत संस्कृत में पाया जाता है और उनकी शब्दावली का संस्कृत शब्दावलि से साम्य वास्तव में विस्मयकारी है और संस्कृत भाषा के अति प्राचीन होने का प्रमाण है। विश्व के प्रमुख भाषाशास्त्रियों ने जो विचार इस विषय में प्रस्तुत किये हैं, वे भी संस्कृत की इस प्राचीनता को पुष्ट करते हैं। विभिन्न भाषाओं की शब्दावलियों की एकरूपता ने उन्हें ऐसा ही निष्कर्ष निकालने पर बाध्य किया है।

संस्कृत भाषा ने न केवल यूरोप की सम भाषाओं के शब्द भंडार को दान दिया है, बल्कि पूर्व के देशों की भाषाओं का भी यही हाल है।

अनेकों भाषा-विज्ञों ने भी संस्कृत भाषा को ग्रीक, लैटिन व जर्मन परिवार की भाषाओं का जनक बताया है। कुछेकों ने यह भी कहा है कि इन योरोपीय भाषाओं की जनक कोई एक और भाषा थी जो अब समाप्त हो गई है। सर विलियम जोन ने इस पर यह खोज की है कि वह भाषा जिन्दा वस्ता वाली भाषा अथवा फारसी भाषा थी, जो अब समाप्त हो गयी है। हालैंड ने संस्कृत और अरबी शब्दों की सभ्यता पर लिखा है। यह साम्यता प्राग्विधिक अथवा दर्शनशास्त्रीय शब्दावली तक ही सीमित न होकर भाषा की मुख्य पृष्ठ-भूमि में भी समाहित है।)

इसी प्रकार रेफिल (Raffles) लिखित भाषा के इतिहास भाग 2 पृष्ठ 369 में यह विचार प्रकट किये गये हैं :

The Indochinese and others dialects in that Area, all seem to be closely allied to Sankrit. One original language seems in a very remote period to have provided the whole Indiau Archipelogo and to have spread towards Medagasker on one side and the Islands in the south sea on the other. If we find any of the tribes inhabiting these areas more highly advanced in the arts of civilized life than others, it is noticed that they are so in the same proportion in which their language is enriched by a corresponding accession of Sanskrit terms and all this directs us to the source whence civilization flowed towards these regions.)

इण्डोचीनी (वियतनाम, कम्बोडिया और लाओस) प्रभृति देशों और उनके आस पास के क्षेत्रों की बोलियाँ संस्कृत से अत्यन्त मिलती-जुलती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सुदूरभूत में एक बोली थी जो भारतीय द्वीप समूहों में होती हुई एक ओर तो मेडागास्कर द्वीप समूह तक चली गयी थी और दूसरी ओर दक्षिण-महासमुद्र-स्थित द्वीपों तक। मजे की बात यह है कि इन सारे द्वीप समूहों में यदि कोई फिरका (Tribe) औरों से अधिक सुसंस्कृत और सभ्य पाया जाता है तो वे वही लोग हैं और उनकी यह सुसंस्कृतता उतनी ही उच्च है, जितनी कि उनकी भाषा संस्कृत शब्दावली से भरपूर है : यह बात इस तथ्य का संकेत भी करती है कि इन क्षेत्रों में सभ्यता किस दिशा से आई।

इस प्रकार संस्कृति और शासन प्रणालियाँ, संस्कृत भाषा के साथ ही भारत में और यूरोप तथा इण्डो-चाइना वाले भूभाग में फैली है और संस्कृत भाषा-भाषी ही आर्य थे। इस शोध का शीर्षक और उसमें प्रयुक्त आर्य शब्द इसी वृहत् अर्थ में लिया गया है। इन आर्यों ने सर्वत्र वेद के प्रभाव में पारंगत राजनैतिक तत्त्वों की प्रतिष्ठा की है और तदनुरूप राजतन्त्र की स्थापना आर्यों की विश्व को और भारत को महान्

देन है। इन भूभागों की जनता में निम्न बातें उभयनिष्ठ हैं :

(1) वैवाहिक प्रणाली की मान्यता।
(2) परिवारों का गठन।
(3) ईश्वर में विश्वास।
(4) पूजा प्रणालियों पर आधारित सामाजिक विकास।
(5) पेशा चुनने की स्वतन्त्रता और उनमें पारंगत हो साधारण से अधिक भोग प्राप्त करना।
(6) सभा, समिति, सभापति के संस्थान और उनकी आमन्त्रण पद्धति।
(7) राष्ट्र-प्रेम।
(8) और राष्ट्रों में विविध दर्शन वालों एवं बोली वालों के रहने व बसने की स्वतन्त्रता।

स्पष्टत: जो अनार्ष चिन्तन इस उत्क्रमण, न्यक्रमण, और यो-यम-वेद के प्रतिकूल है, उनके मुकाबिले में एक महान शक्ति-मान संघ बनाना ही होगा। इस विस्तार अंचल का केन्द्र भारत ही होगा। क्योंकि वह इसके केन्द्र में स्थित है। सैनिक या आर्थिक दृष्टि से पंगु होते हुए भी सांस्कृतिक चिन्तन का वह केन्द्र बिन्दु है। एवं भाषाओं की स्रोत संस्कृत भाषा जिस वैदिकी भाषा का अपभ्रंश है, उस वेद की प्रत्यक्ष प्रसवा यह भारतभूमि है। अतएव इस संस्कृत भाषा-भाषी आर्ष महाराष्ट्र का स्वाभाविक चक्रवर्तित्व उसी में होना है। कहा भी है :

'भारत,' तू सब का भरण करता है। तुझ पर यह सारा विश्व निर्भर है। यथा :

श्रेष्ठं यविष्ठभारताग्ने द्युमन्तमा भर।
वसो पुरुस्पृहं रयिम् ॥
(ऋ० 2/7/1)

पर भारतीय के लिए ऋषि कहता है—भारतीय सर्वत्र भारत भूमि को देखता है और उसकी ही स्तुति वन्दना और अर्चना करता है।

य इमे रोदसि उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ॥
(ऋ० 3/53/12)

विश्वामित्र द्वारा रक्षित भारत भूमि की विश्व वन्दना करता है।

8.03 दयानन्द सरस्वती का मत

1. "ग्रामों का पति वहाँ के दोष नित्य प्रति गुप्तता से दशग्रामों के पति को दे। दश-ग्राम-पति बीस ग्राम-पति को, वह शत ग्राम-पति को, और वह सहस्र ग्राम-पति को क्रमश: सन्देश दे। सहस्र ग्राम पति दस सहस्र ग्राम पति को जो लक्ष ग्रामों की राज्य सभा को प्रतिदिन का वर्तमान-जनाया करें और वे सब राजसभा, महाराजसभा अर्थात्

सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज-सभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें ।'

(स० प्र० अष्टम समुल्लास पृष्ठ 152)

(यहाँ पर एक (Pyramid) में भूगोलीय महाराज-सभा का प्रस्ताव है । परन्तु उसका कार्य सूचनाओं का केन्द्रीयकरण मात्र लिखा है । ऐसी आधुनिक (United Nation) संयुक्त राष्ट्र जैसी सभा की कल्पना उन्होंने अब से सौ वर्ष पूर्व की थी ।

2. "यह संक्षेप में राज्यधर्म का वर्णन किया । विशेष वेद, मनुस्मृति के सप्तम अष्टम, नवम अध्याय में और शुक्रनीति तथा विदुर प्रजागार और महाभारत के शान्ति पर्व के राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकों में देखकर पूर्ण राजनीति को धारण करके माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य करें ।"

(स० प्र० समुल्लास 6 पृष्ठ 172)

3. **दस्यु और राक्षस देश** :—जो आर्य देश से भिन्न देश हैं, ये दस्यु देश और म्लेच्छ देश कहाते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि आर्यावर्त्त से भिन्न पूर्व देश से लेकर ईरान और म्लेच्छ तथा उत्तर वायव्य और पश्चिम देशों में रहने वालों का नाम दस्यु और म्लेच्छ तथा असुर है (था) । और नैऋत्य, दक्षिण तथा आग्नेय दिशाओं में आर्यावर्त्त देश से भिन्न-भिन्न स्थिति रहने वाले मनुष्यों का नाम राक्षस है (था) । अब भी देख लो हबशी लोगों का स्वरूप भयंकर, जैसा राक्षसों का वर्णन किया है, वैसा ही दीख पड़ता है । और आर्यावर्त्त की सूध यह नीचे रहने वालों का नाम नाग और उस देश का नाम पाताल इसलिए कहते हैं कि वह देश आर्यावर्त्तीय मनुष्यों के बाद अर्थात् पद के तले का है और नागवंशी अर्थात् नाग नाम वाले पुरुष के वंश के राजा होते हैं । उसी की उलोपी राजकन्या से अर्जुन का विवाह हुआ था । अर्थात् इक्ष्वाकु से लेकर कौरव-पांडव तक, सर्वभूगोल में आर्यों का राज्य और वेदों का थोड़ा थोड़ा प्रचार आर्यावर्त्त से भिन्न देशों में भी रहता था...।"

(स० प्र० समु० 9 पृष्ठ-226)

8.04 चक्रवर्तित्व की कामना, थाती और निर्देश

उक्त भावनाओं के वशीभूत हो दयानन्द सरस्वती इस देशवासियों की युग-युग में जीवित रहने वाली महत्त्वाकांक्षाओं का सृजन कर गये हैं । उन्होंने ऐसा नियम बनाया कि दिन में दो बार इस महान् प्रतिज्ञा को दुहराया जावे ।

प्रसार और दिग्विजय की कामना और थाती : आर्यों के लिए निर्धारित अनिवार्य वैदिक संध्या में मनसा परिक्रमा प्रकरण में उन्होंने 6 मन्त्र अथर्ववेद काण्ड 3 सूक्त 27 में से क्रम संख्या 1 से 6 तक उद्धृत किये हैं । वे यों हैं :

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदित्या इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम
एभ्यो अस्तु । यो अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तम् वो जम्भे दध्मः ॥1॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम
एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तम वो जम्भेदध्मः ॥2॥
प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिताऽन्नमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्योनमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम ।
एभ्यो अस्तु । योऽस्मानद्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तम् वो जम्भेदध्मः ॥ 3 ॥
उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो नमो० (शेष मन्त्र एक के समान) ॥ 4 ॥
ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कलमाषग्रीवोरक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो नमो० (शेष मन्त्र एक के समान) ॥ 5 ॥
ऊर्ध्वा दिग्वृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रोरक्षितावर्षमिषवः ।
तेभ्योनमो० (शेष मंत्र एक के समान) ॥ 6 ॥

इनका उद्देश्य उन्होंने प्रगट में मन के चारों ओर परिक्रमा करते हुए प्रभु को ही देखना बताया है। यौगिक अर्थ प्रणाली में यही अर्थ उन्होंने किये हैं। पर यहाँ अब हम शाब्दिक रूढ़ि अर्थ देते हैं :

दिशा 1	अधिपति (राजा) 2	किससे रक्षा की अपेक्षा है । 3	प्रयुक्त इषु अर्थात् तीर या साधन 4
1. प्राची (पूर्व)	अग्नि	असित	आदित्य
2. दक्षिण	इन्द्र	तिरश्चिराजी	पितर
3. प्रतीची (पश्चिम)	वरुण	पृदाकू	अन्न
4. उदीची (उत्तर)	सोम	स्वज	अशनि
5. ध्रुवा	विष्णु	कलमाषग्रीवो	वीरुध
6. ऊर्ध्वा (ऊपर)	वृहस्पति	श्वित्रो	वर्षा

प्रसिद्ध इतिहास लेखक, प्रख्यात आर्यसमाजी विद्वान् पं० भगवदत्त ने स्वरचित भारत वर्ष के इतिहास (3 भागों में) तथा निष्पक्ष स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन ने भी 'वयं रक्ष' नामक पुस्तिका में दैत्य, आदित्य, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, असुर, आर्य एवं मनुभरत प्रभृति जातियों के विस्तार एवं परस्पर युद्ध की कहानी तथा पश्चिम में कश्यप (कैस्पियन) सागर से पूर्व में नैमिषारण्य (बिहार) और दक्षिण में लंका तथा पाताल (मैक्सिको) तक में उनके विस्तृत राज्यों का वर्णन किया है। आचार्य जी ने तो इस पुस्तक में राक्षस-राज रावण द्वारा बैबिलोन स्थित इन्द्र तक के पराभव, कैलाश-स्थित शिव से सन्धि और अन्ततोगत्वा दाशरथि राम द्वारा इन्द्र के साहाय्य से रावणवध और आर्य संस्कृति की विजय और पुनः स्थापना तक का पूरा वर्णन लिखा है। उसके

आधार पर इन्द्र, वरुण, सोम, विष्णु एवं वृहस्पति के राज्यों और विजयों का वर्णन हम यहाँ पर सार रूप से देते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यह निष्कर्ष निकलेगा कि उक्त 6 मंत्रों से प्रोत्साहन पाकर मनु-पुत्रों (मानसो) की विश्व परिक्रमा और विजय की गाथा आर्यों की महत्त्वाकांक्षा स्वरूप ही उभरी थी।

वेदों में प्रयुक्त शब्दों पर ही इन राजाओं के यह नाम और उपनाम रखे गये थे। स्वर्गीय रमेशचन्द्र दत्त (I. C. S.) तो जैसी कि पुरुष सूक्त पर अपनी सम्मति दी हैं यहाँ भी देते हैं कि कहीं यह मंत्र अथर्ववेद में घटनाओं के बाद में तो समाविष्ट नहीं कर दिये गये हैं। पर हमारे मत में पहली बात ही सत्य है। जो भी हो इन खोजों का सारांश हम आगे देते हैं क्योंकि ये दयानन्द सरस्वती की चक्रवर्तित्व सम्बन्धी उक्त साधारण प्रतिज्ञा का शत-प्रतिशत समर्थन करती हैं।

8.05 पौराणिक गाथाओं (Mythology) का वास्तविक ऐतिहासिक (परिप्रेक्ष्य)

निदान यह खोज ब्रह्मचारी कृष्णदत्त के प्रागैतिहासिक रहस्योदघाटन से भी मेल खाती है। ये निरक्षर भट्टाचार्य हैं, पर योगमुद्रा में अपने पूर्व जन्मों की वार्ताएँ और विचार बताते हैं। वे अपना एक जन्म में शृंगी ऋषि होना बताते हैं जो त्रेता में दशरथ के समकालीन थे। उन्होंने एक ओर तो वेदो में प्रयुक्त वरुण, विष्णु, इन्द्र, शिव और वृहस्पति शब्दों के यौगिक परमात्मा-परक अर्थ किये हैं। पर इस नाम के विशिष्ट व्यक्तियों का आचार्य चतुरसेन की भाँति ही उल्लेख किया है। आचार्य जी ने बताया है कि प्रचेता के पुत्र राजा दक्ष प्रजापति ने साठ कन्याओं का कन्यादान किया। उसने तेरह कश्यप को, दस यम को, सत्ताइस चन्द्र को, चार अरिष्ट नेमि को, दो भृगु पुत्रों को, दो कृशाश्व को और दो अंगिरा को दी थीं। यही सब सम्पूर्ण पृथ्वी मंडल में फैल गये और राज्य स्थापित करते रहे।

कश्यप की जो तीन सगी बहिनें व्याही थीं, उनके नाम दिति, अदिति और दनु थे। उन्हीं की सन्तानें क्रमशः दैत्य, आदित्य और दानव कहाती थी। दिति से चार पुत्र हुए थे। उनके नाम थे :— हिरण्यकश्यप, हिरण्याक्ष, बज्रांग और अन्धक, जो दैत्य कहाते थे। प्रह्लाद हिरण्यकश्यप का पुत्र था और विरोचन उसका नाती था। बालि विरोचन का ही पुत्र था। बालि के पुत्र का नाम वाण था। दनु के विख्यात पुत्र थे शब्बर और तारक। अदिति से बारह पुत्र हुए थे जो आदित्य कहाते थे। उनमें वरुण सबसे बड़ और विवस्वान (उपनाम 'सूर्य') सबसे छोटे थे। विवस्वान के पुत्र ही मनु थे (पृष्ठ 39)। विवस्वान की सन्तानें ही भारत भर में फैलीं। उनके अतिरिक्त अन्य ग्यारह आदित्य पैलेस्टाइन, अरब, चीन, तिब्बत तक फैले थे (पृष्ठ-22)

दैत्य हिरण्याकश्यप का राज्य कश्यप (कैस्पियन सागर) पर था। दैत्यों और आदित्यों ने मिलकर जब समुद्र मन्थन किया अर्थात् कश्यप सागर पार किया तो उस पार जब हिरण्य की खानों का पता चला तो आदित्यों ने उसमें से आधा भाग माँगा।

इसी को लेकर देवासुर संग्राम होते रहे। हिरण्याक्ष ने श्वेत पर्वत (कोहकाम) में राज्य स्थापित किया था। यह प्रदेश बेबिलोन कहाता था। निकटस्थ केतुमाल (नारवे) द्वीप में बाराहों का राज्य था। वे आदित्यों के सहायक थे। बाराहों ने हिरण्यकश्यप को मारा था। तब सूर्य पुत्र मनु के भाई नृसिंह वहाँ के राजा हुए थे। नृसिंह ने ही बाद में मल्ल युद्ध में सुमना पर्वत पर हिरण्यकश्यप को मारा था। आदित्यों ने ही दैत्यों तथा अन्य अनार्य-जनों को परास्त कर समूचे साम्राज्य का निर्माण किया। (पृष्ठ 35) ब्रह्मचारी कृष्णदत्त ने भी 10-5-68 को उज्जैन के आख्यान में यह देवासुर संग्राम बखाने हैं। पर कश्यप की स्त्रियों के नाम उदिचि एवं कुदिचि बताये हैं। (पुष्प 10, पृष्ठ 2)। आगे लिखा है कि आदित्यों ने दैत्यों से समुद्र मंथन में निकाला। अमृत कुम्भ (घड़ा) छीन कर उसे भारत के चार किनारों पर स्थापित करके साम्राज्य की सीमायें स्थिर कीं।

प्रतीची दिक् वरुणोऽधीपति : वेद के इस मंत्र से प्रेरणा पाकर अदिति के ज्येष्ठ पुत्र ब्रह्मा ने अपना उपनाम वरुण रखा था। ब्रह्मा अदिति की सबसे बड़ी सन्तान थे। यह सुमेरु कुल के निर्माता थे जिसने अनार्यों से मैसोपोटामिया से ईरान तक का राज्य छीना था। यही पारसियों की जिन्दावस्था में वर्णित अहुरमज्दा हैं। इनके देश का संस्कृत नाम इलावृत था। इलावृत के उपास्य देव इलाही भी यही हैं। वरुण ने अन्तिम जल-प्रलय से रुके जल को वाराहों की सहायता से समुद्रोन्मुख किया था। इसी से इन्हें नारायन भी कहते हैं। इनके साम्राज्य का नाम अमर देश और राजधानी अमरावती थी। अमरावती ईरान प्रदेश में थी। वरुण (ब्रह्मा) ही के पुत्र अंगिरा और अंगिरा के पुत्र वृहस्पति थे। वे देवों के गुरु थे। बाद में ईरान पर इनके भतीजे आदित्य नृसिंह का अधिकार हो गया था। सारे प्रदेश को अन्नमय करके ही वरुण ने वहाँ के निवासियों के हृदयों को जीता था। वरुण ने कृषि विज्ञान उक्त मंत्र से प्रेरणा लेकर सीखा था। अपने राज्य में कृषि से अन्न उपजाकर उन्होंने प्रजा का मन जीता था। नृसिंह के सैन्य-संचालन के लेख (शिलालेख) और शिला-चित्र बेबीलोनियाँ प्रान्त में मिले हैं। नृसिंहों तथा वराहों में विवाह सम्बन्ध भी हुए थे। नृगिटो जाति इन्हीं का सम्मिलित नाम था। ईरान में नृसिंह की अर्ध सिंह मूर्ति मिली है। इनके झंडे पर सूर्य की मूर्ति थी। इनका चिह्न गिरगिट था। इनकी राजधानी आधुनिक करमान प्रदेश में स्थित सुषा नगर था। मुसलमान आक्रान्ता गिरगिट से बहुत चिढ़ते थे। आज भी वे करकेंटा पशु को जहाँ भी देखते हैं, उसका वध कर देते हैं। वरुण के दूसरे भतीजे शनिश्चर का अधिकार यवन-प्रदेश यूनान में था। अनार्य नामों के अन्य राज्य सीरिया, कोरिस्तान, पाताल यौर अबीसिनियाँ में थे। तुर्किस्तान उनकी राजधानी थी। गरुडों का देश गड़धाम अथवा गरुडेसिया था जो तुर्किस्तान के उत्तर में है। ये दोनों जातियाँ परस्पर शत्रु थीं। पर आदित्यों की सहायक थीं। वरुण भी दैत्यों से मिल कर रहना चाहते थे। उन्होंने एक महायज्ञ में सभी को बुलाया भी था ताकि दैत्यों से विग्रह शान्त हो जावे। इसी महायज्ञ के बाद आदित्य (सूर्य) विष्णु और दैत्य प्रह्लाद

में सन्धि हुई थी।

उदीची दिक् सोमोऽधिपति :—इस मंत्र से प्रेरणा पा शिव ने अपना उपनाम सोम रखा था। उत्तर दिशा में शिव का राज्य था। शिव ही सोम-पानकर्ता थे। आदित्य सूर्य के ज्येष्ठ पुत्र यम थे। वे बड़े होकर अपने ताऊ वरुण के पास चले गये थे। यम को वरुण ने अपवर्त का भाग दे दिया था। वे वहाँ नरक नामक नगर बसा कर राज्य करने लगे। इन्होंने दक्ष प्रचेतस के कुल की 10 कन्यायें ग्रहण की। इन्हीं की सन्तान हूण, मंगोल, द्रविड़, धर, सान्धय (सिथियन) एवं वसु प्रभृति जातियाँ हुई, जो शक द्वीप में रहती हैं। ईरान में "यम-थल", भाग इन्हीं की स्मृति में है। यमशिद या जमशेद यम की वसु पत्नी से 8 पुत्र हुये जिनमें धर ज्येष्ठ था। धर पुत्र ही रुद्र थे जो शिव कहाते थे। रुद्र के 4 प्रान्त प्रसिद्ध थे :

(1) हेमकूट (हिन्दुकुश जहाँ सोम होता था)
(2) क्रोन्चगिरि (कराकोरम)
(3) भद्रवन (लौहित्य गिरि) जो आज कल अरुणाचल है।
(4) कैलाश।

रुद्र ने पेलेस्टाइन को स्वज दैत्यों से त्रैपुर (त्रिपौली) के युद्ध में छीना था। वे दैत्य और आदित्य दोनों के भले रहते थे। दानवादि सहित सभी को वे मिलाना चाहते थे। इसीलिए समान महत्त्वाकाँक्षाओं के कारण वे रावण को हरा कर उसे अभयदान देकर उसके मित्र हो गये थे। उसके पुत्र मेघनाद को उन्होंने दिव्यास्त्र दिये थे। उनका राज्य अफ्रीका तक था। सूडान शब्द शिवदान का ही अपभ्रंश है। रुद्र ने आर्य संस्कृति नहीं मानी थी। उनकी यज्ञों में भी श्रद्धा नहीं थी। उनकी असुर वाण से भी मित्रता थी। नागों के भी वे संरक्षक थे।

(पृष्ठ-155)

आर्य दक्ष ने एक कन्या रुद्र को भी दी थी। पर आदित्य रुद्र को यज्ञ पंगति में नहीं बिठलाते थे। दक्ष ने अपने यज्ञ में रुद्र को नहीं बुलाया था। उनकी पत्नी सती बिना बुलाये पहुँचकर रुद्र को बुलाने का जोर डालती रही और सफल न होने पर जल मरी थी। तब रुद्र ने उस यज्ञ का ध्वंस किया था। यह स्थान हरिद्वार के पास कनखल में था। मरुतों से भी रुद्र की मित्रता थी जो समरकन्द और बिलौचिस्तान में राज्य करते थे। सती की मृत्यु के बाद हिमाचल नरेश की पुत्री पार्वती से उन्होंने विवाह किया था। रुद्र का अलकापुरी के कुबेरों तथा यक्षों से भी मेल था। रुद्र ने आतम-पूजन चलाया था। लिंग पूजा उसी का प्रतीक था। उनके प्रभावांचल में सर्वत्र लिंग पूजा प्रचलित थी। मैथुन-कर्म को ही वे लोग यज्ञ कर्म कहा करते थे (पृष्ठ 170)। ईसाई धर्म से पूर्व लिंग-पूजा सारे यौरुप में भी प्रचलित थी। मक्का में दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य (उपनाम काव्य-उशना) ने लिंग स्थापित करके लात का मन्दिर बनवाया था। उन्हीं के नाम पर उसे कावा कहते हैं। मिश्र से जापान तक लिंग पूजा के अवशेष मिलते हैं। इजिप्ट नाम सम्भवतः शिव की जटा पर आधारित है। (पृष्ठ

156)। शिव के वहाँ आने के पूर्व पिछले मन्वन्तर में विजेता चाक्षुस उर और उनके पुत्र अंगिरा वहाँ पहुँच चुके थे।

रुद्र धनुर्धारी एवं शस्त्रज्ञ थे। वे नाद-विद्या के भी आगम थे। और डमरु उनका वाद्य था। अक्षर साम्नाय भी उन्होंने ही प्रकट किया था। वे काम-विज्ञान के भी आविष्कर्त्ता थे। नृत्य-परम्परा जिसमें हाथ की उँगलियों की भाव भँगिमाओं और मुद्राओं में विभिन्न यौन-क्रियाओं के संकेत मिलते हैं, भी उन्होंने ही प्रारम्भ की थी। रुद्र के साथ उनके बल का प्रतीक साँड दिखाया जाता है। योरुप एवं अफ्रीका प्रभृति मध्य देशों में साँड पूजा की वस्तु है। मोहनजोदिरों और हड़प्पा में भी लिंग-पूजा के अवशेष मिलते हैं।

रुद्र की इतने लम्बे-चौड़े क्षेत्र में राज्य-स्थापना और विजय, बिना आकाश-वाहनों के सम्भव न थी। त्रिशूल उनका शस्त्र था। यह नाम उक्त मंत्र में प्रयुक्त 'अशनि' शब्द से लिया था जिसका अर्थ बिजुली है। बिजुली तीन विद्युत अंशों से बनी है। इलैक्ट्रोन, न्यूट्रोन और पोजीट्रोन। सत्व, तमस् और रजस् उनके साँख्य-शास्त्र में कपिल प्रदत्त नाम हैं। उन पर बिजली के अस्त्र थे। यह शक्ति कहलाते थे। मेघनाद को ऐसा ही अस्त्र उन्होंने दिया था। राम के पक्ष में अपने पुत्र कार्तिकेय को भी यही अस्त्र और आकाश-वाहन देकर पार्वती ने युद्धार्थ लंका को भेजा था। संभवतः इसी सहायता के उपलक्ष्य में राम ने लौटते समय रामेश्वरम् में शिव की स्तुति की है। योग-मुद्रा में ब्रह्मचारी कृष्णदत्त ने 18-10-64 के अपने मोगा (पंजाब) के आख्यान में कहा था कि शिव नामक राजा रावण के गुरु थे और उनका विवाह हिमाचल राज की कन्या पार्वती से हुआ था। (प्रकाशित पुष्प-5 पृष्ठ-29)

यही बात 7-3-62 के दिल्ली आख्यान में कही थी कि त्रेता काल में महाराज शिव और माता पार्वती हुई हैं। पुष्प-2, पृष्ठ-53)

तुलसीदास ने भी राम-कथा शिव पार्वती के प्रश्नोत्तर के रूप में कहलवाई है। इससे उनका समकालीन होना सिद्ध है।

दक्षिणादिगिन्द्रोऽधिपति :—कश्यप (कैस्पियन) सागर के दक्षिणी तट पर जार्जिया प्रदेश की उपत्यकाओं में अजरबेजान प्रान्त है जो आर्य वीर्यान का अपभ्रंश है। उसके निकटस्थ ही देमावन्द पर्वत था जो देवस्थान शब्द से बिगड़ कर बना है। वहीं अत्रि ऋषि का अत्रिपत्तनउपनिवेश था। यहाँ पर वैकुण्ठ था (पृष्ठ-87)। वहीं एक ग्राम में किसी कौशिक ग्राम पति जो आदित्य था, के वीर्य से एक कन्या को गर्भ रह गया। उत्पन्न बालक ने बड़े होकर अपने पिता को मार डाला और स्वयं ग्राम-पति बन गया। उसने वरुण और सूर्य विष्णु को प्रसन्न कर लिया। पर दैत्यों से उसका विग्रह हो गया। उसने उक्त मंत्र से प्रेरणा लेकर इन्द्र की उपाधि धारण कर अपने को देव कहना प्रारम्भ कर दिया। वह देवराट् कहलाने लगा। इन्द्रदेव ने वरुण-पुत्र नारद से भी मित्रता कर ली, जो वाम विधि के प्रचारक थे। मातृभूमि की प्रशंसा परक महावाम दैव्य गान उन्हीं का रचा हुआ था। इन्द्र ने उनसे प्रचुर साहित्य तैयार करवाया। इन्द्र

ने पुलोमा दैत्य की पुत्री से विवाह किया था। उसका राज्य सुमेरु-पामीर क्षेत्र तक था। अब उसने दिग्विजय प्रारम्भ की। सप्तसिन्धु देश के राजा त्वष्टा के पुत्र असुर-राज वृत्र पर उसने आक्रमण किया। त्वष्टा के दूसरे पुत्र त्रिशिरा-विश्वरूप को उसने अपनी ओर मिला लिया। लाहोर (पंचनद) के राजा दिवोदास और सुदास तुर्वसु और यदु को भी इन्द्र ने अपने साथ मिला लिया। बिलोचिस्तान के मरुत भी इसके साथ थे। यह दसवाँ देवासुर संग्राम था। पहले तो हार कर इन्द्र ने विष्णु की सलाह पर सन्धि कर ली। पर एक दिन समुद्र तट पर वृत्रासुर का वध कर दिया। वृत्रासुर की दो अयोध्या नगरियाँ हडप्पा और मोहनजोदिरो थी। उन्हें इन्द्र ने नष्ट कर दिया। फिर तक्ष के माध्यम से उसने त्रिशिरा-विश्वरूप का भी सिर कटवा लिया। यह वध आदित्यों द्वारा भी पसन्द नहीं किया गया। उसका 'ब्रह्मा' कह कर तिरस्कार किया गया। इन्द्र भागकर छिप गया। (पृष्ठ-98)

तब राजपद राजर्षि नहुष को दिया गया। उसने इन्द्र की पत्नी शची से बलपूर्वक भोग करना चाहा। इस पर देवों ने उसे पदच्युत करके देव-लोक से निकाल दिया। नहुष के अनुज रजि ने इन्द्रासन पर कब्जा कर लिया। उसने बृहस्पति का चार्वाक दर्शन स्वीकार कर लिया था। असुरों से रजि का 12 वाँ देवासुर संग्राम हुआ था। रजि का ही पुत्र ययाति था। ययाति की दो स्त्रियाँ थीं : 1. दैत्य-याजक शुक्राचार्य की कन्या देवयानी तथा 2. दैत्यराज वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा। देवयानी से यदु और तुर्वसु तथा शर्मिष्ठा से अनु, हृदय और पुरु पैदा हुए थे। ययाति की रुद्र से भी मित्रता थी। ययाति 14 द्वीपों के स्वामी थे। सारा उत्तरी भारत जीतकर उन्होंने अपनी सन्तानों में बाँट दिया था। (पृष्ठ-101) दक्षिण की ओर के इस फैलाव को बाद में कहेंगे।

पदच्युत इन्द्र ने वशिष्ठ एवं सुदास से पुनः सहायता ली। सुदास को दिवोदास ने गोद ले लिया था। उन्होंने दैत्यों से पुनः दाशराज संग्राम लड़ा जिसमें नहुष, भार्गव, पक्ष, भलान, गालव, शिवि, निशात, कवध, अज, शिगु, चक्ष, दानव, वार्चिन, सिन्धुराज पर्यन्त सभी ने हिस्सा लिया था। पर इन्द्र सुदास द्वारा पराजित हुए थे। (पृष्ठ-347)। अनन्तर सुदास को निदान पौरव ने मार दिया। तब इन्द्र निष्कंटक राजा हो गए।···बाद में रुद्र द्वारा दिए गए विद्युत अस्त्रों से राक्षस राज मेघनाद उसे बाँध कर लंका ले गये थे। (पृष्ठ-283) इन्द्र का एक पुत्र बलि किष्किन्धापुरी में राजा था। रावण ने उस पर अपनी दिग्विजय योजना के अन्तर्गत आक्रमण किया था पर बलि ने उसे हराकर 6 मास अपनी जेल में रखा था। अनन्तर प्रमुख वारुणेय वसु और रुद्र मिल कर लंका पहुँचे ताकि अनुनय विनय करके रावण से इन्द्र को छुड़वा सकें। रावण ने देवों से यह शर्त मनवा ली थी कि राक्षस भी यज्ञ के अधिकारी हैं। लंका में मेघनाद के कैलाश से लौटने पर एक महान् विजयोत्सव किया गया था। उसमें 12 आदित्यों के प्रतिनिधियों के बीच देवराट् इन्द्र ने मेघनाद का अभिषेक किया था। तभी रावण ने इन्द्र को छोड़ा था।

इस ग्लानि का बदला इन्द्र ने राम-रावण युद्ध में राम को पार्वती के माध्यम से उसके पुत्र कार्तिकेय तथा अन्य विद्युत अस्त्र और आकाश वाहन दिला कर लिया। लंका के युद्ध में इन्द्र स्वयं भी उपस्थित हुआ। उसका ऐरावत हाथी तो वहाँ मारा गया था, पर वह मेघनाद व रावण दोनों को राम के हाथों मरवा सका। आसमुद्रात् सारे भारत के आर्य सत्ता के हाथ आने का यह श्रीगणेश था। इसीलिए इन्द्र को दक्षिण का भी अधिपति कहते हैं। उसने तिरश्चिराजी असुरों का नाश किया था और इसमें अपने पितरों (पूर्व के रक्त-सम्बन्धी) राम की सहायता की थी।

(पृष्ठ 509, 514 एवं 515)

ब्रह्मचारी कृष्णदत्त ने योगमुद्रा में आकर अपने 17 अप्रैल 1964 के व्याख्यान में जो कि आर्य समाज जम्मू में दिया था, यह बताया कि रावण के पुत्र नारायण ने सर्वांग नाम के राष्ट्र को स्थापित किया था। रावण की पराजय पर राम ने अद्युत नामक राजा को वहाँ का राज दिया था। वे रूस वाले प्रान्त को सर्वांग बताते हैं। आगे चलकर उन्होंने यह भी बताया कि पातालपुरी में जिसे आज अमेरिका कहते हैं, रावण के पुत्र अहिरावण का राज्य था। रावण के पराभव पर राम ने वह प्रान्त हनुमान के पुत्र मकरध्वज को दे दिया था, जो कि वहाँ पहले से ही अहिरावण का एक प्रहरी बनकर रहता था।

(वैदिक अनुसन्धान समिति द्वारा प्रकाशित ब्रह्मचारी जी के वैदिक प्रवचन—
चतुर्थ पुष्प—पृष्ठ 56 एवं 129)

इसी प्रकार अपने 19-10-64 को मोगा में दिए व्याख्यान में उन्होंने इन्द्र के योगिक अर्थ तो भगवान के बताये पर बाद में यह भी कहा कि इन्द्र एक अग्रणी राजा भी था। उसके द्वारा वृत्रासुर का वध भी बताया है। (पुष्प नं० 5-पृ० 42)। आगे चल कर पृष्ठ 52 पर यह कहा है कि इन्द्रपुरी में राजा इन्द्र ने 100 अश्वमेध यज्ञ किये थे। और 8 नवम्बर 1963 को दिल्ली के आख्यान में कहा कि देवराज इन्द्र का राज्य त्रिपुरी में भी था। (पुष्प-7 पृष्ठ 129)। पुनः 6 मार्च 1973 के बरनावा आख्यान (पुष्प-19, पृष्ठ-103) में यह कहा हूँ कि आचार्य वृहस्पति के पास राजा इन्द्र गए और पूछा कि नमुचि दैत्य का वध कैसे हो? समुद्र मन्थन में जो फेन निकला था उस विष से दैत्य का वध इन्द्र ने किया था।

इन्द्र का असुरों से भी विग्रह हुआ था। उनका देश असीरिया था। वहाँ पहले आकाद लोग रहते थे। फ़िर उत्तर से सैमेटिक लोग आये थे। उन दोनों के मिलन से ही असुर जाति बनी थी। असुरों ने 1500 ईसा पूर्व में देवों से बेवीलोनियाँ छीन ली थी। पर फिर हारकर वे देवों की प्रजा बन गये थे। 1100 ईसा पूर्व में देव फिर स्वतन्त्र हो गए। असुर वेणीपाल ने 640 ईसा पूर्व में देवों से सारा भाग छीन कर इन्द्रासन पर कब्जा करके उस पद को ही समाप्त कर दिया। आदित्य तब भाग कर मुल्तान के मार्ग से भारत आये। वहाँ के असुर सम्राट् का नाम नमरुद था। निनवे उसकी राजधानी थी। उससे आदित्यों ने वह प्रान्त छीन लिया था।

ध्रुवादिक् विष्णुरधिपति :—ध्रुव दिशा से वह दिशा अभिप्रेत है जहाँ उस समय ध्रुव स्थित थे। आज तो वह प्रान्त टुण्ड्रा से भी उत्तर में हैं पर उस समय वह भारत के 30 प० सीमान्त वाले देश में था। बारह आदित्यों में सबसे छोटे विवस्वान् थे। उन्हीं का नाम सूर्य भी था। असुर-याजक शुक्र-उशना के पुत्र त्वष्टा ने अपनी पुत्री रेणु से उसका विवाह किया था। इन्हीं से उत्पन्न वैवस्वत मनु ने भारत में देव मर्यादा फिर स्थापित की थी। सूर्य की चार राजधानियाँ थीं : आदित्य नगर, कश्यप नगर, इन्द्रवन और अण्डार। उसने बेबीलोनियाँ और सीरिया विजय करके त्रिविक्रम की उपाधि पाई थी। अरबी में आद सूरज को कहते हैं। आदम भी सूर्य का ही नाम था। हिरण्यकशिपु के बढ़ते प्रभाव को रोकने का सूर्य ने निश्चय किया था। उक्त वेद-मंत्र से प्रेरणा लेकर उन्होंने अपना उपनाम विष्णु रखा था। उनका मुख्य प्रान्त क्षीर-सागर था। जो आज कल पारस की खाड़ी कहलाती है।

विष्णु ने हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष दोनों का वध करवा दिया। तदुपरान्त हिरण्यकशिपु की पुत्री (शुक्र की माता और भृगु की पत्नी) का भी वध करवा दिया था। तभी भृगु ने विष्णु के लात मारी थी। विष्णु वृत्रासुर के बहनोई थे। वरुण ने एक महायज्ञ में सब दैत्य और आदित्यों को बुला कर विष्णु और प्रह्लाद का समझौता करा दिया था। (पृष्ठ-43) तब पूर्वाभिमुख हो विष्णु ने दैत्य मधु को परास्त करके मथुरा तक अपनी सत्ता स्थापित की थी। बाद में दैत्यराज महाबलि ने सब देवों को परास्त कर दिया था। तब विष्णु और इन्द्र याचक बन कर बलि के दरबार में गये थे और उससे यह वरदान प्राप्त किया था कि जहाँ-जहाँ यज्ञाग्नि प्रज्वलित है, वह भाग आदित्यों को दे दिया जावे। विग्रह समाप्त करने हेतु बलि ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली थी। बलि की राजधानी बलि-सुरा अर्थात् बसरा में थी। वरदान प्राप्ति के बाद विष्णु वन (जंगल) जलाते चले गए और उसे देवों का यज्ञाग्नि वाला भाग घोषित करते चले गए। विदिशा की गुफाओं तथा मद्रास के पास समुद्र-तट पर स्थित महा-वलीपुरम् की गुफाओं में दान के यह दृश्य पर्वत शिलाओं पर खुदे हुए हैं।

राजा सुदास देवों के सहायक थे। पर वशिष्ठ सुदास के यहाँ से दक्षिण कौशलस्थ नरेश के राज्य में आ गये थे। निदान उनका नाम कल्माषपाद था। उसने किंकर नामक राक्षस को अपना अन्तरंग मित्र बना लिया था, जिसकी राय से वह नर-मांस खाते खाते वशिष्ठ के सब पुत्रों को मार कर खा गया। वशिष्ठ वहाँ से उत्तर कोशलस्थ महाराज हरिश्चन्द्र के यहाँ चले गये थे। कल्माषपाद का नाश भी विष्णु ने किया था। विष्णु यज्ञ-प्रणाली के समर्थक गवं प्रचारक थे। उन्होंने अपने पुत्र मनु को आर्यावर्त में भेज दिया था। उन्होंने अपने अस्त्र का नाम वीरुध उक्त वेद मंत्र के आधार पर रखा था। भृगु के पौत्र और शुक्र के पुत्र अत्रि ऋषि देव लोक में अति प्रसिद्ध थे। अत्रि के पुत्र ही चन्द्र थे। उनका राज्य ईरान में था। ये असुर कुल के याजक थे। दक्ष ने इन्हें भी 27 कन्याएँ दी थीं। चन्द्र भी इन्द्र के मित्र थे। चन्द्र ने बृहस्पति की स्त्री तारा से गुप्त सम्बन्ध बनाए थे। तारा की वापिसी के लिए पाँचवा देवासुर

संग्राम हुआ था। (पृष्ठ 89) तारा में चन्द्र से उत्पन्न पुत्र ही बुध था। बुध को मनु ने अपनी कन्या ऐल व्याह दी थी और तपोभूमि का वह प्रदेश जो आदित्यों के अधिकार में था, दहेज में दिया था। उसे इलावर्त कहते थे। विष्णु ने मनु और बुध दोनों को वृहत्तर भारत की विजय हेतु भेज दिया था। भारत में मनु ने अयोध्या को राजधानी बना कर सूर्यवंश तथा बुध ने प्रयाग को राजधानी बना कर चन्द्र वंश चलाया। दोनों कुलों ने आर्य मर्यादा स्वीकार की। दोनों के सम्मिलित देश का नाम आर्यावर्त था। मनु ने आर्यों का प्रथम कानून बनाया। इन्हीं के वंशज मानव कहलाये। बुध को पितामह का इलावर्त वाला राज्य भी मिला था।

ब्रह्मचारी कृष्णदत्त ने योग मुद्रा में 17 अप्रैल 1964 वाले व्याख्यान में समीक्षा करते हुए विष्णु का यौगिक अर्थ आत्मा, सूर्य और राजा तो बताया ही है पर विष्णु नाम के महान व्यक्तित्व की भी चर्चा की है। उन्होंने शंख ध्वनि से वेद-ध्वनि, चक्र से यज्ञ संस्कृति-प्रसार, गदा से (पौरुष से) शस्त्रगृही और पद्म से विशिष्ट सदाचार की व्याख्या की है। दैत्यों से छीने अमृत कुंभ को चार धामों में बाँट कर भारत के चार स्थलों पर स्थापना इसी प्रसार प्रक्रिया की स्मृति रूप में की गई थी। यह विष्णु की स्मृति की यादगार है। ब्रह्मचारी कृष्ण दत्त ने यह बात 10-5-68 के उज्जैन व्याख्यान में कही थी जो कि प्रकाशित पुष्प 10 के पृष्ठ 2 पर उद्धृत है। इसी प्रकार अपने 21-8-62 के विनय नगर (दिल्ली) के व्याख्यान में उन्होंने कहा था कि इस सृष्टि के आरम्भ में एक महाराजा विष्णु हुए थे जिन्होंने समुद्र का मन्थन करके 14 रत्न निकाले थे। उन रत्नों के बँटबारे को लेकर ही देवासुर सँग्राम हुए थे। (पुष्प-2, पृष्ठ 119)।

प्राची दिगग्निरधिपति : प्राची दिशा का अधिपति अग्नि है। अग्नि यज्ञ की प्रतीक है। दैत्य राज बलि के आदेशानुसार जहाँ जहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित थी वह देश देवों को दिया गया था। आर्यों ने सारे भारत को यज्ञमय करके उस पर अधिकार कर लिया। अनार्यों में महिष असुर का राज्य मैसूर से बँगाल आसाम तक था। महिषासुर को मनु भरत मुनि ने तिरोहित किया था। स्वारचिष मन्वन्तर में चैत्र वंशी राजा सुरथ कोल का महिष से विग्रह हुआ था। राजा तो भाग गया पर राज-महिषी दुर्गा स्वयं लड़ी थी। दुर्गा ने राजा महिष तथा उसके सेनापति शुम्भ व निकुम्भ एवं चुण्ड व मुन्ड को भी मारा था। इस वंश के ही राजा सुरथ को मथुरा में सूर्य विष्णु ने आकर हराया था। यही भारतीय वाङ्मय की दुर्गा है।

दण्डकारण्य के दक्षिण वैजयन्तपुर में असुराधिपति तिमिध्वज शम्बर का राज्य था। वह रावण का साढ़ू था। उसे भी दिति के पुत्र मय दैत्य को छोटी पुत्री ब्याही थी। उस पर कौशलपति दशरथ ने आक्रमण किया था। पांचालपति दिवोदास भी तब उनके साथ इस युद्ध में था। दिवोदास ने ही शम्बर को युद्ध में मारा था। इसी युद्ध में कैकेयी ने ध्वस्त रथ में उंगलीं डाल कर उसे चालू रखा था और दशरथ से दो वरदान प्राप्त किये थे।

यक्षराज जम्भ नैमिषारण्य के राजा थे। उसके पुत्र सुन्द की ही स्त्री ताड़िका

थी। सुन्द को आर्य ऋषि अगस्त्य ने मारा था जिनका स्थान आधुनिक ग्राम अगतिया (जिला-फर्रुखाबाद उत्तर प्रदेश) में था। ताडिका का ही पुत्र मारीच था। मारीच के दरबार में रावण ने अपने सेनापति सुबाहु को भेज दिया था। विश्वामित्र के यज्ञविध्वंस करने पर राम ने ताडिका तथा सुबाहू को मारा था। ऋक्ष व बानर द्रविण राजा थे जिनसे राम ने सन्धि कर ली थी। उन्होंने आर्य संस्कृति कबूल कर ली थी। नागों के भी कई राज्य भारत में थे। उनका राज्य पाताल लोक तक था। शेष, वासुकि एवं तक्षक उनके प्रसिद्ध वंश थे। सिन्ध में वासुकि का राज्य था। वाकाटक नाग तो आक्रान्ता कुशानो से लड़े थे। वृन्दावन में शालीय नाग था। नागों ने बाद में आर्यों का विरोध किया था। कृष्ण के समय जाकर इन पर आर्यों ने विजय पाई। युधिष्ठिर के नाती जनमेजय ने नाग यज्ञ करके इनका सफाया किया था।

ययाति के पाँच पुत्रों ने विन्ध्य देश जीता था। परशुराम ने दैत्यों पर विजय प्राप्त की थी। कान्यकुब्जाधिपति विश्वामित्र ने अपने 50 परिजनों को दक्षिण पथ में निर्वासित कर दिया था। उस समय आर्यों में जो यज्ञच्युक्त हो जाते थे उन्हें बसने को दक्षिण में भेज दिया जाता था। वे अपने धर्म-कर्म का लगभग निर्वाह करते रहते थे। उदाहरणत: उत्तर में विधिपूर्वक यज्ञ-साकल्य के साथ अन्त्येष्टि की जाती है। पर दक्षिण में शव पर मिट्टी का तेल डाल कर मन्त्रोच्चार से दाह कर देते हैं। सो उन्हें नीचे दर्जे का आर्य माना जाता था। चोल, चेर, पाण्डेय आदि उनके नाम पड़ गए थे।

इस प्रकार यह सारा देश आर्य संस्कृतिमय हो गया था। यज्ञाग्नि के प्रतीक वैष्णव मन्दिर सब जगह बन पड़े। प्राची दिशा का अधिपति अग्नि (यज्ञ) ही है। दिग्विजयी आर्य नाग और असुरों को असित कहते थे। आदित्य अर्थात् देव ही उस यज्ञ के तीर वत रक्षक थे।

दक्षिणांचल में आन्ध्रालय में मनु के पुत्र तुष्यन्ति के पुत्र तृणबिन्दु का राज्य था। पुलस्त्य ऋषि भी आर्य थे। उन्हें तृषविन्दु ने अपनी कन्या विवाह दी थी। पुलस्त्य का पुत्र विश्रवा वेदपाठी था। विश्रवा का विवाह भारद्वाज की कन्या से हुआ था, जिनसे वैश्रवण का जन्म हुआ। इसे कुवेर का पद दिया गया था। त्रिकूट पर बसी लंका उसकी राजधानी थी। (पृष्ठ 21)। यों लंका को दैत्यत्रय माली, सुमाली और माल्यवान ने बसाया था। यह बन्धु कश्यप सागर के उस ओर वाले हिरण्यपुर से अतुल सोना यहाँ के लिए लाए थे। तृतीय देवासुर संग्राम में यह तीनों लड़े थे। माली मारा गया था। शेष दो गुप्त हो गये थे। वे पाताल (अबीसीनियाँ) में रह रहे थे। (आज का) सुमालीलैण्ड नामक उनका छोटा उपनिवेश था। इनकी गैरहाजिरी में वैश्रवण ने लंका पर अधिकार किया। बाद में सुमाली ने अपनी रूपवती पुत्री केकसी भी विश्रवा को ब्याह दी थी। उसी ने रावण को जन्म दिया था। रावण कुवेर का सौतेला भाई था। नाना सुमाली के निर्देशन में उसे रक्ष-संस्कृति प्रिय हो गई थी और उसके प्रसार हेतु ही उसने समस्त भूमण्डल की विजय की। कुवेर ने भाग कर अलकापुरी में आसन जमाया

जो हिमालय में थी। रावण शिव का मित्र तथा शिष्य था। इसलिए उसने जनकपुरी के स्वयंवर समारोह में शिव का धनुष नहीं तोड़ा। आर्य राजा राम ने रावण का विध्वंस किया। विभीषण ने आर्य-संस्कृति पहिले ही मान ली थी। उसे राज्य देकर राम लंका से लौट आये थे। लंका का स्वर्ण उन्हें वहाँ रोक नहीं सका। अपने पुरखा मनु द्वारा निर्मित अयोध्या को स्वर्णवत मान वे वहाँ से लौट आये थे। लक्ष्मण के वहाँ ही बसने के सुझाव को वाल्मीकि ने निम्न श्लोक कहलवाकर राम से निरस्त कराया है :—

यद्यपि स्वर्णमयी लंका तदपि न मे रोचते लक्ष्मण।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

दक्षिण-पथ को यज्ञ-मय आर्य-संस्कृति के हेतु पुनः निष्कंटक बनाने का यह श्रीगणेश था। तब से इस 20 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक वहाँ उससे विद्रोह नहीं हुआ है। अब द्रविण-मुनेता-खगजम (संघ) ने आर्यत्व का विरोध करके वहाँ स्थानिक प्रान्तीय स्वराज्य की आंशिक सत्ता हथिया ली है और प्रयागस्थ (पंडित) नेहरूगणों को उसे अंकुश में रखना पड़ रहा है। उन्हें भारत संघ से बाहर तो जाने ही नहीं दिया जावेगा।

ऊर्ध्वादिग्वृहस्पतिरधिपति : ऊर्ध्वा निश्चय से ऊपर की दिशा है। पृथ्वी गोल होने से हमारी स्थिति के सर्वदा नीचे भी कोई देश होता है और अतएव ऊपर भी। नीचे के देश को पाताल कहा है। मध्य अमेरिका (मैक्सिको) में मयदानव का देश और राज्य था। उसी प्रकार गोलार्ध पर ध्यान देवें तो ऊपर का देश अफ़्रीका महाद्वीप सिद्ध होता है। जो तब भारत के दक्षिण भाग से जुड़ा हुआ था। वरुण (ब्रह्मा) के पुत्र अंगिरा और भृगु हुए। उक्त मंत्र से प्रेरणा पाकर ही अंगिरा के पुत्र को वृहस्पति कहते थे। रजि की प्रार्थना पर उन्होंने शरीर-प्रधान दर्शन रचा था, जिसे बाद में चार्वाक ने वृहद् रूप दिया था। असुर-कुलीय चन्द्र से उनका बैर था। चन्द्र ने उनकी अनुपस्थिति में उनकी स्त्री तारा से व्यभिचार किया था। एक देवासुर संग्राम तारा को लेकर भी हुआ था।

पूर्व के मन्वन्तर में भी अंगिरा के पुत्र उर ने अफ्रीका की विजय की थी। वेद विज्ञान के आधार पर वे यज्ञ द्वारा वर्षा कराने में पारंगत थे। अतः वर्षा ही उनका शस्त्र था, जिससे उस महाद्वीप के लोगों की उनमें श्रद्धा हुई होगी। आचार्य चतुरसेन ने इन पर अधिक खोज नहीं की है।

ब्रह्मचारी कृष्णदत्त ने योग मुद्रा में अपने 17 अप्रैल 1964 वाले व्याख्यान में वृहस्पति लोक का जिकर किया है जो देवों का स्थान है, जहाँ सूक्ष्म शरीर वाले जीव रहते हैं। (पुष्प-4 पृष्ठ-36) पर उन्होंने इसे अन्तरिक्ष लोक में माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्द्र, वरुण, विष्णु, सोम जैसे वेद-प्रयुक्त शब्द हमारे पुरखाओं ने अपनाये थे और फलतः वे चक्रवर्तित्व की ओर अग्रसर हुए। इसी चक्रवर्तित्व की दयानन्द सरस्वती ने पगे-पगे कामना की है। इन 6 मन्त्रों के अन्त में जो वाक्यांश हैं, उसका अर्थ है कि स्तुतिकर्त्ता कहता है कि—उस अधिपति (राजा) को नमस्कार है। उस दिशा को नमस्कार है। जिसकी रक्षा की है, उसको नमस्कार

है। जो शस्त्र प्रयुक्त हुए हैं, उनको नमस्कार है। इनका ऐसा ही हो। जो हम आर्य जनों से द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसको आधिपतिद की दाढ़ में छोड़ते हैं। निश्चयपूर्वक यह चक्रवर्तित्व प्रसारकों को श्रद्धाञ्जलि है। इसी दाढ़ को गीता में कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को दर्शाया है।

संध्या में मनसा-परिक्रमा के बाद उपस्थान के मन्त्र भी रक्खे गये है।

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ यजु० 35/14

प्रलय के पीछे, अन्धकार के आगे, वर्तमान, देवों के देव सूर्य ने अग्नि की ज्योति फैलाई। सूर्य विष्णु ने इसी से प्रेरणा ली और पूर्व की ओर अभियान किया था।

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ऋक् 1.50.1

क्योंकि उन्हें विश्वास था कि यज्ञाग्नि के प्रसारक सूर्य की विजय पताका भूमण्डल में में लहराती रही है। उसमें सारा विश्व पराभूत हुआ दीखता है।

चित्रदेवानामुदादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष९ सूर्य आत्मा जगतस्तस्युषश्च स्वाहा ॥
यजु०7/42

देवताओं का आधार सूर्य सारी पृथ्वी, पाताल और ऊर्ध्व के लोकों का आधार और प्रजापति (राजा) हो। वह सूर्य ईश्वर का अस्त्र है और यज्ञाग्नि का प्रसारक है। उसके राज्य में हम पूर्णतया रक्षित हैं।

और अन्त में नमस्कार है—

नमः शम्भवाय च मयो भवाय च नमः शंकराय च।
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ यजु० 16|41

यहाँ ईश्वर के नाम शम्भु, शंकर, मयस्कर, शिव और शिवतर कहकर नमस्कार किया है। वेदों में से रुद्र ने अपने यह उपनाम चुने थे। वे भी चक्रवर्तित्व के विस्तारक थे। आचार्य चतुरसेन ने यह सब दिग्विजय अन्तिम खण्ड प्रलय के बाद हुई बतायी है और उसका समय 3200 ईसा पूर्व लिखा है। आचार्य चतुरसेन ने इस खण्ड प्रलय में बचे नूह को ही मनु माना है। ऐसे ही विवरण ओल्ड टेस्टामेण्ट (बाइबिल) में भी है। परन्तु युधिष्ठिराब्द सम्वत् को ही 5000 वर्ष होते हैं। राजतरंगिणी कृत काल-विन्यास से 5000 वर्ष महाभारत को होते हैं। यह सब घटनाएँ तो अत्यन्त पुरानी हैं। यह वास्तव में उक्त खण्ड प्रलय से पूर्व का सम्पूर्ण जल-प्लावन है। मरीच कश्यप ने उसके बाद इन भूभागों में भारत से जाकर साफ कराया था और वरुण ने जल को निकाला था। भारत के सपूत इस मरीच कश्यप को ही स्वायम्भुव मन्वन्तर के मनु ने यह पृथ्वी दान कर दी थी और उसी को जल प्लावन के बाद कश्यप सागर से ईरान तक के भूभाग को जल से निकालकर बसाने और साम्राज्य स्थापित करने का श्रेय है। उसके पुत्र सूर्य की सन्तान मनु (वैवस्वत मनु) ने पुनः भारत में लौटकर आर्य मर्यादा

स्थापित की थी। हमारे वाङ्मय में हर मन्वन्तर के प्रारम्भ में प्रथम विधि-स्थापक राजा की संज्ञा 'मनु' कही है। वैवस्वत से पहले हमें 6 मन्वन्तर और मिलते हैं। इनसे ठीक पिछले मनु स्वायम्भुव मनु थे। वे भी चक्रवर्ती थे क्योंकि उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अग्नीध्र को जम्बूदीप दिया था। अग्नीध्र ने जम्बूदीप अपने 9 पुत्रों में बाँट दिया था। उसके बड़े पुत्र नाभि को हिमालय से अरब सागर तक का देश दिया था। उन्हीं के पुत्र ऋषभ देव थे। ऋषभ देव के पुत्र भरत ने 9 द्वीप विजय करके इस देश का नाम भारतवर्ष रखा था। (पृष्ठ-27)

इनके क्रम में 4 मनु और हुए :

स्वारोचिष, उत्तम, तामस और रैवत।

स्वायंभुव के दूसरे पुत्र उत्तानपाद की शाखा से छठा मनु हुआ। उसे चाक्षुष मनु कहते हैं। इस वंश का प्रथम राजा पृथुवेन था। उसने भारत की भूमि साफ़ कराई और उनकी संज्ञा पृथ्वी हुई। इन 6 मनुओं का काल 1300 वर्ष होता है और सतयुग कहाता है। इसी के अन्त में वहप्र सिद्ध प्रलय हुआ जिसमें कश्यप सागर तक की सारी भूमि जल से ढक गयी थी। केवल मनु जीवित बच गये थे। इसी जल-प्लावन से नष्ट भूभाग का का उद्धार मरीच कश्यप ने भारत से आकर किया था। (पृष्ठ 27) स्वारोचिष शाखा के मनु के वंशज अत्यराति भी चक्रवर्ती थे। वे पर्शिया में जमे थे। उसे तब वैकुण्ठ धाम कहते थे, जो उनकी राजधानी थी। वह सुमेरु पर्वत पर थी। उन्हीं का भाई प्रसिद्ध विजेता मन्यु है। तीसरे भाई उर ने अफ्रीका, सीरिया, बेबीलोनिया प्रभृति जीता था। अप्सरा उर्वशी उसी देश की थी। उर ने ही अब्राहीम से मिश्र जीता था। चौथे भाई पुर थे। उर के पुत्र अंगिरा ने शेष अफ्रीका जीता था। ईरानी लोग हार जाने पर अंगिरा और मन्यु को मिलाकर शैतान के अर्थ में इसीलिए प्रयुक्त करते थे। पाश्चात्य देशों के इतिहास इन्हीं 6 की विजयगाथाओं से भरे पड़े हैं। मिल्टन ने इन्हीं की विजयगाथा लिखी है। प्रलय में यह मनु ही बच रहे थे और हिमालय में जा उतरे थे। (पृष्ठ 29) अतः वैवस्वत मन्वन्तर की सृष्टि हिमालय में तिब्बत से ही शुरू हुई जैसा कि दयानन्द सरस्वती ने माना है। [इस प्रसंग में विख्यात दैनिक पत्र टाइम्स आफ इण्डिया के 3 नवम्बर 1975 के अंक में छपे हुए एक समाचार को उद्धृत करना समीचीन होगा] :

Ladakh claimed to be Aryans' original home

JAMMU, November 2 : Ladakh and Tibet were the places of origin of Aryans. This claim has been made by Mr. Jagdish Chander Shastri, a noted Sanskrit scholor, in a book "Aryon ka Udgam Sthan Tatha unki Mool Bhasha.

Mr. Shastri has backed his theory with profuse quotations from scriptures.

The book was released by Mr. R. K. Takkar, Divisional

Commissioner of Jammu, in the presence of a distinguished gathering yesterday.

Mr. Takkar said, "It is regrettable that we have to know our past from books by foreign scholars who have presented events with a deep bias." Therefore, Mr. Shastri's book is a laudable attempt.

Speaking on the occasion, Mr. Shastri said foreign conquerors had distorted Indian history to suit their own ends.

Mr. Shastri's book brings out several interesting facts of ancient India regarding the Rig Veda, knowledge of astronomy, development of Aryan eductional insitutions, ancient Sanskrit names of several countries in the west given to them by the Aryans during their migration from India but later on changed into present names.

Regarding the cradle of the Aryans, the book has referred to the Manu legend and deluge as given in Shatpatha Brahmana. It clearly indicates that when the deluge swept everything else, Manu took shelter in his boat near the highland of Mansarovar lake.

The very name Mansarovar is from Manusarovar or Manasarovar that is Manu's lake where Manu pondered over the future of the world. As in and around Manasarovar, Nature was in its statrk grandeur, the Aryans were originally nature worshippers.

Mr. Shastri also asserts that because of their origin in the Himalayas, this mountain has been given a place of pride in all Aryan literature naming it as Devagiri (Parbat Raj). Their language then was known as Devagiri which with time changed into Devogiri.

It also says that the first educational institution of the Aryans was in Kashmir and named Vedahyapan Uch Sabha.

इस प्रकार इस सम्पूर्ण प्रलय के पूर्व और उपरान्त का सारा काल देवों की विजयगाथा और राज्य स्थापना से भरा पड़ा है । यह असत्य है कि आर्य विजय हेतु भारत के बाहर नहीं गये । चक्रवर्तित्व हमारी नसों में है, और वह महत्त्वाकांक्षा नष्ट नहीं होनी चाहिए ।

ब्रह्मचारी कृष्णदत्त ने अपने 3 तथा 4-9-69 के माडल टाउन दिल्ली के व्याख्यान में कृष्ण महाराज के गीता वाले वाक्य 'सूर्या अंग्रते अवभ्र कृति' पर टिप्पणी

की है कि कृष्ण महाराज की आत्मा आदि मनु बनकर सातों मन्वन्तर में प्रगट हुई है। प्रथम मन्वतर में उन्होंने सूर्य और अक्षवा को ज्ञान दिया था। (पुष्प-12 पृष्ठ-12 एवं 142)

यह आर्यों के साम्राज्य विस्तार की कहानी है। इसी मनु ने द्वापर में कृष्ण बनकर भारत को महाभारत बनाया था, उसका वर्णन उत्तरार्ध में करेंगे।

9

वैदिक चिन्तन में राज्य शक्ति

9.01 राज्य शक्ति की इयत्ता

वैदिक राजदर्शन अराजक समाज में विश्वास नहीं करता, जिसे कि साम्यवादी दर्शन अवश्यंभावी गन्तव्य या पाथेय मानता है। प्रारम्भ की कोई भी स्थिति रही हो, पर विकास के चरण वैदिक राजनीतिक त्रैतवाद में आरम्भ की अवस्था की ओर वापिस नहीं जाते, इसीलिए विश्व के आदि ग्रन्थ वेद में प्रजानुरंजन और न्याय के प्रचलन के लिए राज्यशक्ति के अंग-प्रत्यंग और संगठन का पूरा विवरण है। वेदों के ईश्वरीय कृति होने से यह मानना पड़ेगा कि राज्य शक्ति जीवों को प्रभु की देन है। जैसे उसने अन्य भोग पदार्थ कृपा करके जीव को दिये हैं, वैसे ही उसने भोग पदार्थों के समीकरण हेतु तथा जीव को उसके कर्मानुसार फल देने हेतु राज्य शक्ति सम्बन्धी तन्त्र का ज्ञान सृष्टि के आदि में ही मूल रूप में दे दिया था।

ऋग्वेद (10/173) में कहा गया है कि राज्याध्यक्ष की यह महत्त्वाकांक्षा हो कि जनता-जनार्दन उसकी कामना करे। इसमें योरुप में प्रचलित ठेके (Contract) के सिद्धान्त जैसी बात आयी प्रतीत होती है। पर वास्तव में जैसे मनुष्येतर अन्य योनियों और अयोनिज जीवों का प्रबन्ध ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यम, रुद्र, कुबेर, बसु और वायु आदि रूप होकर करता है; वैसा ही राज्यभक्ति का विनियोजन पृथ्वी पर अपेक्षित है। एक ईश्वर तो नाना प्रकार के कार्यों को अविभक्त इकाई होकर भी कर सकता है, पर मानवीय राज्याध्यक्ष के ऊपर सब विभागों का बोझ नहीं डाला जा सकता। अतः पृथ्वी के राज्यों में शक्ति-विभाजन स्कन्धों में करना ही होता है।

राज्यशक्ति जीवों के अपने हित में भी थी। जनता को मत्स्य न्याय (जिसकी लाठी, उसकी भैंस) से बचाने के लिए दण्ड व्यवस्था की आवश्यकता थी। इसलिए

प्रजा ने एकत्रित होकर एकमत से राज्य के तन्त्र का निर्माण किया और राज्यशक्ति को इन्द्र की संज्ञा दी। वेदों में व्यवस्थापक के रूप में भगवान को इन्द्र कहकर सम्बोधित किया गया है, जो कि न्यायकर्ता है।

भगवान के नामों में से इन्द्र शब्द उन्हें सबसे अधिक पसन्द आया। इन्द्र ही उन्हें युद्ध जिताएगा और उनकी आक्रामक से रक्षा करेगा। ऋग्वेद के 8/35/17 एवं 8/186/10 व 11वें मन्त्रों में प्रजा द्वारा ऐसे इन्द्र के 'निर्वाचित' किए जाने का भी उल्लेख है। सारे देवताओं ने अपनी-अपनी सेवायें इस इन्द्र को जा समर्पित की थी। ऐतरेय ब्राह्मण (1/24) में उल्लेख है कि बसु, रुद्र आदि देवताओं ने वरुण की शरण में जाकर अपने-अपने तन-मन-वचन राज्य शक्ति को अर्पण किए। (Convenanted) अर्थात् तनुनान्यत्र किए। इसलिए राज्यशक्ति को यत्र-तत्र देव द्वारा उत्पन्न (ऋग्वेद 10/173 में एवं अथर्व 8/17 में भी) कहा है। कहीं-कहीं उसे अर्ध देव भी कहा है। जैसे (ऋग्वेद 4/42/8/9 में)। ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्य शक्ति के स्रोत समझाने का एक कथानक आया है। उसके अनुसार दायभाग के लिए दो बहिनों (दिति की सन्तान दैत्यों और अदिति की सन्तान आदित्यों) में 12 देवासुर संग्राम हुए। दैत्य विजयी होते दिखाई दिए तो आदित्यों ने मिलकर एक को नेता चुना और उसे इन्द्र की उपाधि दी। (शतपथ ब्राह्मण)। तदनन्तर एक-दूसरे के भय से प्रजापति (देव-पक्ष) ने अपने पुत्र इन्द्र को और दैत्य पक्ष में हिरण्यकश्यप के पुत्र प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन को छिपा दिया। देव तब प्रजापति के पास गये और उसके पुत्र इन्द्र को माँग कर उसका राजतिलक किया। प्रजापति भी प्रमुख था। अन्य देव भी प्रमुख थे। सब ने मिलकर राज्य-तन्त्र का निर्माण किया। यह राज्यशक्ति ईश्वरीय केन्द्रीय शक्ति की नकल मात्र थी। कुछेक प्रशंसकों ने कहा है कि दाय सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्व पूर्ण करने के हेतु अपने सब अधिकार ईश्वर ने राज्य शक्ति को दे दिए हैं।

राज्य शक्ति के बारे में सृष्टि के प्रारम्भ में वेद ने जो कुछ कहा है, वह पक्षपात रहित है। वहाँ किसी वंश, परम्परा या विजेता के पक्ष-स्थापन के लिए कुछ नहीं कहा गया है, क्योंकि इन सबसे पहिले वह कह दिया गया था। अतः यहाँ उन भावों का अध्ययन करना हमारे लिए लाभदायक रहेगा। आदि मानवों ने जब भगवान की नकल पर भूतल में राज्यशक्ति के रूप में इन्द्र की स्थापना की थी तो वे इस इन्द्र से बड़ी अपेक्षाएँ रखते थे। जन्म से ही मानव अपने को किसी राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत समझाने को बाध्य है। अतः उसने प्रत्युपकार में राज्यशक्ति से अवश्य वह सब पाया ही होगा। राज्यशक्ति प्रभु के सौंपे कार्य को पूरा कर रही है। राज्य शक्ति के जो सात स्कन्ध हैं उनके विनियोजन और शक्ति सन्तुलन में परिवर्तन किया जा सकता है, परन्तु संस्था के रूप में राज्य शक्ति अमर है। वैराज्य की स्थिति सृष्टि के आदि में होती है या मुक्तात्माओं के देश में। संसार का प्रजनन-विस्तार हुए पीछे वैराज्य असम्भव है।

9.02 राज्यशक्ति के बारे में योरुपीय चिन्तन

योरुप में राज-दर्शन के आदि पुरुष प्लेटो के अब से 2400 वर्ष पूर्व हुए विचारों से प्रारम्भ करके दयानन्द सरस्वती के कार्य के पूर्व तक वहाँ क्रमश: जो-जो वाद राज्यशक्ति के स्रोत और उसकी अपरिहार्यता के विषय में स्थापित किए गए उनको हम पहिले लेते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि वे दर्शन वहाँ की तात्कालिक सामाजिक समस्या को सुलझाने को ही उपस्थित किए गए थे। उनमें शाश्वतत्व और नैतिकता का हेतु न था।

(1) **प्लेटो** (427 ई० पू०—346 ई० पू०) : राज्य को एक नैतिक इकाई अवश्य मानता था। वह मनुष्य को सुपथगामी बनाने के लिए भी राज्य का होना आवश्यक मानता था। परन्तु राजतन्त्र चलाने का काम वह योग्य व्यक्तियों को ही देने के पक्ष में था न कि सर्वसाधारण को। अज्ञानी का अधिकार है कि वह ज्ञानी द्वारा शासित हो। पर वह राज्य को केवल न्याय करने का काम सौंपता था। श्रम विभाजन को ही वह न्याय का मूर्त रूप मानता था। उसने गुलामी की प्रथा का समर्थन भी इसीलिए किया था। स्पष्ट है कि ग्रीक नगर-राज्यों के सुधार के अपने विकल्पों को समर्थन देने के लिए ही उसने अपना दर्शन शास्त्र तैयार किया था।

(2) **अरस्तू** (384 ई० पू०-322 ई० पू०) : उसका कथन था कि अकेला व्यक्ति या तो खुदा है या जंगली जानवर अन्यथा उसे अपने अभ्युत्थान के लिए समाज और राज्य की आवश्यकता है ही। राज्य का उद्देश्य उसके अनुसार, प्रजा को आनन्द और सुविधा का जीवन प्राप्त कराना है। वह भूमि के आधे पर राज्य का और शेष आधे पर प्रजा के अधिकार का समर्थन करता है। राज्य वाले आधे के आधे को मन्दिर के लिए और शेष आधे को गरीब सर्वसाधारण प्रजा के उपयोग के लिए प्रयोग करने का उसने नियम बनाया था। वह योग्य आदमियों के शासन में विश्वास न रखकर बहुमतीय सिद्धान्त में विश्वास रखता था। उसका कथन था कि शक्ति (Power) योग्य व्यक्तियों को शीघ्र कलुषित (Corrupt) कर देती है। वह राज्य को पृथ्वी पर भगवान की मनुष्य को अनुपम भेंट समझता था। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य न केवल न्याय प्रबन्ध करना बल्कि उनकी आत्माओं का उद्धार करना और नागरिकों को श्रेष्ठ बनाना भी है। गुलामी की प्रथा में उसका भी विश्वास था। मध्यम वर्ग द्वारा चलाए जाने वाले प्रजातन्त्र को वह श्रेष्ठतम राजपद्धति मानता था। उसने प्रजा को चार के स्थान पर 9 सूत्रीय विभाजनों में बाँटा था।

अरस्तू सिकन्दर महान का गुरु था, जिसने विजय से राज्य निर्माण किए थे। अत: अरस्तू के दर्शन में सब व्यक्तियों की समानता से इन्कार है। विजित प्रजाजनों को वह नागरिकता के अधिकार न देकर कहता था कि विजेताओं तथा उनमें वही रिश्ता है जो जानवरों और पौधों में है।

(3) **सिसरो** (106 ई० 43 ई० पू०) : ग्रीक सिकन्दर महान् की

(Imperialist) साम्राज्यवादी विचारधारा का संरक्षण इस रोमन दार्शनिक ने दिया था। अतः वह कानून और उसके लागू करने वाले के आधिपत्य को बिना ननु-नच के मानने का दृष्टिकोण प्रस्तुत करता था। तो भी वह कानून के समक्ष सब नागरिकों को बराबर मानता है। हाँ धन, वैभव व योग्यता में सब प्रजाजन कदापि बराबर नहीं हो सकते थे। सीजर के विशाल साम्राज्य स्थापित हो जाने से उसका दर्शन उस साम्राज्य की स्थिरता के हेतु ही गढ़ा गया था। वह शासक की इच्छा को ही कानून का स्रोत समझता था। राजा कानून का उल्लंघन करने को स्वतन्त्र था, पर देश के रीति-रिवाजों का नहीं।

(4) **आगस्टाइन** (27 ई० पू० से 14 ई०) : यह सीजर महान् के भानिज दामाद का लड़का था। उसने बिखरे कानूनों का संग्रह किया और साम्राज्य के प्रति निष्ठा के सिद्धान्त को परिमार्जित किया। सम्राट् को उसने सदैव न्यायी और सत्यवान् की संज्ञा दी थी।

(5) **ईसा मसीह** : क्राइस्ट ने सीजर के रोमन साम्राज्य के खिलाफ विद्रोह किया था, पर वह निःशस्त्र प्रतिरोध था। उसने कहा कि सीजर को टैक्स दो, पर वही सब कुछ नहीं है। उसके ऊपर प्रभु परमात्मा का राज्य है। पर चूंकि कोई राजनैतिक पार्टी उन्होंने नहीं बनाई थी, अतः राजदर्शन में उनकी देन नहीं मानी जाती है। पर राज्य की सर्वशक्ति मान्यता से उन्होंने इन्कार किया। व्यक्ति की गरिमा का बखान किया। उसने यहूदियों में स्वाभिमान पैदा किया।

(6) **सैण्ट आगस्टाइन** (354 से 414 ई०) : उसका दृष्टिकोण था कि राज्य तो चर्च का न्याय व व्यवस्था सम्बन्धी विभाग मात्र है जिसे सर्वदा चर्च के नेतृत्व की आवश्यकता है। परन्तु वह राज्य को ईश्वर द्वारा स्थापित संस्थान भी मानता था। अफ्रीकी होते हुए भी वह पादरी था तथा उसके वेजेण्टाइन क्षेत्र के पूर्वी भाग का अध्यक्ष था। अतः रोमन साम्राज्य के संरक्षण हेतु ही उसने अपना दर्शन रचा था। जब अलारिका ने 413 ई० में रोम का नाश कर दिया तब वह ईसाइयों के विरुद्ध हो गया। और अलारिका के प्रति राज्यभक्ति का उपदेश देने लगा।

उसने कहा कि अदन के बाग में गिरने के बाद से मनुष्य नीचे गिर चुका है। उस पर रोक रखने के लिए राज्य अनिवार्य है। जैसे-जैसे मनुष्य को राज्य दुःखी करता है, मनुष्य पवित्रतर होता जाता है। अतः क्रूर राज्य प्रभु की इच्छा ही पूरी करते हैं।

स्वर्ग में प्रभु का राज्य है। उसकी परछाईं रूप दुनिया में राज्यशक्ति है। अस्तु राजाज्ञा पालना धर्म है।

(7) **इस्सीडोर सैनिली** : (672-635 ई०) : इनका मत था कि न्याय करने से राजा राजा कहलाने का अधिकारी है। एक तो प्रभु का कानून है, दूसरा मनुष्य का। यदि राजा न्याय न करे तो उसे हटाकर उसका वध तक किया जा सकता है।

(8) **ग्रेगरी महान्** (540 ए० डी०) : इसने पोप के महान पद की नींव डाली। उसने कहा कि सारे योरुप के राजा और पादरी रोम के पोप के अधीन हैं।

(9) **जान सैलिसवरी** (1119 ई०) : इसने कहा कि राज्य शक्ति पूजा के योग्य है। यदि राजा जुल्म करे तो उसे हटा दिया जाए। उसे बुद्धिपूर्वक शासन करना चाहिए। राजा का शस्त्र वाला हाथ शत्रु के लिए तथा निःशस्त्र हाथ प्रजा के लिए है। कानून द्वारा राजा के अधिकार निश्चित हैं।

(10) **सैण्ट थोमस अकुआनस** (1225-1274 ई०) : इनके अनुसार राजनैतिक शक्ति का स्रोत ईश्वरीय नियम है। राज्य के माध्यम से मनुष्य का हित होता है राजा का ध्येय प्रजा की सेवा होना चाहिए।

(11) **फारिटिसक्यू** (1394-1484 ई०) : यह नियमित शक्ति वाले राजा के पक्ष में था जिसे प्रजा ने स्वेच्छा से शासन करने को कहा हो। उसने राज्य की शरीर से उपमा दी और राजा को शरीर का तना, कानून को नस-नाड़ियाँ तथा प्रजा की इच्छा की हृदय से तुलना की।

(12) **डाण्टे** (1309 ई०) : यह धर्म निरपेक्ष विश्व साम्राज्य द्वारा विश्व शान्ति सम्भव मानता था। उसने पोप को लौकिक विषयों में शक्ति-प्रयोग करने से रोकने का मत प्रगट किया था। उसने कहा जैसे पोप की शक्ति का स्रोत ईश्वर है, वैसे ही सम्राट् की शक्ति का स्रोत भी ईश्वर ही है। यह इटैली में राष्ट्र भक्ति के उदय का समय था, अतः पोप का खंडन आवश्यक हो गया था। उसने रोमन साम्राज्य तथा रोमन जाति को प्रभु द्वारा स्थापित बताया।

(13) **मारसीलियो आफ पंडुआ** (1274 से 1343 ई०) : उसने कहा कि राज्य तो बड़ा है। चर्च तो उसका एक विभाग मात्र है। इटैली में चर्च सुशासन में बाधा डालता था। सो उसने चर्च की शक्ति का खंडन किया। उसने कहा कि पोप पादरी तो आत्मा के रोगों को दूर करने के लिए है। धर्म का कानून अगले जन्म के लिए है। इस जन्म में राज्य ही साधिकार है। पादरी पर कोई विवशकारी अधिकार नहीं होना चाहिए।

(14) **निकोलस क्यूसेन्स** (1401-1464) : इसने पोप की प्रथा समाप्त करने की बात कही। पोप को एक परिषद् के अन्तर्गत काम करना चाहिए। राजा के सर्वाधिकार पूर्ण होने का उसका मत था।

(15) **मछिया बेली** (1464-1520 ई०) : इसने राज्य सत्ता के सर्वशक्ति सम्पन्न होने का पुरजोर समर्थन किया। राष्ट्र के हित में उचित-अनुचित सभी बातें करने का अधिकार राज्य को उसका राज्यदर्शन ही देता है। वह इटैली में रोमन साम्राज्य जैसी शक्ति के पुनः उदय का इच्छुक था। पहिले तो जब वह स्पेनिश में डिकी के साथ इटैली में आया तो प्रिन्स नामक पुस्तक में उसने राजा की प्रशंसा की। परन्तु मनुष्य को पापी और बेईमान मानने के कारण उसने वजनदार राज्य की हिमायत की जो शक्तिपूर्वक अपनी हर बात अपनाए।

(16) **जीन बोडीन** (1530-46 ई०) : यह सम्पत्ति के अधिकार को मूलभूत मानता था। राज्य का कर्तव्य है कि उस अधिकार की रक्षा करे। राज्य की सर्वतन्त्र सार्वभौमिक सत्ता है। उसे कोई कम नहीं कर सकता। राज्य की प्रभुसत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकता। केवल ईश्वर ही का उस पर नियन्त्रण है, ऐसा वह मानता था।

(17) **रिशेल्यू** (1540 ई०) : यह फ्रेंच राजदर्शनकार सभी वस्तुओं को राज्य के सर्वाधीन करता है। राज्य शक्ति का कार्य प्रभु की इच्छा को कार्यान्वित करना है। चर्च, लार्ड, सरकारी कार्यकर्ता, सर्वसाधारण यह उसका सम्मान देने का क्रम था।

(18) **डिकार्टे** (1596- 1650 ई०): यह बुद्धिवादी था—जो बात बुद्धि में न आये उसे मानने से इन्कार करता था। अतः धर्म निरपेक्ष तथा प्राकृतिक नियम से बँधे राज्य के वह पक्ष में था।

(19) (**विनस्टेन्टली** 1648 ई०) : उसने कहा था कि सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने भोगों का भण्डार मनुष्य मात्र के लिए दिया और किसी को दूसरे के ऊपर शासन करने का अधिकार नहीं दिया। मिल्टन ने राजा को प्रथा के विरुद्ध लिखा था। दोनों ने कहा कि राजा प्रजा का जन्म सिद्ध अधिकार नहींछीन सकता। उसने एकसंघीय कौन्सिल द्वारा शासन करने की व्यवस्था का अनुमोदन किया।

(20) **हाब्स** (1585-1616 ई०) : नागरिक जीवन को सुव्यवस्थित बनाये रखते के लिए जो प्रभुसत्ता स्थापित होती है, वही राज्य संस्थान है। होब्स एक आदर्श राज्य की व्यवस्था करता है। यह प्रभु सत्ता जिस किसी में भी निहित हो, उसके अधिकार विस्तृत और सर्वांगीण होने चाहिए—फौज पर, कोष पर, और शासन पर। उसके प्रजातन्त्र की व्याख्या ही यह है कि जहां सारी जनता स्वयं मिलकर नियम बनाती हो, न कि प्रतिनिधि चुन कर उनसे नियम बनवाती हो। उसे कार्यपालिका, न्याय तथा कानून बनाने आदि के समस्त अधिकार प्राप्त होने चाहिए। जिसे हम आज प्रजातन्त्र कहते हैं, जिसमें प्रतिनिधि शासन करते हैं उसे तो होब्स अरिस्टोक्रेसी (कुछ विशेष व्यक्तियों का शासन तन्त्र) कहता है। इसी प्रकार राजतन्त्र वह उसे नहीं मानता जहाँ राजा होता हो, वरन उसे मानता है, जहाँ सारी शक्तियाँ एक व्यक्ति में निहित हों, वह व्यक्ति चाहे किसी नाम से भी चुना जाता हो। राज्य में प्रशासन, न्याय और नियमन के अधिकार पृथक्-पृथक् सत्ता में बाँटे जाने का वह विरोधी था, क्योंकि राज्यशक्ति तीन परस्पर ईर्ष्यालु अंगों में बँट जाती है।

जब विधान निर्मात्री संसद में सब जनता बैठा करेगी तो उसके निर्णयों के विरुद्ध कोई आवाज न उठा सकेगा। परन्तु जब थोड़े लोग ही कानून बनाते हैं, तो व्यक्ति ऐसा कर सकते हैं। होब्स का प्रभुसत्ता सम्पन्न शासक ऐसा है कि जिसे तथा जिसकी शासन प्रणाली मानने को जनता बाध्य है, क्योंकि जनता ने ही तो उसे अपने हित-संरक्षण के लिए बनाया है।

उपरोक्त तीनों पद्धतियों में होब्स एक व्यक्ति के शासन को श्रेष्ठ बताता है,

क्योंकि वह जनता तथा व्यक्ति के हितों में ताल-मेल रख सकता है। उसका गौरव उतना ही बढ़ता है जितना उसकी जनता सुखी और समृद्ध होती है। उसकी आवश्यकताएँ सीमित है। वह राज्य से निजी लाभ उठाता है, तो उसकी मात्र और प्रजा पर प्रभाव अत्यल्प होगा। पर प्रजातन्त्र में राज्य श्री से अनुचित लाभ उठाने वाले अनेकों होते हैं। एक व्यक्ति जहाँ कहीं योग्य व्यक्ति देखेगा उससे विचार विमर्श कर सकता है, पर प्रजातन्त्र में वह क्षेत्र सीमित हो जाता है तथा अनेकों सदस्य सदा परस्पर विरुद्ध सम्मति देते हैं। होब्स की यह सम्मति है कि इस एक शासनाध्यक्ष को ही जीवनकाल में अपना उत्तराधिकारी घोषित करने का अधिकार हो, परन्तु उसका चयन क्षेत्र उसके परिवार तक ही सीमित करने का वह विरोधी था।

(21) **जान लाक** (1932-1704 ई०): लाक मुख्य रूप से स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध था। इसीलिए उसने प्रजा की सहमति का सिद्धान्त स्थापित किया था। वह इसका विरोधी था कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर की प्रतिकृति होने से सदैव वन्दनीय और अनुकरणीय है। यद्यपि यह सत्य है कि पितृ-मूलक परिवार में मुखिया के शासन की अगली सीढ़ी हो प्रजा द्वारा एक व्यक्ति मात्र को शासन भार सोपने की प्रक्रिया है। परिवार में पिता का शासन ईश्वर की आज्ञा से नहीं था, वरन बच्चों की स्वीकृति से था, जो कि बचपन का अनुशासन कृतज्ञता रूप से आजीवन स्वेच्छा से चालू रखते थे। अस्तु सर्वप्रथम राजा का राज्य एकतन्त्रीय था और स्वेच्छाचारी था, पर वह प्रजा के प्रति निष्ठावान हो होता था। जब उन्होंने उसे स्वार्थी और उद्दण्ड होते पाया तो उसकी स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगाने प्रारम्भ किये।

परन्तु जनता से लाक का स्पष्ट तात्पर्य स्वतन्त्र नागरिकों से है, जो किसी दूसरे नागरिक के नौकर न हों, जैसे खेत या मील के मजदूर, सिपाही तथा भुखमरे, घुमक्कड़, स्त्रियाँ और बच्चे, क्योंकि यह सब तो आर्थिक रूप से किसी के आश्रित हैं। अतः इन्हें वोट का अधिकार देना, इनके आर्थिक संरक्षक को कई वोट देने के तुल्य होने से लाक इन्हें मताधिकार देने का विरोधी है।

राज्त में प्रभुसत्ता का निवास लाक उस संस्थान में मानता है जो कानून बनाती है, जिन्हें मानने को प्रजा वाध्य है। परन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि चाहे जो कुछ कानून वह बना दे, प्रजा उसे सदैव मानने को बाध्य है।

लाक (Perrgative Power) स्वनिर्णय से यथावश्यक तुरन्त निर्णय करने शासनाध्यक्ष के अधिकार के पक्ष में है।

(22) **स्पिओनोआ** (1634-1677 ई०): यह यहूदी राजदर्शनकार यह मत रखता था कि प्राकृतिक अवस्था में कोई सभ्य-मूल्य निर्धारित नहीं हो सकते। अतः मनुष्य स्वभावतः समाज बनाकर उसमें रहता है। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। आवश्यकता-वश समाज और राज्य बनते हैं। राज्य का उद्देश्य शासन करना नहीं वरन जनता की सेवा करना है और उन्हें निर्भीक बनाना है। राज्य मनुष्य के लिए है। मनुष्य राज्य के लिए नहीं है। राज्य की इच्छा इसीलिए सभी की इच्छा मानी जा सकती है।

(23) **विको** (1665-1944) ई० यह इटैलियन राजदर्शनकार इतिहास को समझने के लिए प्रवृत्तियों और उसके निर्मित कानूनों को समझना आवश्यक समझता था। वह उसे पदार्थों की गति से उत्पन्न वस्तु नहीं समझता था। उसका मत था कि प्रभु की इच्छा द्वारा ही इतिहास की गति बनती है, और घटनाएँ होती हैं। प्रारम्भ का मनुष्य आदर्श व्यक्ति नहीं था। बुद्धि के कारण लोगों ने परस्पर बहस करके निर्णय करने की पद्धति सोची। यह पद्धति ही प्रजातन्त्र है। प्रारम्भिक जल प्लावन के बाद मनुष्यजाति दो भागों में बँट गई थी। 1. भले आदमी तथा 2. जंगली व्यक्ति। जंगली व्यक्ति तो डर से गुफाओं में भाग गये। अन्त में अब समाज बुद्धिजीवी बना है। इन तीन प्रकारों में से हर देश को गुजरना पड़ा है।

(24) **मान्टेजक्यू** (1689-1755 ई०): यह फ्रेंच राजनीतिकार था। पर उसकी प्रजातन्त्र वाद से कोई सहानुभूति न थी। शासन के तीन अंगों का सिद्धान्त उसी ने प्रस्तुत किया था। वे अंग थे : कार्य पालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका। इनमें राज्य की शक्ति बाँटने तथा एक-दूसरे का काम देखते रहने तथा उस पर रोक लगाने के अधिकार भी तीनों में से प्रत्येक को उसकी योजना द्वारा दिए गये थे। अमेरिका का स्वतन्त्र विधान 1783 ई० में इसी की शिक्षाओं के आधार पर बना था। वह बहुमत के द्वारा निर्णय के सिद्धान्त का मुख्य प्रस्तोता था। परन्तु राजतन्त्र का समर्थक होते हुए भी वह उसे निरंकुश नहीं होने देना चाहता था।

(25) **रूसो** (1712-1792 ई०): रूसो का विश्वास था कि प्रजा की संस्कृति और उसका चरित्र वैसा बन जाता है जैसा वहाँ का राज्य तन्त्र उसे बनाना चाहता है। अतः राज्य का वह स्वरूप श्रेष्ठतम है जिससे प्रजा का उन्नयन हो। पूर्व काल में राजा अपनी प्रजा के चरित्र-निर्माण को आवश्यक अंग समझता था। आजकल तो प्रजा से कर वसूल कर लेना मात्र ही राज्य की सफलता का द्योतक है। रूसो कहा करता था कि शासन को चाहिए कि जनता को अपने उद्देश्यों के अनुरूप बनाये न कि वह जनता की सनक के अनुसार बन जावे।

रूसो का कहना है कि हरेक राष्ट्र की अपनी-अपनी एक परम्परा होती है। जिसका दिग्दर्शन भी वहाँ के विधान में होना चाहिए।

राज्य शक्ति के तीन विभाग : व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका वह भी स्वीकार करता है। पर व्यवस्थापिका का कार्य वह प्रचारात्मक मानता है। रूसो ने यह बात धर्मवत् मानी थी कि नागरिकता का पालन एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। एक राज्य में ऐसे विभिन्न धर्मों के लोगों में सहिष्णुता होना उसे वांछनीय था।

(26) **एडमंड वर्क** (1720-1797 ई०): वर्क रक्त रंजित क्रान्ति के विरुद्ध एक शान्तिप्रिय एवं अनुदार (Conservative) राजदर्शनकार था। राज्य को वह दिवंगत एवं जीवित व्यक्तियों के बीच की कड़ी मानता है, जो कि उन्हें भविष्य में पैदा होने वालों से मिलाती है। अतः हर समाज के ऐतिहासिक क्रम में उद्भूत् रीति-रिवाज व संस्कृति उस देश के कानून में परलक्षित होने चाहिए। राज्य तो सभ्यता का ट्रस्टी

है। वह राज्य प्रबन्ध का अधिकार उन्हीं को देना चाहता था, जिनका राज्य में कुछ है, जिसके नष्ट होने से उनकी हानि होगी—अर्थात् जिनकी देश में कुछ संपत्ति होवे। राज्यशक्ति द्वारा निरंकुशता का वह कट्टर विरोधी था। मनुष्य कानून के अनुसार शासित होने के लिए पैदा हुआ है। पर जो राज्य शक्ति कुछेकों की स्वेच्छा से ही शासन करती है वह तो स्वयं ईश्वर की ही शत्रु है।

9.03 वैदिक चिन्तन में राज्य-तन्त्र के संचालन का अधिकार और उद्देश्य

(1) शासन तन्त्र : अर्थात् राज्य प्रबन्ध पर अधिकार योग्य पुरुषों का होना चाहिए बहुमत मात्र का ही नहीं। यदि संख्या ही अधिकारों का सूचक है तो कीट-पतंगों का राज्य होना चाहिए। पर वस्तुस्थिति उलटी है। पशु व कीटाणु पर मानव का अधिकार योग्यता के ही आधार पर है। चाहे धनहीन हों चाहे धनवान, राज्य पर अधिकार उनमें से योग्य पुरुषों का ही होना चाहिए ताकि वे धर्मचक्र-प्रवर्तन कर सकें। सन्यासी भी राजतन्त्र नहीं चला सकता उसे दुष्ट लोग छल लेंगे। सम्पत्ति निर्माण की योग्यता न रखने वाले भी राज्य नहीं चला सकते। न ही वह लोक कल्याण का काम कर सकते हैं।

(2) यह शासन धर्मानुसार होना चाहिए। शाश्वत सनातन धर्मों पर धर्म-शास्त्रियों का अंकुश होना चाहिए जो उसमें पारंगत हों। वे धर्म को समय की राजनीति के अनुसार नहीं बदलेंगे। शुचि, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य, अस्तेय, क्षमा और अक्रोध यह सामाजिक सनातन धर्म है। धृति, दम, धीः, विद्या—यह व्यक्तिगत सनातन धर्म है। इनका उल्लंघन कोई राज्य नहीं कर सकता। पुरोहित और धर्मार्य सभा इनको चलाने के लिए व्याख्या कर सकते हैं। राज्य इनके द्वारा निश्चित सूत्र चलाने को बने हैं। यह आधारभूत सिद्धान्त है। कोई राष्ट्रपति या संसद इन्हें निरस्त नहीं कर सकते।

(3) दण्डविधान तो अधर्माचरण से दूसरों को पहुँचने वाली हानि रोकने के लिए है। दण्डविधान का प्रयोग स्वतन्त्र न्यायाधिकरण ही करेगा। राज्य उत्पीड़न के लिए नहीं बना है। वह तो दुष्टों से भलों की रक्षा के लिए है। और यह कार्य न्यायाधीश ही निष्पक्ष रूप से कर सकता है।

(4) वर्णों तथा आश्रमों के धर्म सामयिक धर्म हैं। इनमें आश्रम व्यक्तिगत तथा वर्णधर्म सामाजिक क्षेत्र के हैं। इन पर राज्य का नियन्त्रण रहेगा। संसद इसके लिए समयोचित व्यवस्था बनाएगी। पर संसद में सभी का प्रतिनिधित्व होगा, यह नहीं कि दो-चार प्रतिशत जनता सारे शासन यन्त्र पर छल-बल से कब्जा कर ले। अराजकता का अन्त होकर राज्य शक्ति क्रमशः परिवार, वर्ण अर्थात् उत्पादनीय वर्गीकरण और वर्गीय संघ, सभा, समिति और मंत्रिमंडल प्रणाली में होकर परिवर्तित होती रहती है। किसी काल और किसी देश में राज्य शक्ति का केन्द्र इनमें से किसी एक या उनके विभिन्न समुच्चय (Combination) में ही निहित रहता है। इन 6 का मिलन 30

प्रकार से हो सकता है। उदाहरणार्थ कोई एक अंग सब कार्य करने लग जाए अर्थात् केवल परिवार, केवल सभा, केवल राजा, केवल मन्त्रिमण्डल आदि। तो प्रकार 6 हुए। फिर मिलकर कोई दो सब कार्य चलायें अर्थात् राजा और सभाएं या राजा और समिति या समिति और सभा। इस प्रकार के ग्यारह सम्बन्ध सम्भव हैं। फिर कोई तीन या कोई चार या कोई पाँच प्रकार भी मिल सकते हैं। फिर देखना होगा कि जो व्यवस्था बनी है, उसमें वास्तविक सत्ता (Sovereignty) किसके हाथ में है। राज्यों के विधान अब तो $6 \times 5 \times 4 \times 3 \times 2 \times 1 = 720$ प्रकार के हो जाएँगे। विभिन्न राष्ट्रों के अनेक प्रकार के विधान इस प्रकार बन सकते हैं। यह असम्भव है कि किसी देश का काम इन 720 में से किसी से भी न चले। उदाहरणत: दो प्रकार राजा और समिति के समुच्चय मात्र है। उसमें कभी राजा को समिति से अधिक अधिकार दिए जा सकते हैं। तीन और चार के क्रम को भी लौटा पलटा जा सकता है जिसे (Permutation) पद्धति गणित-में कहते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि किसी न किसी प्रकार की प्रमुख राज्य-शक्ति सर्वदा बनी रहेगी। यह हो सकता है कि प्रभुसत्ता तो इस राज्यशक्ति की हो, पर वास्तविक सत्ता उक्त 6 में से किसी एक या दो या तीन या चार या पाँच के हाथ में हो। अत: आदर्श व्यवस्था वह होगी जिसमें वह 6 के संरक्षण में बराबर बँटी हो और यही वेदों में अनुमोदित है। इस प्रकार त्रैतवाद राज्य-शक्ति का सदैव वर्तमान रहना आवश्यक मानता है। वह है तो सादि पर साथ हो अनन्त है। हम वैराज्य (Statelessness) अर्थात अराजक स्थित के समर्थक नहीं हैं। वह सम्भव भी नहीं है। (State will not wither away)

9.04 वेदोक्त राज्य-शक्ति

इन मन्तव्यों की मान्यता वेदों के निम्न स्थलों से प्रगट है। इनमें राज्य शक्ति से मानव की अपेक्षाओं और कामनाओं का वर्णन है।

(अ) मानव के मौलिक अधिकार (Fundamental rights)

मानोवधीरिन्द्र मा परा दा मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोषीः।
आण्डा मा नो मघवञ्छक्र निर्भेन्मा नः पात्रा भेत्सहजानुषाणि॥

(ऋग्वेद 1/7/19/3)

है। इन्द्र अर्थात् राज्यशक्ति (मघवन् + शक्र)

1. (मानो वधः) = हमारा वध मत कर। अर्थात् हमें अपना पूरा जीवन जीने दे। जीवन-स्वातन्त्र्य का आरक्षण कर।
   (Security of life.)
2. (मा प रा दीः) हमें अपने से दूर मत कर। अर्थात् तेरा संरक्षण हमें सदा प्राप्त हो। हम अराष्ट्रीय एवं अनागरिक कभी न घोषित किये जावें।
   (Security of citizenship)

3. मा नः प्रिया भोजनानि प्रमोषीः=हमें अपने प्रिय भोग्य पदार्थों से जो श्रम से उपार्जित है, वंचित न कर।
(Security of fruits of labour)
4. (आण्डा मा नो निर्भेत्)=हमारे गर्भों को विकीर्ण न कर।
(Security of progeny)
5. (मा नः पात्रा)=हमारे जो पात्रादि हैं वे हमसे कोई न छीने।
(Security of belongings)
6. (सहजानुषाणि)=जो-जो हमारे सहज स्वभाव से अनुकूल मित्रता है, उस मित्रता को राज्य नष्ट न करे।
(Security and freedom of organization)

(आ) यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि।
प्रजां धनं च गृहणानः परिहस्तो अभूदयम्॥

(अथर्व वेद काण्ड 6 सूक्त 81)

(हे राज्य शक्ति तू नियमों (Laws) को चलाने वाली है। तू अपने हाथों (arms) से सहायता करती है और रक्षा (protect) करके दुष्टों को हटाती है। (Imprisons the guilty) प्रजा (Subjects) और धन (Taxes) को प्राप्त करती हुई तू हमें हाथ का सहारा देने वाली हुई है।)

(इ) यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्।
इन्द्रो यो दस्यूंरधराँ अवातिरन् मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥

(ऋग्वेद, 1/7/12/5)

हे राज्य शक्ति (इन्द्र)

1. प्राणतः पतिः=सर्व साधारण प्राणियों का तू अधिष्ठाता है।
(Sovereignty resides in thee)
2. ब्रह्मणे गाः अविन्दत्=जिसने यह नियम किया है कि ब्रह्म अर्थात् विद्वान् के लिए पृथ्वी का लाभ है।
(Contentment of Oligarchical Element)
3. दस्यूंरधराँ अवातिरन्=दस्युओं (डाकुओं) को नीचे गिराती है, हनन करती है।
(Subdues the law-breakers)
4. मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे=जनता जिसे श्रद्धा भाव से पुकारती है और जो एतदर्थ सदा प्रस्तुत है।
(Available in distress and emergency calls with mobility)

(सातवलेकर भाष्य)

(ई) स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा ।
चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।।

(ऋग्वेद, 1/7/10/2)

हे मरुत्थान (Mobile) चल इन्द्र (राज्य शक्ति)

1. बज्रभृत् दस्युहा भीमः=तू दुष्टों का हनन करने (Punishing the guilty) वाली, न्यायकर्ता (Just) एवं कठोर शक्ति वाली (**Harsh**) है।
2. सहस्रचेताः शतनीथः ऋभ्वा=बहुमुखीय चेतना व अर्थ की प्राप्ति वाली (Multi cornered activity and growth sustaining)
3. न चम्रीषः—किसी की भी सेना द्वारा न हराई जा सकने वाली (Invincible) .
4. शवसा पाञ्चजन्यः--स्वबल से पाँच मुख्य जन भावों की जनक । (Divisor of population into five functional groups)
5. ऊती—हमारी रक्षक हो (Protector of Populace)

(उ) न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः ।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नों भवत्विन्द्र ऊती ।।

(ऋग्वेद-1/7/10/5)

हे राज्य शक्ति (इन्द्र) !

1. न यस्य देवाः देवताः मर्तः अन्तम्=जिस तेरी शक्ति का देवों (Elites) देवताओं (Lords) तथा सर्वसाधारण में अन्त नहीं होता है।
2. प्ररिक्वा=इनमें व्यापक होते हुए भी इनसे विलक्षण हो इनमें तेरा स्वत्त्व परिपूर्ण हो रहा है (Sovereignty prevailth) ।
3. मरुत्वान् आपश्चन=चलायमान गतिशीलता (Mobile force) ।
4. क्ष्मः दिवश्च भवनु ऊती त्वक्षसा=चाहे पृथ्वी हो चाहे आकाश, हमारी सर्वत्र शत्रु से रक्षा में तत्पर हो। (Protection from Enemies of the Nation)

(जयदेव भाष्य)

(ऊ) पराणुदस्व मघवन्नमित्रान्त्सुवेदा नो वसू कृधि ।
अस्माकं बोध्यविता महाधने भवा वृधः सखीनाम् ।।

(ऋग्वेद 5/3/21/5)

हे मधवन् इन्द्र (राज्यशक्ति) !

1. अभित्रान् पराणुदस्व—अर्थात् हमारे सब शत्रुओं को परास्त कर दे। (Superiority of military might)
2. सुवेदाः नो वसू कृधि+अस्माकम् बोध्यबिता अर्थात् हमारे लिए पृथ्वी के सब साधन सुलभ कर। (Welfare State)

3. महाधने अविता वृधः भव = युद्ध में हमारे और हमारे मित्र तथा सेनादि के रक्षक वर्धक आप ही हों। (Victory in War)
4. वोधि—अर्थात हमको अपना ही जानो। (Fidelity assured)

9.05.01 भोगों और धनों की कामना

वेदों में धन प्राप्ति की कामना निम्न प्रकार आई है :—

1. स नो वसून्याभर (यजु० 15/30) = प्रभु हमें धनों से पूर्ण करें।
2. उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा (यजु० 5/19) = हमारे दोनों हाथ धन से अच्छी प्रकार भरे हों।
3. वयं भगवन्तः स्याम (यजु० 34/38) = हम सब प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण हों।
4. अग्ने नय सुपथा राये (यजु० 7/43) = हम धनैश्वर्य के लिए सुपथ से ले जाए जावें।
5. श्रीः श्रयताम् मयि (यजु० 39/4) = मुझ में श्री स्थिर हो।
6. वसोर्दाता वस्वदात् (यजु० 4/16) = ऐश्वर्यदाता हमें ऐश्वर्य दे।
7. श्रेयसे वित्तधम् (यजु० 30/11) = देश में धनी उत्पन्न हों।
8. वयं स्याम पतयो रयीणाम् (यजु० 10/20) = हम रयि के स्वामी हों। और तो और वेद में जो मन्त्र सवेरा होते ही जपने का आदेश है, वह यों है :—
9. प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममत रुद्रं हुवेम।
   प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम। (यजु० 34/34 एवं 35)
   ऐश्वर्य की कामना करने वाले हम ऐश्वर्य विधान की स्तुति करें। यहाँ निद्रा से उठते ही अर्थ-चिन्तन का विधान है।

9.05.02 रयि और धन में भेद

ऊपर रयि और वसु शब्द आए हैं। धन शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। वास्तव में वस्तुओं के विनिमय के लिए सिक्के का निर्माण हुआ था। उसी को धन कहने लगे हैं। चूंकि वस्तु का श्रमका से निर्माण होता है। अतः धन श्रम का पंजीकृत रूप है। जब कोई धन देता है तो बदले में उपयोग की कोई दूसरी वस्तु चाहता ही है। इसी को क्रय-विक्रय कहते हैं। मनुष्य सब कामनाएँ केवल अपने श्रम से ही पूरी नहीं कर सकता। अतः अपने श्रम से उपार्जित वस्तु का वह दूसरों के श्रम से उपार्जित वस्तु से विनिमय करता है। यह हाट बाजार में होता है। कुछ लोग उत्पादक न होकर इस के वितरण और विनिमय का कार्य करते हैं। इसके लाभांश पर अंकुश लगाया जा सकता है, पर इसे तथा हाट बाजार की प्रक्रिया को नष्ट नहीं किया जा सकता है।

हाट में वस्तु के मूल्य का निर्णय मात्र श्रम से नहीं होता। माध्यम से भी

उत्पादित वस्तु का मूल्य बनता है। यह माध्यम 4 हैं—भूमि, मशीन, पूँजी और सुप्रबन्ध। बचत से पूँजी बनती है, पूँजी से मशीन बनती है, किंवा भूमि अधिक उर्वरा बनाई जाती है। सबके ऊपर व्यक्तियों का सुप्रबन्ध है।

वस्तु के मूल्य-निर्धारण में मार्केट का भी एक हाथ है। प्रायः मालिक या व्यापारी कृत्रिम अभाव पैदा नहीं करते हैं। अभाव का सम्बन्ध उत्पादन की मात्रा, उपभोक्ताओं की संख्या तथा क्रय शक्ति से है। हाँ कतिपय व्यापारी माल इकट्ठा करके बाजार में आने से रोक सकते हैं। उन पर राज्य शक्ति को प्रहार करना चाहिए। लाभांश पर भी राज्य नियन्त्रण कर सकता है। पर यदि नियन्त्रक ही व्यापार करने लगेगा तो उस पर नियन्त्रण कौन करेगा ? निसन्देह नियन्त्रण पेशों से बहुमतीय वर्ग वालों का होता है और वे उस पेशे के मूल्यांकों पर अंकुश नहीं लगाने देंगे।

इस विषय में नैतिक दृष्टि से सुनहरी आदेश यजुर्वेद 40/1 में आया है।

मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

धन की पद्धति से किसी दूसरे के श्रम से उपार्जित वस्तु पर गृद्ध दृष्टि न रखो।

9.05.03 रयि और धन के सृजक (पृथ्वी, पशु, श्रम और मशीन)

(1) **पृथ्वी** : जैसा कि उपर संकेत है, रयि और धन का सृजक मात्र मानव श्रम न होकर भूमि और पशु भी हैं। पीछे अथर्व वेद के पृथ्वी सूक्त को उद्घृत किया है। विभिन्न भोग पदार्थ देने से, जिनका उस सूक्त में वृहद्दोल्लेख है, पृथ्वी हमारी माता है। वह हमें खाद्य पदार्थ, तेल, धातु, ईंधन सभी कुछ देती है। उसी पर पर्वत हैं, नदियाँ हैं। नदियों के समुद्रगत जल से वर्षा प्राप्त होती है।

(2) **पशु** : पशु भी हमारे लिए रयि प्रस्तुत करते हैं। प्रभु ने हमें पशु भेंट किए हैं। हम उन्हें पालते हैं और उसके बदले में उनसे लाभ उठाते हैं। यजुर्वेद 36/18 में कहा है कि हम सब पशु-पक्षियों को मित्र की दृष्टि से देखें। उन्हें भी जीवित रहने का अधिकार है। हम उनका जीवन नहीं ले सकते। दुग्धादि पदार्थ देने से वे हमारी मातावत है। गौ उसकी प्रतीक है। दयानन्द सरस्वती ने गौ करुणानिधि पुस्तक में गौ का अर्थशास्त्र लिखा है कि एक गाय अपने जीवन में 1000 व्यक्तियों को दूध दे कर तथा 18000 अन्यों को खाद के लिए गोबर तथा खेती योग्य बछड़े देकर पालन करती है। उसके मांस से तो 100 व्यक्ति भी तृप्त नहीं हो सकते। हरेक पशु यहाँ तक कि साँप भी पृथ्वी को उर्वरा बनाने में सतत् लगा है। पशुओं के अन्य उपयोग इस प्रकार हैं :—

(1) पशु व पक्षियों की बोलियों एवं उनके संकेतों से शुभाशुभ ज्ञान, प्रकृति में होने वाली घटनाओं, (वर्षा, भूकम्प, विद्युत-पात, हिंसक प्राणियों की गुप्त स्थिति) तथा भोजनादि में विषादि की उपस्थिति विषयक अनेक रहस्यमय ज्ञान प्राप्त होते हैं।

मधुमक्खियों से ग्रह-निर्माण-कला तथा आपत्ति के लिए बचाना, चीटियों

से पंक्ति-वृद्ध चलना, मिल कर काम करना एवं मंजिलों वाले सुविधापूर्ण मकान बनाने की कला मनुष्य ने सीखी। यह बात तो सर्व विख्यात है।

(2) रंगों में गुण-वैशिष्ट्य की बात भी पशुओं से सीखी जा सकती है। कौन से रंग में कौन से गुण उत्पन्न हो सकते हैं, इस विज्ञान का पशु-अध्ययन से सिद्ध होना यजु० 24/2 में वर्णित है :—

(3) कबूतर का उपयोग संदेश-वाहक के रूप में युद्ध और शान्ति में प्रायः किया जाता रहा है।

(4) यातायात एवं भार-वाहन में पशु का उपयोग सर्वविदित है।

(3) **मशीन** : धन के उपस्रजन अर्थात् भोग पदार्थ के उत्कृष्ट और अत्यन्त उत्पादन के लिए विज्ञान और प्राविधि (Technology) परमावश्यक हैं। कतिपय अर्थशास्त्री मशीनों से बचने का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। गोपी जी और मंशी प्रेमचन्द का यही मत था। पर वेद तो विज्ञान और श्रम—हारी मशीनों का समर्थक है। बीज रूप में विज्ञान वेद में था। वेद मशीनी उपकरणों के निर्माण की प्रक्रिया का समर्थन और उद्बोधन करता है। ऋग्वेदादि के भाष्य की भूमिका में स्वामी दयानन्द ने दो वेद मन्त्रों का एवमानुकूल भाष्य करके इस मत का प्रतिस्थापन किया है। वेद में विज्ञान और कला दोनों हैं। यहाँ उससे उद्धरण देते हैं :

तुग्रो ह मज्युमश्विनोदमेधे रयिं न कश्चिन्ममृवां अवाहाः।
तमूहथुर्नाभिरात्मन्वतीमिरन्तरिक्ष प्रुद्भिरपोदकाभिः॥

ऋग्वेद 1/8/8/3

(काठ और लोहे के यान बन सकते हैं। अग्नि और पानी से वाष्प बनेगी। इन यानों से समुद्र में और आकाश में यात्रा हो सकेगी। इस प्रकार मनुष्य धन सम्पत्ति उपार्जित करता हुआ कभी विपन्न न होगा। देश-देशान्तर के आवागमन हेतु ऐसी नौकायें बनानी चाहिए। लोहा, ताँबा आदि धातु से वे यान बन सकेंगे। राज्याधिकारी तथा व्यापारी इनका उपयोग करें। वायु के भी यान बनें। उनमें भी यह धात्वादि कार्य आते हैं। आकाश के ऊपर वाले लोक में गमनीय यान भी बनें। इन्हें पानी से सर्वथा बनने योग्य होना चाहिए। पारे द्वारा भी।

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः
शर्य्यैरभिद्युं दुष्टरं चर्क्रत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्॥

(ऋग्वेद 1/8/21/10)

(इस मंत्र में तार-विद्या का संकेत है। तुम्हें शुद्ध श्वेत धातु से यन्त्र बनाना चाहिए, जो बिजली का अच्छा संवाहक है (Good Conductor) हो जिसमें अग्नि गुण हों और विद्युत से प्रभावित (charged) हो सके। इसमें अश्विनी के भी गुण होने चाहिए। सैनिक क्रिया-कलाप में यह यन्त्र उपयोगी है। इस यन्त्र में यह गुण है कि एक ओर चोट करने से वह विद्युत धारा प्रवाहित कर देता है, दूर की घटनायें इससे विदित हो जाती हैं। ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका, पृष्ठ 284

इन अर्थों को प्रस्तुत करते हुए भूमिका रूप में दयानन्द सरस्वती जी कहते हैं कि—

"यदि मनुष्य धन वैभव से आनन्द उठाना चाहता है, और जीवन की आवश्यकताएँ उपलब्ध करना चाहता है—युद्ध में विजय चाहता है तो विज्ञान की सहायता से उपकरण बना कर इन्हें प्राप्त किया जा सकता है।" (पृष्ठ 272 वहीं) । (पुस्तक का अंग्रेजी में अनुवाद बा. घासीराम M. A. का है।)

दयानन्द सरस्वती ने श्याम जी कृष्ण वर्मा को जरमनी के विद्वानों से पत्र व्यवहार के उपरान्त मशीनों की शिक्षा लेने ही वहाँ (जर्मनी) भेजा था। वे बाद में पेरिस में जा बसे थे। पेरिस विश्व विद्यालय में वे अपनी संचित पूंजी से दयानन्द क्षात्र-वृत्तियाँ का स्थापित कर गये हैं।

जब पृथ्वी और पशु में मानवीय श्रम लगता है, तो वे उपयोगी हो जाते हैं। हर मनुष्य के श्रम से उपार्जित वस्तु उसकी हो जाती है। वह उसका मालिक हो जाता है। श्रम-जनित उपलब्धियाँ दो प्रकार की हैं :

(1) विकट श्रम से भी अत्यल्प उपलब्धि।

(2) कम श्रम से प्रचुर मात्रा में उपलब्धि।

प्रथम प्रकार की उपलब्धि भूमि अथवा कुटीर उद्योगों से संभव है। वह व्यक्तिगत क्षेत्र में होनी चाहिए। द्वितीय प्रकार की उपलब्धि सामूहिक श्रम से संभव है। अतः वह सामाजिक क्षेत्र में होनी चाहिए।

इस प्रस्ताव का आधार स्वयं ऋग्वेद है :

भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।
श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः।

(ऋग्वेद-मण्डल 10, सूक्त 114, मन्त्र 10)

(राष्ट्र का स्वामी राष्ट्र रथ में जुते श्रमी को नियन्त्रित करके चलाता है तब उस श्रम से उत्पन्न देय को उनमें न्यायपूर्वक बाँट देता है, तो राष्ट्र में भौतिक सुखों की सिद्धि और अभिवृद्धि होती है।)

9.05.04 **धन की बचत** :

जीवों की स्वतन्त्र सत्ता और कर्म-सामर्थ्य भिन्न-भिन्न होने से भोग पदार्थ उन्हें भिन्न-भिन्न मात्रा में ही प्राप्त होते हैं :

भोगों का समान विधान अद्वैत दर्शन में ही संभव है। वहाँ किसी जीव का कोई व्यक्तित्व है ही नहीं। सब ब्रह्म से उद्भूत हैं। पर आर्यों के त्रैत दर्शन में जीव समूह स्वतन्त्र सत्ता हैं। वे ईश्वर के सायुज हैं। पर उनके भोगों में भेद है। जीव का एक चिह्न द्वेष भी है, जिसका सही अनुवाद Competetion है। श्रम की शक्यता, श्रम से प्राप्त धन को बचाने या खर्च कर देने की आदत दोनों के सन्दर्भ में उसमें प्रतिस्पर्धा

स्वाभाविक है। यह प्रतिस्पर्धा असमान भोग और असमान बचत का कारण बनती ही है।

कर्म सदा राष्ट्रों के इतिहास में भी विद्यमान है। अतएव उसके कारण न केवल व्यक्तियों में बल्कि परिवारों, नस्लों, जातियों और राष्ट्रों में भी विविधता उत्पन्न होती है, ताकि उनमें से कुछ सम्पन्न तथा कुछ विपन्न होते हैं। अहिंसक जैन तथा मारवाड़ी जाति की समृद्धता का यही राज है।

हाँ हर व्यक्ति में थोड़ी सामाजिक चेतना होने से मनुष्य स्वेच्छापूर्वक अपनी कुछ बचत सामाजिक कार्यों में लगाने को सतत उद्यमशील रहा है। अस्तु लोक कल्याण के कार्य समाज-वाद की उपज नहीं है। वे आधुनिक समाज-वाद से पहले भी होते थे, अब भी वहाँ होते हैं जहाँ सम्पत्ति-विहीनों की प्रभु-सत्ता नहीं है। हाँ यह परोपकार भाव भी मानवों में असमान है। कुछ हद तक उसे श्रद्धा से, अश्रद्धा से, ह्रिया से और श्रिया से बाध्य-कारी बनाया जा सकता है। पर बलपूर्वक किसी से उसका सब कुछ अहेतु ही छीनकर, अहेतु ही किसी दूसरे को देना भी विधि-विहित नहीं है। श्रम के फल का भोक्ता श्रम कर्ता के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं बनाया जा सकता। अतिरिक्त श्रम बचत को जन्म देते हैं। बचत का उपयोग निम्न प्रकार उपबन्धित होता है :

(अ) उत्तराधिकारियों हेतु बचत-वेदों ने 3 ऋण हर व्यक्ति के बताये थे : देव-ऋण, ऋषि, ऋण एवं पितृ ऋण। पितृ-ऋण को मनुष्य संसार में सन्तान उत्पन्न करके और उसे पाल व पोस कर बड़ा करके पूरा करता है। इस उऋणता में यह आवश्यक है कि जीवन प्रारम्भ करने हेतु व्यक्ति पुत्रों के लिए दाय-भाग में कुछ छोड़ जावे, जिससे पुत्र संस्कृति के ताने-बाने को चला सके।

परन्तु उत्तराधिकार में धन-सम्पत्ति छोड़ जाना तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक आजीवन बचत करके संचय नहीं किया जावेगा। बचत का संकेतात्मक मंत्र यों है :

निधीनां त्वा निधिपतिꣳहवामहे। (यजु० 23/19)।

परमात्मा को निधियों के कोषपति के रूप में स्वीकार करके पैसा कमाने की कामना प्रकट की गई है। मन्त्रार्थ में इस हेतु गणानाम गणपति अर्थात् गणित में विशेष योग्यता की कामना की गई है। परन्तु इस निधिकरण का उद्देश्य "प्रियानां त्वां प्रियपतिꣳहवामहे" करके कहा है अर्थात्, प्रभु के समान अपने- प्रिय जनों का उल्लास-भाव-वर्द्धन। मनुष्य के प्रथम परिजन उसके पुत्रादि हैं। दूसरा उपयोग दुर्दिन के लिए है। परिश्रम और अर्थ पर्याय हैं। कुछ अधिक परिश्रम से कुछ दुर्दिन के लिए बचाया जाता है। वही अर्थ चल या अचल सम्पत्ति का रूप ले लेता है। सम्पत्ति से आय व ब्याज यदि समाज या सरकारें कमा सकती हैं तो व्यक्तियों के लिए भी यह वैध है। मजदूर भी बचत कर सकता है और धनवान भी। अन्तर मात्रा का है। एक बार मजदूर बनने पर सदा मजदूर बने रहने की बाध्यता तो उन्नति करने की आकांक्षा को मिटा कर रख देगी।

आधुनिक समाजवाद सर्वथा अंकिचनों के लिए है और उन्हें फिर वैसा ही बनाये रखना चाहता है। चरैवेति-चरैवेति में निष्ठावान उन्नत्यभिमुख मानव भला इस अंकिचन स्थिति में सदा सर्वदा क्यों रहना चाहेगा? यह अधिक भोगों की प्राप्त्येच्छा दो-तीन पीढ़ियों में तो क्या लाखों वर्षों में भी न बदल सकी है न बदलेगी।

(स) **तीसरा उपयोग सोने के लिए** : कुदिन के लिए तो बचत करना आवश्यक है ही, आयुष्य के लिए सोना चाहिए और सोने के लिए किंचित अर्थ-संचय परमावश्यक है। गर्भवती स्त्री अलंकार धारण करने से सुन्दर बच्चे को जन्म देती है। कारण स्वर्ण-धातु के उसके शरीर से रगड़ने पर विशेष प्रकार की विद्युत उसके शरीर में उत्पन्न होती है। स्वर्ण को आयुष्य-दाता यजुर्वेद के निम्न दो मन्त्रों में कहा है :

इदं हिरण्यं वर्च्चस्व ज्जैत्राया विशतादुमाम। आयुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषमौद्-
भिदम्। यो विर्भात्त दाक्षायणꣳहिरण्यꣳस देवेषु कृणुते। दीर्घमायुः स मनुष्येषु
कृणुते दीर्घमायुः।

(यजु० 34/50 एवं 51)

(स्वर्ण आयु, तेज, ऐश्वर्य का दाता है। वनस्पति संबंधी है, दुखों का नाशक है। अलंकार-धारक आयुष्य-वृद्धि को प्राप्त होता है।)

आचार्य चाणक्य ने लिखा है कि जो बीज रूप में अन्न बोना हो उसे पहले रात-भर एक घड़े में भिगो दे, जिसमें स्वर्ण भी रक्खा हो। ऐसे बीज से फसल प्रचुर होगी। अस्तु हर गृहस्थ पर स्वर्ण होना आवश्यक है।

स्वर्ण इस प्रकार लाभदायक होने के अतिरिक्त बचत का प्रतीक है। बचत के उद्वेलन से श्रमाधिक्यतरता उत्पन्न होती है। श्रम में न्यूनाधिकता ही भोगों की असमानता को जन्म देती है।

9.05.05 वैदिक उद्धरण

ऋग्वेद में अनेक मंत्र आये हैं जहाँ राज्य शक्ति को भोग पदार्थों का वर्षक एवं रक्षक तथा धन और रयि का प्रदाता भी बताया है। प्रजा राजा का सारे धन तथा वैभव का स्वामी कह कर उद्बोधन करती है और बदले में उससे पदार्थों की माँग करती है। Eminent Domain अर्थात् राज्य में स्थित सब कुछ राज्य-शक्ति का हो सकता है, ऐसा उल्लेख भी कतिपय मन्त्रों से हुआ है। अमात्य गणों को वह आर्थिक-क्षेत्र ही सौंपा जाता था, जिससे वे उत्पादन में वृद्धि कर सकें, क्योंकि उत्पादन में वृद्धि हुए बिना बाँटने को भोग-पदार्थ आवेंगे कहाँ से? परन्तु यह कार्य प्रजा के कार्यों का अनुपूरक रहा है—स्थानापन्न कहीं नहीं।

(1)

स रायस्रखामुप सृजा गृणानः पुरुश्चन्द्रस्य त्वमिन्द्र वस्वः।
पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा॥ (ऋग्० 6/36/4)

ए (इन्द्र) राज्यशक्तिः (सः त्वम्) तू (गृणानः) प्रशसित होता हुआ

(पुरुश्चन्द्रस्य) अत्यन्त आल्हादकारक (वस्वः) निवासक (रायः) धन की (रवां) धारायें (उपसृज) हमारे ऊपर छोड़ दे। तू (जनानाम) संसार का (असमः पतिः) अनुपम पति (वमूभ) है और (विश्वस्य भुवनस्य) सब भुवनों का (एकः राजा) एक ही स्वामी है।

(राज्य शक्ति से यहां निम्न बातों के सुलभ कराने की आकांक्षा है :—

वस्व—निवास स्थान

रायः—धन

और सब भुवनों का एक वास्तविक स्वामी बताया है। शेष लोग तो प्रयोगकर्त्ता हैं। इस बात को विशेष बलपूर्वक 10वें मंडल में पुनः कहा गया है।

(2)

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता वभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।

(ऋग्० 10/121/10)

हे प्रजापति! (एतानि ता विश्वा जातानि) सब जगत के इन पदार्थों पर (त्वत् अन्यः) तुझसे भिन्न कोई दूसरा (नपरिवभू) स्वामित्व नहीं करता। (यत-कामाः) जिन इच्छाओं को धारण करते हुए हम सब (ते जुहूमः) तेरा यज्ञ करते हैं (ततः न अस्तु) वह हम सबको प्राप्त होवें और (वयं) हम सब (रयीणां पतयः) धनों के स्वामी (स्याम) बने। Principle of Eminent Domain के सिद्धान्त के अनुसार जल-थल सब का स्वामी राज्य ही है। और प्रजा अर्जन करके यज्ञ रूप से सब राज्य शक्ति को ही अर्पण कर देती है। यज्ञ करने का उद्देश्य है कि राज्य के माध्यम से वे पदार्थ हम सब के प्रयोगार्थ वापिस आवें। वयं शब्द बहुत विशेषता रखता है। यह न तो एक वचन में अपने के लिए है और न बहुवचन रूप में बहुजन के लिए हे, वरन प्रजा मात्र के लिए है।

(3)

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रों अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥

(ऋ० 10/89/10)

(इन्द्रः इत् दिवः ईशः) इन्द्र भूमि के ऊपर आकाश का ईश्वर है (इन्द्रः पृथिव्याः) वह पृथिवी का (इन्द्रः अपाम्) वह ही जलों का (इन्द्रः पर्वतानाम्) इन्द्र ही पर्वतों का या मेघों का (इन्द्रः वृधां) वृद्धिशीलों का (इन्द्रः इत् मेधिराणाम्) इन्द्र ही मेधावियों का या इकट्ठे कार्य करने वालों का ईश्वर है। (क्षेमे इन्द्रः हव्यः योगे इन्दुः) योग और क्षेम में वह ध्यान रखने योग्य है।

यहाँ भूमि जल और व्योम का भी शासक राजतन्त्र को ही कहा है।

(4)

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि । चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥

(ऋग्वेद 2/21/6)

(इन्द्र) राज्यशक्ति हमारे लिए (श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि) श्रेष्ठ धनों का प्रबन्ध करे (दक्षस्य चित्ति) दक्षता प्राप्त चिन्तनशक्ति तथा (सुभगत्वधेहि) सौभाग्य (रयीणांपोषधेहि) नाना पशुधन संपत्ति (तनूनां अरिष्ठं च धेहि) शारीरिक आरोग्यता (वाचः स्वादमांनंधेहि) वाणियों में माधुर्य करे । (अन्हां सुदिनत्वं धेहि), तथा एक-एक दिन सुख-शान्ति का प्रबन्ध करे ।

यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर विद्याम तस्य ते वयम कूपारस्य दावने ॥

(ऋग्वेद 5/39/2)

ए राज्यशक्ति : जिस धन को आप हमारे लिए श्रेष्ठ समझते हो उससे हमें भरपूर कर दो । यह धन तेरी अनन्त सामर्थ्य में स्थित है ।

यह सारे उद्धरण इस अध्याय में कही साधारण प्रतिज्ञा का समर्थन करते हैं ।

9.05.06 ब्रिटेन का उदाहरण

इंग्लैंड में पूंजीवाद का उन्नयन उच्च वर्ग (Aristocracy) द्वारा लाया गया है । मध्यम वर्ग तो (Protestantism) प्रोस्टेन्ट धर्म के प्रति ही निष्ठावान बने रहे, जिसको उन्होंने राजाओं और लार्डों से रक्षा की थी । वहाँ मध्यम वर्ग ने करोड़ों रुपया निम्न वर्ग में धर्म प्रचार करने में लगाये हैं । यहाँ तक कि अमेरिका से साल्वेशन आर्मी जैसे दल बुलाये गये जो कि पूंजीपतियों से लड़ते हैं, और गरीब को महान पुरुष कहते हैं । वे प्रारम्भिक समय के ईसाई नारों को लगाते हैं ताकि सम्पन्न व्यक्तियों को वह डरा सके और उनकी शक्ति को सीमित करके समाज को साम्योन्मुख कर सकें ।

ब्रिटेन में मध्यम वर्ग ने ही फेबियन सिद्धान्तों के माध्यम से राज्य के कल्याण-कारी स्वरूप को कार्यान्वित किया और आर्थिक विषमताओं की समाप्ति हेतु लार्ड वेब्रिज के सभापतित्व में एक समिति गठित की जिसने 1942 में अपनी रिपोर्ट दी । रिपोर्ट में ब्रिटेन के मस्तिष्क में समता के सिद्धान्तों को आत्म-सात किया गया है । साथ ही रिपोर्ट में व्यक्ति की महत्ता को भी यथावत स्थान दिया है । दोनों के उन्नयन का जो अनुपात इसमें निश्चित किया गया है, उसी का यह फल है कि औद्योगिक राष्ट्र होते हुए भी वहाँ सत्ताधारियों का रक्तपात नहीं हुआ, और राष्ट्र की सम्पत्ति और उत्पादन का यथा-योग्य वितरण भी हो गया । यह करिश्मा ब्रिटेन में ही देखने को मिलेगा कि मजदूर-वर्ग अनुसार-दल (Conservative) का भी समर्थन करते हों, और दूसरी ओर लार्डो में से मजदूरों के हितों का संरक्षण करने वाले निकले हों, और मजदूरी में से लार्ड भी बने हों । इस रिपोर्ट के महत्त्वपूर्ण अंश यों हैं :

ब्रिटेन के आर्थिक-नियोजन के 3 मूलाधार होने चाहिये :

(1) भविष्य की जो भी योजना बनाई जायें उसमें एक ओर तो यह देखना चाहिए कि वे भूतकाल में प्राप्त अनुभवों का उपयोग करें और दूसरी ओर उस अनुभव को प्राप्त करने में निहित वर्गीय-स्वार्थों के हित की ही दृष्टि से निर्णय न करें।

(2) सामाजिक बीमा पद्धति का विकास हो क्योंकि इससे मनुष्यों को आय की गारंटी है। इससे अभाव की पूर्ति होती है। पर इतना ही काफी नहीं है। समाज के पुर्ननिर्माण के लिए रोग, अज्ञान, भुखमरी और बेकारी को भी समाप्त करना आवश्यक है।

(3) यह कि सामाजिक सुरक्षा व्यक्ति और राज्य के सहयोग से ही प्राप्त की जावे। राज्य को सेवाओं की गारंटी करना चाहिए। पर ऐसा करने में निजी प्रेरणा (Initiative) निजी-सुअवसर अर्थात् व्यक्तिगत-उत्तरदायित्व का गला नहीं घोंटना चाहिए ताकि एक राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर कायम हो सके। स्वेच्छा द्वारा किये क्रिया-कलाप के लिये अवश्य स्थान छोड़ा जावे, ताकि इसके द्वारा हर व्यक्ति अपने और अपने परिवार के लिए उस न्यूनतम स्तर से अधिक भोग्य पदार्थ प्राप्त कर सके।

इन्हीं सिद्धान्तों को प्रायः सभी प्रजातान्त्रिक देशों ने स्वीकार किया है। प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट के अभाव से मुक्ति (Freedom from want) और डरने से मुक्ति (Freedon from Fear) के दोनों नारे इसी वैवरिज रिपोर्ट के निष्कर्ष हैं। शान्ति प्रिय चिन्तन से भी युगधारा को मोड़ा जा सकता है, बड़ी क्रान्ति लाई जा सकती है। उसके लिए हिंसा और रक्तपात सदा आवश्यक नहीं हैं, उससे बचा जा सकता है। आज 300 वर्ष हो गये ब्रिटेन में हिंसक क्रान्ति नहीं हुई है।

9.06 राज शक्ति के स्कन्ध

पिछले अध्याय में जिस राज्य शक्ति के विकास का वर्णन है उसके निम्न स्कन्ध हैं :—

(1) धर्म संस्थापक या पुरोहित (Solicitor or Advocate General)
(2) वैश्वानर जिसके पर्याय है सभापति, राष्ट्रपति या राजा।
(3) सभा (Lower House)
(4) समिति (Upper House)
(5) मन्त्रिमण्डल (Cabinet)
(6) मन्त्रिमण्डल का शासकीय विभाग (सचिवगण) (Administrative Ministries)
(7) मन्त्रिमण्डल का राष्ट्रोत्थान विभाग (अमात्यगण) (Nation Building Ministries)
(8) दण्ड विभाग (Judiciary)

यह एक-दूसरे के पूरक हैं और उन पर अंकुश भी लगाते हैं। विभिन्न मनुष्य विभिन्न योग्यता और संस्कारों के हैं। जो जिस प्रवृत्ति में दक्ष हैं, उसे वहाँ ही लगाया

जा सकता है । एक व्यक्ति में सब प्रवृत्तियाँ नहीं हो सकतीं । अतः एक व्यक्ति को सब प्रकार के काम नहीं सोंपे जा सकते हैं । अब हम वैदिक वाङ्मय ने जैसी व्यवस्था इन सबके लिए दृष्ट होती है, उसका उल्लेख करेंगे । ध्यान रहे कि वेद के जितने उदाहरण हैं वे सब सृष्टि के प्रारम्भ में कहे गये हैं । अतः आधुनिक व्यवस्थाओं का वे श्रोत हैं । आधुनिक व्यवस्थाओं को वेद में ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न नहीं किया गया है । इसका प्रमाण है कि जहाँ दोनों में मतभेद है, और आधुनिक मापदण्डों के अनुसार वैदिक मान्यता यदि कदाचित हीन लगती हो तो उसे भी वैसा ही कह दिया गया है । हो सकता है कि प्रयोग (Experiments) के बाद विश्व उसी मार्ग की ओर फिर लौटे जो वेदोक्त है और तब वेद-पथ की महत्ता सिद्ध हो । अभी तो हम उसे जैसे का तैसा लिख देते हैं ।

9.06.01 प्रथम स्कन्ध : धर्म संस्थापक अर्थात् पुरोहित

लगभग 4000 ई० पूर्व में नील दी की संस्कृति वाले मिश्र देश में तथा असीरिया, मेसोपोटामिया और बेबिलोन में मन्दिर ही राज्य का केन्द्र था । (Temple State) ही वहाँ की राज्य प्रणाली की संज्ञा हो सकते थे । पुजारी हम्मूरावी ने घोषणा की थी :

> I am Super bking, I make people reoice and extend dwellings of people in Security.

(मैं ही सर्वोत्तम राजा हूँ । मैं प्रजा को प्रसन्नता प्रदान करता हूँ । उन्हें उनके निवास स्थानों में सुरक्षा देता है)

मिश्र में पुजारी को (Pharoha) कहते थे और उसके घर को विशाल-गृह । इधर भारत में एक परम विख्यात श्लोक है :

> दैवाधीनं जगत्सर्वम् मन्त्राधीनाश्च देवताः ।
> ते देवा ब्रह्माधीनास्तस्मात् ब्रह्मेव सर्वम् ॥

(सारे जगत का प्रशासन नेताओं (देवताओं) के आधीन है । ये देवता मन्त्रणा पद्धति (मन्त्र) के अधीन हैं । यह पद्धति ब्राह्मण (पुरोहित) के आधीन है । अतएव ब्राह्मण (पुरोहित) ही शासन का सर्वप्रथम स्रोत है ।)

शतपथ ब्राह्मण (5/3/1/12) में भी बाजसनेय यज्ञ का बर्णन है । यह राज्यभिषेक के समय किया जाता था । इनमें पुरोहित राज्यशक्ति के प्रतीक के रूप में एक खड्ग सर्वप्रथम वैश्वानर (राजा, सभापति, राष्ट्रपति) को देता है ।

राजा उसे अपने छोटे भाई को फिर अन्य मन्त्रियों को देता है । मंत्री अमात्यों को और तदन्तर अमात्य उसे सूत को देते हैं । सूत से तात्पर्य राजा के यान-चालक अर्थात् (Royal Transport Department) से है । इसका विशेष महत्त्व प्रतीत होता है क्योंकि शान्ति और युद्ध में वैश्वानर का जीवन उसके आधीन है । महाराज कृष्ण ने अर्जुन के सहायक होकर इनके रथी बनने का कार्य इसी कारण स्वीकार किया था ।

केन्द्रीय व्यक्तियों में इस प्रकार खड्ग घुमाकर जनपदों के प्रतिनिधियों को दी जाती थी। फिर ग्राम्य संगठनों के मुखियों को और अन्त में छोटी-छोटी जन-जातियों के प्रमुख पुरुषों को दी जाती थी। इसका अर्थ था कि हर बाद वाला अपने से पहले वाले की अधीनता और वर्चस्व को स्वीकार करता था। पुरोहित कहता था कि हमारा राजा तो सोम (स्वयं ईश्वर) है। यह राजा अन्य (इतर) प्रजा का राजा है। पुरोहित सर्वस्व त्यागी और ईश्वर भक्त होता था। ऐतरेय ब्राह्मण (8/25) में कहा है कि देवता राजा द्वारा प्रस्तुत अन्न को बिना पुरोहित के नहीं खाता है। शतपथ (1. 4. 6.) में कहा है कि बिना पुरोहित के राजा की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि पुरोहित के बिना राजा कोई कार्य नहीं बना सकता। पुरोहित जन्मतः होना आवश्यक नहीं था। वह योग्यता की प्रतियोगिता पर छाँटा जाता था। यूरोप के देशों में पोप आदि के अधिकारों का वर्णन अगले अध्याय में करेंगे, पर ध्यान रहे कि जैसा वहाँ हुआ है कि पोप ने अपने धार्मिक न्यायालय पृथक् खोल लिए थे, जिनमें धार्मिक अभियोगों पर निर्णय होता था, परन्तु भारतीय पुरोहित व्यवस्था ने एक बार यह सब कार्य राजा को सौंप कर वे अधिकार वापिस नहीं मांगे। ऋग्वेद-1-129-4 के अनुसार पुरोहित का एक कार्य युद्ध क्षेत्र में जाकर राजा को प्रोत्साहित करना तथा शत्रुओं पर बाणों का वर्षा करना भी होता था। राजकीय कवियों और भाटों की परम्परा तभी से है। भूषण-पंडित शिवाजी के राजकवि थे। वे युद्ध क्षेत्र में शिवाजी के साथ जाते थे और उनके पक्ष का मनोबल बढ़ाते तथा शत्रुपक्ष का मनोबल घटाते थे।

निज पक्ष के विभिन्न प्रमुखों में पुरोहित गण तालमेल बिठाते थे। हल्दी घाटी के युद्ध में प्रताप सिंह एवं शक्ति सिंह (दोनों भाइयों) में परस्पर द्वन्द्व-युद्ध होने की आशंका देख पुरोहित ने कटार अपने ही पेट में भोंककर आत्मोत्सर्ग कर दिया और शक्ति सिंह में भ्रातृ प्रेम जागृत कर दिया था।

चाहे युद्ध हो चाहे शान्ति, पुरोहित यह बताता है कि धर्म का मार्ग क्या है। धर्म की सदा विजय होगी, ऐसा वह दिग्घोष सर्वदा करता रहता है। धन और सैन्य बल से ओत-प्रोत राज्यशक्ति पर अंकुश बुद्धि का ही लग सकता है। अन्यथा भूमि पर सर्वत्र ऐसी राज्यशक्ति द्वारा रक्तपात होता रहेगा। धर्म का स्रोत ईश्वर है। अतः धर्म की अवहेलना होने पर पुरोहित ईश्वरीय कोप की भविष्यवाणी करके राज्यशक्ति को डराता था। धर्मानुकूल चलने पर राज्यशक्ति और प्रजा के फलने-फूलने की आशा दिलाता है। आखिर भय और आशा की परिधि में रहकर ही तो मनुष्य सुपथ-रत होता है। इसलिए जहाँ बलवान राज्यशक्ति और सम्पन्न प्रजा की प्रार्थना की है वहाँ योग्य पुरोहित की भी आवश्यकता है। उक्त सन्दर्भ में अब हम उस प्रसिद्ध मंत्र को उद्धृत करते हैं जिसकी हंसी पाश्चात्य विद्वानों ने उड़ाई है कि युद्ध क्षेत्र में पुरोहित मंत्र से युक्त बाण छोड़कर आर्यों को युद्ध में विजय लाभ कराता था।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
गच्छामित्रान्प्रपद्यस्व मामीषां मोदि कञ्चनोच्छिषः ।।
(ऋग्वेद 6.75.16)

(ब्रह्म ज्ञान से तक्षि ऐ मेरे तीर, तू अमित्र पर जा गिर। अमित्रों को जीत। उसके श्रेष्ठ-श्रेष्ठों को नष्ट कर। उनमें से कोई न बचे।)

यह ब्रह्मास्त्र तो रूपक है। 1971 में हुए भारत पाक-युद्ध में कई लाख पर्चे छापकर पूर्वी बंगाल की छावनियों में वायुयानों ने गिराये थे जिनमें लिखा था कि तुम सब ओर से घिरे हो। तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। हथियार डाल दो। उन्होंने हथियार डाल दिये। जब उन्हें बन्दी बनाया गया तो वे 92000 निकले जो भारतीय फौजों की तत्र-स्थित संख्या से कई गुने अधिक थे।

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्। संशिम क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि-पुरोहितः। समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्। वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ।। (अथर्व० 3/19/1 व 2)

जिनका मैं पुरोहित हूँ, उनके लिए मेरा यह ज्ञान उनका बल और वीर्य को बढ़ाने वाला होवे। मैं न केवल राजप्रमुख को बल्कि सारे राष्ट्र को, ओज, वीर्य, बल से तैयार करता हूँ ताकि वे शत्रु के बाहुबल को विदीर्ण कर सकें।)

नीचैः पद्यन्तामवरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रा नुन्नयामि स्वानहम् ।।(अथर्व० 3/19/3)

[जो शत्रु हम पर युद्ध लादते हैं (मैं ब्राह्मण) अपने ज्ञान से उन विपक्ष वालों को नीचे गिराता हूँ, और अपने पक्ष वालों को उन्नत करता हूँ।]

यह युद्ध में प्रोपेगेन्डा जैसी बात है, जिससे अपने पक्ष का मनोबल बढ़े और शत्रु का घटे। हमारे मत में यह काम भी पुरोहित का ही है। अर्थात् जो धार्मिक विधि अनुष्ठान और यज्ञ हैं उनका उन्नायक भी पुरोहित है। अपने-अपने देश की पूजा पद्धति उस देश की संस्कृति बन जाती है। देव-स्थान व उस संस्कृतिः इन दोनों की रक्षा का भार भी उस पर है। पश्चिम के देशों में इसे (Eccliastical Dept) कहते हैं। और वहाँ वह लोक सभा (Parliament) के नियन्त्रण में नहीं होता है।

हरेक राष्ट्र के राज्य की एक नीति होती है। उसका आधार कोई दर्शन-शास्त्र ही होता है। पुरोहित उस दर्शन-शास्त्र पर शोध भी करवाता रहता है। पुरोहित इस प्रकार राज्य शक्ति की आत्मा का रक्षक (Conscience Keeper) भी है। वह धर्म और संस्कृति दोनों के ताने-बाने को चलाये रखता है।

धर्म को प्रायः सम्प्रदाय के अर्थ में लोग ले लेते हैं। धर्म का पर्याय शब्द ही अंग्रेजी भाषा में नहीं है। (Religeon) का अर्थ तो एक संगठित-तन्त्र मात्र है। व्यापक अर्थ में धारयते सो धर्मः—से अर्थ निकलता है जो धारणा करने योग्य है, यह धर्म है। धारणा करने योग्य कर्मों के दो ही लक्ष्य हो सकते हैं। जिनसे इस लोक में कल्याण

हो और ऐसे संस्कार आत्मा के साथ संग्रहीत हो जिनसे अगला जन्म भी मंगलमय हो :—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिःस धर्मः ।

पूर्व में धर्म इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त हुआ है जिन अर्थों में पश्चिम में प्राकृतिक नियम (Natural Laws)। जैसे सूर्य-चन्द्र की गति तथा प्रकृतिस्थ-पदार्थ एक शाश्वत नियम में बँधे हैं, वैसे ही कर्म के हेतु मनुष्य के पथ-प्रदर्शक कुछ शाश्वत नियम हैं। वे धर्म हैं। स्वयं सुकरात तो राज्य के कानून को ही धर्म मानता था। उसने राज्य के कानून द्वारा प्रदत्त मृत्यु-दण्ड को स्वीकार किया। वह उन्हें नैतिक नियम मानता था। उसने कहा था कि :—

"धर्म के रूप में यह नैतिक नियम अचल हैं। नैतिक नियम व्यक्ति और परिस्थिति-निरपेक्ष तथा विश्वव्यापी हैं। नैतिक-नियम ईश्वरीय है। नैतिक-नियम के इतिहास का अर्थ शाश्वत अटल और व्यापक नैतिक नियमों की प्रगतिशील व्याख्या का इतिहास है। अन्तरात्मा ईश्वर का अंश होने से स्वयमेव उन नैतिक नियमों पर आचरण करने की रुझान रखती है।"

वैदिक समय में इसे ऋत अर्थात् त्रैकालावाधित सत्य कहते थे। सृष्टि-निर्माण क्रम में पहले ऋत फिर सत्य फिर रात्रि एवं समुद्र का उद्भव होना कहा गया है। समाज में हरेक व्यक्ति का एक कर्त्तव्य है। शतपथ ब्राह्मण में (4/4/4 में) कहा है कि राज्यशक्ति कोई गलती नहीं कर सकती (King can do no wrong) अर्थात् उसके हर निर्णय में ऋत का अंश होना चाहिए। नियम तो वरुण (चरित्र के देवता) से राजा पर आये हैं। अतः प्रभु ने राज्यशक्ति को कानून का प्रभु माना है। चीन में 'ताओ' ने तथा मिश्र में माट ने भी यही विचार रखा था। जैसे प्रभु के कार्यों में बुद्धि-पूर्वक कारण है वैसे ही राजा की आज्ञा कानून से बाध्य होने से माननीय है। धर्म और कर्त्तव्य और कानून समानार्थक है। कानून प्रभु की ओर से है। और इस वातावरण का दृष्टा पुरोहित है। पुरोहित आदर्श धर्म राज्य की कल्पना रखता है। वह आदर्श प्रस्तुत करता है। तोरेत और नई बाइबिल दोनों में उल्लेख आया है कि राजा न्याय-कारी है तो खेतों में अन्न अधिक होता है और शीघ्र पकता है। सूर्य उष्णता देता हैं, और चन्द्रमा शीतलता।

अधिवक्ता (पुरोहित) सभा और समिति के सम्मुख आकर नीति बताता है। हमारे अपने जीवनकाल में प्रधानमन्त्री नेहरू अधिवक्ता सीतलवाड़ को लोकसभा में इस वाद पर अभिमत देने को ले गये थे कि क्या लोकसभा गौवध-निषेध पर कानून बना सकती है। विधान की दुहाई देते हुए अधिवक्ता ने कहा था कि केन्द्र की लोक-सभा ऐसा नहीं कर सकती; पर राज्यों की विधान सभायें ऐसा कानून बना सकती हैं। पुरोहित की प्रथा एक दुधारू तलवार है, उसे धर्म की सुयशपूर्ण और अनैतिक दोनों विधियों में स्पष्टीकरण करने में प्रयुक्त किया जा सकता है। धार्मिक, त्यागी और विद्वान सुपथ में ले जायेगा। स्वार्थी स्थानापन्न पाप की ओर। तब उसे (Theocracy)

अर्थात् मौलवी मुल्लाओं का राज्य कहते हैं। इस संभावना को चयन के समय निष्पक्षता वर्तने से कदाचित दूर किया जा सकता है। क्योंकि महात्मा चाणक्य ने यों कहा है।

राजा राष्ट्रं कृतं पापं राज्ञः पापं पुरोहितः।
भर्ताच स्त्रीकृतं पापं शिष्यपापं गुरुस्तथा ॥

(चाणक्यनीति अध्याय 6 श्लोक 10)

(अपने राष्ट्र द्वारा हुए पाप को राजा, राजा द्वारा किये पाप को राजपुरोहित और शिष्य द्वारा किये पाप को गुरु तथा स्त्री द्वारा किये पाप को पति भोगता है।)

9.06.02 **द्वितीय स्कन्ध-वैश्वानर (राजा-सभापति-राष्ट्रपति)**

(1) **राजा की संस्था का उपोदघात (निर्वाचन एवं विजय द्वारा)** : जहाँ योरुप और एशिया द्वीप मिलते हैं, वहाँ ग्रीक देश है। ईसा से 600 वर्ष पूर्व वहाँ राजा-रहित प्रजा के छोटे-छोटे संगठन थे, और वे नगरों पर राज्य करते थे। प्लेटो के समय 407-348 ई०पू०) में वे प्रजातन्त्र उच्छृंखल हो गये थे। अतः उसने 378 ई० पू० में जो ग्रन्थ रचा था, उसमें दार्शनिक पंडितों को राज पद (प्रमुख) देने का प्रस्ताव किया था। लगभग उसी समय भारतवर्ष में वैशाली के आसपास प्रजातन्त्र-संघ विकसित मिलते हैं। इन संघों के सदस्यों को अस्थायी राजा कहते थे। परन्तु प्लेटो अपने राज-प्रमुखों को न संपत्ति रखने का अधिकार देता था और न विवाह करने का, ताकि वंश परम्परा से राज्यशक्ति न चले। शुद्ध प्रजातन्त्र को वह ढोंगी तथा अनुत्तरदायित्व पूर्ण मानता था। उसके मूर्खों का तन्त्र बन जाने की संभावना पर उसने बल दिया था। पर योरुप में सिकन्दर की फौजों ने विदेशों की विजय की। पहली शताब्दी में सीजर ने साम्राज्य स्थापित कर लिया। तब दार्शनिक सेनेका ने (51 ई०) राजा के पद की प्रतिष्ठा और गरिमा स्थापित की। राजा को उसने रीति-रिवाज और संस्कृति को अक्षुण्ण रखने का उत्तरदायित्व सोंपा। फारिस पर मैसीडोनियाँ की जब विजय हो गई, तब फारसियों का यह सिद्धान्त कि राजा ईश्वर द्वारा नियुक्त होता है, रोम के दार्शनिकों ने मान लिया। हाँ इतना अन्तर अवश्य था कि रोम के सम्राट अपने को प्रजा का सेवक भी कहते थे। सेनेका ने तो यहाँ तक कहा था कि सम्राट पृथ्वी पर ईश्वर के समान है, और मर के अवश्य ही ईश्वर हो जाता है।

परन्तु फारिस स्वयं आर्यान देश का बदला हुआ नाम था। वहाँ की जिन्दावस्ता संस्कृति का श्रोत भारत का वैदिक दर्शन ही था। वैदिक दर्शन में पहले जैराज्य की स्थिति बताई है। नियम, परिवार, आह्वनीय, वर्ण-संगठन, जाति-संगठन, राष्ट्र एवं राज्य के निर्माण तक यहाँ राजा था ही नहीं। वेद में एक स्थान पर परमात्मा को ही एकमात्र राजा माना है :—

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। (यजु० 13/4)

(वह परमात्मा उस उत्पन्न हुए जगत् का प्रसिद्ध एकमात्र स्वामी है।)

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।

(यजु० 25/11)

[जो कुछ गतिमान है (प्रकृति); और जो कुछ पलक मारता है (पशु और मानव) उनका एकमात्र राजा परमेश्वर ही है।] इस मान्यता से एक मुख्य लाभ यही होता है कि परतन्त्र राष्ट्रों में विदेशी राजा की इयत्ता से इन्कार कर दिया जाता है और ईश्वर भक्ति के प्रचार के माध्यम से परतन्त्र जनता में स्वाभिमान का संचार किया जाता है। ईसा ने यही कहा था कि रोमन तो सिक्के के राजा हैं। हम यहूदियों का राजा तो भगवान है। तुलसीदास ने और सिक्ख सन्तों ने मुस्लिम-प्राधान्य की मानसिक दासता के स्थान पर ईश्वर-भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया था और निकट भूत में गीता की ईश्वर भक्ति का बात कहकर ही भारत में अंग्रेजी साम्राज्य से विमुखता उत्पन्न की गई है। निरंकुश राजाओं के चंगुल से निकालने का यही एक मूल मन्त्र है। आस्तिक राष्ट्र सदा के लिए गुलाम नहीं रह सकते।

(2) **निर्वाचन द्वारा राजा** : परन्तु जब राज्य बन जाते हैं, तो राज-प्रमुख की आवश्यकता होती है। वैसे राजा अन्य प्रजाओं में अपेक्षाकृत अधिक योग्य और श्रेष्ठ होना चाहिए। विश्व का नागरिक होने से उसे वैश्वानर कहते हैं। क्योंकि वह संसार के सब राष्ट्रों से समन्वय रखने का अधिकारी है। राजृदीप्तो धातु से राजा शब्द बना है जिसका अर्थ सम्यक दीप्तिमान है। और इसी कारण वेद में ऐसे राष्ट्र-पुरुष की संज्ञा 'राजा' कही गई है। पूर्व वर्णित ऐतिहासिक परम्पराओं से सिद्ध है कि राजा प्रजाजनों द्वारा निर्वाचित होता था।

अथर्ववेद 8/35/17 एवं 8/186/10-11 में कथानक के रूप में समझाया है कि प्रजाजनों ने राज्य बन जाने पर इन्द्र को पदारूढ़ किया ताकि वह शत्रु के आक्रमणों से उनकी रक्षा कर सके। उन्हीं के नाम पर बाद में राज्य शक्ति को ही 'इन्द्र' कहने लगे।

कभी-कभी निर्माण कार्यादि के उपलक्ष्य में राजपद भेंट किया जाता है, जैसा भारत में अंतिम खण्ड प्रलय (जल-प्लावन) के बाद चाक्षुस मन्वन्तर में पृथ्वी साफ कराने के उपलक्ष्य में वेनु पृथु को भारत का प्रथम राजा घोषित किया गया था।

(3) **युद्ध में विजय द्वारा राजा** :—परन्तु निर्वाचन के अतिरिक्त एक और अन्य मार्ग भी सत्ताधिग्रहण का है। हम नहीं कहते कि वह वैध है या नहीं। पर विश्व के इतिहास में होता यह रहा है कि बलवान अपने से कम बलवान पर हावी हो जाता है। प्रारम्भ में उसका कुछ विरोध होता है। कालान्तर में वह साम-दाम-दण्ड-भेद एवं विजय प्रसूताधिकार से अपने को राजा मनवा लेता है। अधिकार कानून का 9 वां तथा अंतिम तर्क है। (Possession is ninth point of law) दो ही जुर्म ऐसे हैं जिनको करते पकड़े जाओ तो दंड मिलता है, पर यदि जिन्हें कर डालने में मनुष्य सफल हो जावे, तो उसे दंड नहीं मिल पाता। एक तो है आत्महत्या और दूसरा है स्थापित राज्य शक्ति के विरुद्ध विद्रोह। आत्महत्या यदि सफल हो गई तो दण्ड किसे मिलेगा ? इसी

प्रकार विद्रोह दबा दिया गया तो विद्रोही मौत के घाट उतारा जावेगा। पर यदि विद्रोह सफल हो गया तो विद्रोही स्वयं राज्याध्यक्ष तथा दण्ड-नायक हो जाता है। तब उसे कौन दण्ड देगा ? अस्तु युद्ध-विजय के बाद जिसके वास्तविक अधिकार किसी भोगौलिक इकाई में स्थापित होते हैं, अन्य पड़ोसी राज्य तुरन्त उसे स्वीकार कर लेते हैं। इसे वास्तविक (De-Facto) अधिकार कहते हैं। नैयायिक अधिकार (De-Jure) तो दूसरे युद्ध की ओर उसमें उस पक्ष की विजय की प्रतीक्षा में बैठा रहता है।

(4) **पुरोहित द्वारा शपथ क्रिया से राजा की मान्यता प्राप्त करना** :—चाहे निर्वाचन से हो चाहे विजय से, राजा अपने नये पद पर आसीन होने को वैधता देने हेतु सबसे पहिला कृत्य शपथ लेकर प्रारम्भ करता है। तब उसे धर्म-संस्थापक (पुरोहित) की आवश्यकता पड़ती है, ताकि प्रजा उसकी धर्म-राज्य (धर्मतन्त्र) की स्थापना की उत्कट इच्छा से अवगत होकर उसका अनुशासन मानने लगे। 1972 में पाकिस्तान केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत गर्वनर टिक्का खाँ को पूर्वी पाकिस्तान की (बंगाल क्षेत्र) की हाई कोर्ट के चीफ जज ने शपथ दिलाने से इस आधार पर इन्कार कर दिया था कि वहाँ की विधान-सभा ने केन्द्र से सम्बन्ध विच्छेद का प्रस्ताव पास कर दिया था। तब वहाँ एक वैधानिक संकट तो उत्पन्न हुआ था, पर टिक्का खाँ ने अपने को सैनिक कानून के अर्न्तगत सैनिक गवर्नर घोषित किया था। पुनः 15 अगस्त 1975 को वहाँ मुजीब और उसके परिवार का वध करके नये दल ने शासन का अधिग्रहण किया तो चीफ जस्टिस ने शपथ दिलाने से इन्कार कर दिया। शपथ की रस्म तब डिप्टी चीफ जस्टिस ने अदा की। वेदों में राजा या राष्ट्रपति की शपथ से पूर्व की कार्य विधियाँ वर्णित है :

इमं देवा असपत्न ँ सुवध्वं, महते क्षत्राय महते ज्येष्ठाय
महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ।। (यजु० 9/40)

पुरोहित संसद सदस्यों से प्रार्थना करता है कि :—इस राष्ट्रपति को (1) बड़े क्षात्र धर्म के लिए, (2) बड़े ऐश्वर्य के लिए, (3) बड़े जनराज्य (4) राजकीय प राक्रम एवं शत्रुरहितता के लिए अभिषिक्त करो।

आगे पुरोहित कहता है :—

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा (यजु० 9/23)

(मैं पुरोहित पहले ही कह चुका हूँ कि हम सब कुछ त्याग करके राष्ट्र धर्म जगाने हेतु अपने को अर्पण कर चुके हैं।) तदन्तर शपथ दिलाते समय पुरोहित यह घोषणा करता है कि ऐ राजा तुझे सब प्रजा ने वाँछनीय ठहराया है।

आ त्वाहार्ष-मन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तुमा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ।
(ऋग्वेद-10/173/ 1)

(त्वा आहार्ष) तुझे मैं लाया हूँ, (अन्तः एधि) अन्दर आ। (ध्रुवः तिष्ठ) स्थित रह (अविचाचलिः) संचालन कर। (त्वा सवाः विशाः) तुझे सब प्रजा-जन

(वाञ्छतुं) चाहते रहे और (त्वत्) तुझसे राष्ट्र (मा अधिभ्रशत्) न गिरे।

पुरोहित कहता है कि राजा : तू चुना गया है, राजगद्दी पर आ, स्थिर और दृढ़ होकर कार्य कर, सब प्रजाओं की अनुकूलता प्राप्त कर और प्रजाओं की सुसंगति से स्थिर हो और ऐसा कोई कार्य न कर, जिससे तेरे कारण तेरा राष्ट भ्रष्ट हो, अथवा राज्य तेरे आधीन न रहे।

(सातवलेकर—भाष्य से)

राजतिलक की जो पद्धति ऐतरेय ब्राह्मण (8/15) में वर्णित है। उसके अनुसार राजा भी गद्दी पर बैठने से पूर्व अपने को प्रजा के समर्पित करता है। और जो मंत्र वहाँ राजा से कहलवाया है उसका अर्थ यों हैं :—

"हे प्रजाजन !

मैं जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त का सारा समय तुम्हें समर्पित करता हूँ। यदि कभी भी मैं प्रजा के साथ कोई असत्य व्यवहार करूंगा या उसके साथ कोई छल-कपट करूँ तो मेरा यज्ञ (सुकर्म) उस सुकर्म और दानादि का फल, मेरा राज्य एवं राजभवन, यहाँ तक कि मेरा और मेरे वंशानुक्रम वालों का जीवन तक तुम ले सकते हो।"

इस प्रथा को बनाये रखने में कोई हानि नहीं है। पश्चिमी राजनैतिक दर्शन-कारों ने भूतकाल में प्रजा और राजा के मध्य किसी करार के होने की तिथि से राज्य शक्ति का प्रादुर्भाव माना है। (Theory of contract) परन्तु वह एक काल्पनिक बात है। वास्तव में राज्य-प्रमुख व्यक्ति जब सिंहासन पर बैठता है, तो पदग्रहण के अवसर पर कुछ परस्पर वार्ता प्रजा और राजा के बीच होती है। वहीं पर करार का श्रीगणेश होता है। ऐसा ऋग्वेद (10/1/73) में उल्लेख है। पुरोहित प्रार्थना करता है कि हे राजा ! सारी जनता तेरी इच्छा करती है। यजुर्वेद में यह भाव अधिक स्पष्ट है :

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्या॑ᳩसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।

नर्य प्रजां मे पाहि शᳩस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुम्मे पाहि।

(प्रजा कहती है—ऐ तीन लोकों के नर श्रेष्ठ-नर्य (राजा) ! तुम्हारे माध्यम से हम प्रजाजनों का कल्याण हो। तुम युद्ध में हमारे शत्रुओं से हमारी रक्षा करो। पूजा में सोमादि, ओषधि, स्वर्णादि धन, और नैरोग्य का बाहुल्य हो। हमारे पशुधन की आप रक्षा करो। आपका ऐश्वर्य सारे राज्य में व्यापक रहे। हमारे पितादि परिवार की आप रक्षा करो।)

अस्तु शपथ ग्रहण करने वाले दिन से तथा कथित करार (Contract) प्रभावी हो जाता है, पश्चात् पुरोहित उसे यह आदेश देता है—

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां
पतिरेकराट् त्वं विराज।
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह।

त्वां विशी वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥
(अथर्व वेद 3/4 मन्त्र 1 व 2)

(हे राजन ! यह राष्ट्र (त्वा आगन) तुझ को प्राप्त हुआ है । इसमें तू तेज के साथ उदय हो । पूजित होकर प्रजा का अनुरंजन करने वाला होता हुआ तू इसमें एक क्षत्र हो विराज । सब दिशाओं में रहने वाली प्रजा तेरा आह्वान करे । तू इस राष्ट्र में नमनीय तथा सबको प्राप्त होने वाला (Accessible) हो । राज्य के लिए पाँच दिशाओं में रहने वाली प्रजाओं ने तुझे चुना है । राज्य में ऐश्वर्य युक्त (वर्ष्मन ककुदि) अच्छे स्थान पर राजधानी बना । पश्चात शूरता से हमारे लिए धनों का विभाजन कर ।)

(5) **लोक साहित्य एवं पौराणिक कथाओं द्वारा राज-पद का स्थिरीकरण**—थोड़ी-सी स्थिरता प्राप्त होते ही राजा अपने अधिकार को प्रजा-सम्मत और स्वीकृत कराने के लिए विभिन्न प्रकार के आडम्बर करने लगा । यह आडम्बर सभी देशों के राजाओं ने किये हैं ।

1. चमत्कार की गाथाओं को प्रसिद्ध करके ऐसे लोक-गीतों और लोक-साहित्य का निर्माण, जिसमें वर्णन होवे कि स्वयं ईश्वर या इन्द्र ने उसे अपने से पूर्व-वर्त्तीय अन्यायी राजा को वध करने का आदेश दिया है । अतः वह ईश्वराज्ञा से आया है । ईसा और मुहम्मद ने यही कहा था ।

2. राजा भाटों से प्रशंसा में गीत निर्मित कराता है कि यह राजा इन्द्र है और इसे सोमरस प्रस्तुत किया जाता है । इसकी आज्ञा मानी जावे ।
(श० ब्रा० 4/2/4-7)

3. यह राजा यज्ञाग्नि से प्रगट हुआ है, अतः पवित्र है ।

4. इस राजा ने पूर्व जन्म में अत्युत्तम कर्म किये हैं, अतः इसे शासन करने का अधिकार प्राप्त हुआ है । (महाभारत शान्ति-पर्व 246-19)

5. राजा ने पूर्व में यज्ञादि द्वारा इस प्रजा को खरीदा है, अतः प्रजा इसे स्वीकारे और उसकी आज्ञा में अनुरत रहे । (नारद-स्मृति 18/25) ।

6. एक करोड़ गायत्री का जप इस राजा ने पूर्व जन्म में जपा है, तब यह राज-पद पाया है । (अग्निपुराण 225-10/14)

7. इस राजा को प्रभु ने वायु, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और पृथ्वी में से श्रेष्ठ अन्श लेकर बनाया है । अतः यह पूज्य है । (मनु 7/4-5)

8. राजा लोग लुभावने उपनाम तथा उपाधियाँ ग्रहण करते थे । (अथर्व 20/127/7) । इसी क्रम में गिरिनार के स्तम्भ पर अशोक का नाम यों वर्णित है ।

भूदेव क्षितिदेव नरदेव नृदेव
देवानां प्रिय प्रियदर्शी अशोक ।

ब्रिटेन में प्रयुक्त उपाधियाँ यों हैं—His Majesty, Defender of fatith

तथा जापान में 'प्रभु का दूत-सम्राट' ऐसी शब्दावलियाँ प्रचलित हैं। यह ध्यान रहे कि इनमें से उपरोक्त कोई भी उद्धरण वेद का नहीं है। ये सब उद्धरण बहुत बाद में बनी स्मृति और पुराणों के हैं।

(6) **राजपरिवार में से ही उत्तराधिकारी की चुनाव प्रथा** : कविकुल शिरोमणि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में इक्ष्वाकु कुल के राजाओं की एक परम्परा का उल्लेख राजा रघु के श्रीमुख से कहलवाया है—

शैशवे अभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।

(रघुवंश अध्याय 1 श्लोक 8)

साधारण गृहस्थों की तरह राजाओं पर भी आर्यों की आश्रम व्यवस्था का क्रम लागू है कि उम्र बढ़ने पर लगभग 50 की वयस आते ही राजपाट युवराज को सौंपकर जंगल में मुनिवृत्ति लेकर चले जावें, ताकि राजपद से मोह न बना रहे। जब हर राजा जानता है कि 50 की आयु में ऐसा करना ही होगा, तो यावत वह शासन करेगा, अपकीर्ति का कोई कार्य कदाचित ही करे। इस पद्धति से उत्तराधिकार का कार्य शान्ति-पूर्व ढंग से हो जाता था। युवराज पद के नियम थे। मन्त्रिमंडल, श्रेष्ठी और पुरोहित वर्ग की मन्त्रणा से ही युवराज नियुक्त कर दिया जाता था। ब्रिटेन में उसे (Prince of Wales) कहते हैं।

युवराज का भी चयन किया जाता था। भारतवर्ष में राजा के उत्तराधिकार की यह प्रणाली अत्यधिक काल से रही है। स्वायंभुव मनु के पुत्र महाराज इक्ष्वाकु से भरतयुद्ध काल तक एक ही परिवार की अनेकों पीढ़ियों के नाम लिखे हैं। इसी प्रकार महाभारत काल के महाराज युधिष्ठर से अंतिम आर्य राजा यशपल तक 124 पीढ़ी गिनाई है, जिन्होंने 4175 वर्ष राज्य किया। प्रयाग के इस राजा यशपाल को शहाबुद्दीन गोरी ने संवत 1249 (सन् 1192) में पराजित किया था।

(सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—11 में पुस्तक हरिश्चन्द्र चन्द्रिका का उद्धरण जो नाथद्वारा से मार्ग शीर्ष शुकल 9 सम्वत 1939 विक्रमी को छपी थी) राजपरिवार में से सदा बड़े के ही युवराज बनाये जाने की पद्धति नहीं थी। पहिले इस विषय में कुल-गुरु (पुरोहित) से सम्मति ली जाती थी। तदन्तर राज्यपरिषद के पाँच सदस्यों की सम्मति ली जाती थी। फिर एतद-पद्धति द्वारा निर्णित परिवार के सदस्य को युवराज घोषित किया जाता था।

अस्तु यथासम्भव राजपरिवार में से उत्तम राज-पुत्र को राज्य-परिषद एवं प्रजा की सम्मति से उत्तराधिकारी बनाने का भारतीय विधान संस्थापित था। राजकुल में योग्य व्यक्ति नमिलने पर बाहर भी खोज की जाती थी। दैवयोग से यही परम्परा इंग्लैण्ड में थी और है।

त्रैतवाद दर्शन के यह बात अनुकूल है। विशिष्ट कर्मों के संस्कारों वाला व्यक्ति राजपरिवार में जन्म पाकर राज्य-संचालन का अधिकारी होता है। उसने जन्म-

जन्मान्तर में तदर्थ योग्यता प्राप्त की हुई होती है, जोकि शिक्षा द्वारा उछाली जाती है। प्रतिभा जैसी राज्य परिषद को दीखती है तदनुसार चुनाव कर लिया जाता है।

शतपथ ब्राह्मण (3,4,1,7 एवं 131,22,18) के अनुसार राजा अपने रत्नों (कार्यकारी परिषद एवं मन्त्रिमण्डल) का निर्माण करता है। परन्तु कालान्तर में यह परिषद उत्तराधिकार के अवसर आने पर या राजा के द्वारा धर्म की अवहेलना करने पर स्वयं राजा बनाने वाली 'राजकृता' (King-Maker) बन जाती है।

इस परिस्थिति का दुरूह रूप यहाँ तक हो सकता है कि नैपाल में राणा परिवार प्रधानमन्त्री होने से राजा की हरेक गतिविध पर नियन्त्रण रखता था। न केवल युवराज की घोषणा बल्कि यावज्जीवित राजा के एक स्थान से दूसरे पर जाने अथवा आखेट-गमन अथवा प्रजा-सानिध्य आदि हर बात पर प्रधानामन्त्री की स्वीकृति आवश्यक होती थी। दूसरी ओर ब्रिटेन में राजा एडवर्ड अष्टम को एक साधारण महिला (सिम्पसन) से विवाह करने पर उतारू देखकर उसे सिंहासन सेव्युत कर दिया गया था। ऐसी ही एक कथा द्रव्यदान जातक पृष्ठ 384 पर आती है, जिसके अनुसार अशोक को धर्म और दानादि राज्य-कोष से लुटाते देख उसके मन्त्रियों ने उसे सिंहासनच्युत करके उसके पौत्र सम्प्रति को राजगद्दी पर बिठाया था। मनु० (9-320) तथा गौतम स्मृति (11-12-14) तथा वशिष्ठस्मृति (39-41), के अनुसार यदि राजा पुरोहित एवं दीक्षित ब्राह्मणों के द्वारा निश्चित धर्म (Natural Laws) की अवहेलना करता है, तो उसे राज-च्युत किया जा सकता है यही तो Check and Balances का सिद्धान्त है। मनुष्य के गुणों का यत्किंचित भाग उसके वीर्यांश में होकर उसकी सन्तान में पहुँचता है, यदि वह सम्भोग के समय ऐसी बलवती इच्छा रखे। अस्तु हमारी परम्परा में यह बात आत्मसात हो गयी थी कि पिता की विरासत और उसकी उत्पादन क्षेत्रीय विशेषता अर्थात् व्यवसायात्मिक प्रशिक्षा में निहित उसका स्थान उसकी सन्तान (पुत्र अथवा पुत्री) को ही मिलना चाहिए बशर्ते कि सन्तान ने अपने को उस पद के अयोग्य न सिद्ध कर दिया हो। अतएव राजप्रमुख में यह उत्कंठा होना स्वाभाविक है कि उसका अंश उसके पद का उत्तराधिकारी हो। यह बात प्रजातान्त्रिक उद्घोष में कुछ अटपटी-सी लगती है पर विश्व के पूर्वीय और पश्चिम दोनों भूभागों में वह बात दर्शनीय है कि हुआ वही है, जो उपरोक्त मान्यता में अन्तर्निहित है। फ्रान्स में राज्य क्रान्ति हुई। राजा लुई (चौदहवें) को राजभवन से लाकर कत्ल कर दिया गया। नैपोलियन महान प्रजातन्त्र का प्रधानमंत्री बना। पर उसने ऐसा दाँव-पेंच खेला कि उसी के घराने से राजवंश चल निकला। क्रमशः नैपोलियन द्वितीय एवं तृतीय का राज्य चला।

चर्चिल, रूज़वेल्ट, चैम्बरलेन, कैनेडी, ईडन प्रभृति जो विख्यात घराने हैं, इनमें से दो-दो, तीन-तीन पीढ़ी तक प्रजातन्त्र पद्धति की वोट प्रणाली की आड़ में भी मन्त्री और प्रधानमन्त्री होते आये हैं। प्रजातन्त्रीय मंत्रियों के बच्चे बचपन से उन संस्कारों

को आत्मसात कर लेते हैं। वे गुणावगुण सीख लेते हैं। और वैसी ही महत्त्वाकांक्षा बना लेते हैं। अतः Subject to rejection of unfit अर्थात् अयोग्य को हटा देने की शर्त के साथ इस प्रयोग को करते रहना ही उपयुक्त है। "प्रियदर्शिनी इन्द्रा नेहरू-गांधी" द्वारा भारत में सत्ता प्राप्त करना भी उसी क्रम में है।

(7) राजा को पारिश्रमिक

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रंधय सर्वमस्मै।
अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्वपतिरस्तु राजा।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य॥
उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छूयतामाभरा भोजनानि।

(अथर्ववेद 4/22/2-3 एवं 6)

हे राज्यशक्ति (इन्द्र)

राजा को अश्व (यानादि) गौ दे। जो राजा का शत्रु है उससे उसे पृथक् सुरक्षित रखे। यह राजा क्षत्रियों (सैनिकों) में श्रेष्ठ हो (Body Guards)। इसके सब शत्रुओं को रंध दिया जावे। यह धनपति हो (Paid by Money)। यह विशपति हो (Servantsetc) यह बहुत तेज (रुआब) धारण करे, ताकि इसके शत्रु निस्तेज से लगें। राजा अधिक श्रेष्ठ हो। जो उसके प्रतिद्वन्वी (Rivals) है उन्हें पस्त (पराभवी) रक्खा जावे। राजा राज्यशक्ति का सखा Working in aid of) हो। उसके लिए भोजनादि का प्रबन्ध हो (Royal Kitchen)। राज्यशक्ति राजा को उक्त प्रकार से रक्खे। वेतनादि के अतिरिक्त अन्य सारी व्यय-व्यवस्था भी राज्य की और से होनी चाहिए।

(8) राजा के पद के साथ प्रयुक्त अंग (Attritbues) = राजा या राष्ट्रपति के अंग है जो उसके पद के साथ जुड़े हैं :

(1) स्वयं राजा और उसका व्यक्तित्व एवं राजमहिषी
(2) राजा के निजी सम्मति-दाता
(3) राज्य की भौगोलिक सीमा और उसकी आबादी या प्रजा
(4) राजधानी अथवा किलाबन्दी से युक्त नगर।
(5) राज्य-कोष
(6) राज्य-सेना
(7) राजा के मित्रगण और मित्र राष्ट्र।

राज्य की परिधि में राजा सात स्कन्धों में से एक है। पर राजा कहते ही इन सात का समीकरण सामने आ जाता है। अपना निजी जीवन रहने को एक अंश तक वह स्वतन्त्र है। मंत्रिमंडल की नियुक्तियाँ उसी के हस्ताक्षर से होंगी। राज्य

की भौगोलिक सीमा की घटा-बड़ी में उसका (Veto) विशेषाधिकार है। आबादी की अदला-बदली में ही यही बात है। राजधानी के शासकीय ढाँचे में उसका निजी अधिकार से विशेष हाथ होना है। कोष अर्थात् राष्ट्र की (Tinancial Stability) के सम्बन्ध में वह तुरन्त राजाज्ञा दे सकता है। युद्ध आरम्भ और समाप्त करने तथा संधि-विग्रह के मामले में उसकी सहमति आवश्यक है। यह बात उसके विशेषाधिकार की परिधि में है, जिनमें उसकी सहमति निर्णयों के लिए आवश्यक है। इन सात अंगों से युक्त ही राजा या राष्ट्रपति होता है। इसका वर्णन तुलसीदास के रामचरित मानस में भी आया है। भरत ने चित्रकूट पर्वत पर वनवासी राम को भी राजा-वत देखा। उन्हें वहाँ राज्य पद के सातों अंग दिखायी दिये। तुलसीदास ने रूपक यों बाँधा है :

> रामवास वन सम्पत्ति भ्राजा। सुखी प्रजा जुनु पाहि सुराजा।
> सचिव विरागु विवेक नरेसू। विपिन सुहावन पावन देसू।
> भट जम नियमसैल रजधानी। साति सुमति सुचि सुन्दर रानी।
> सकल अंक सम्पन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ।
>
> (अरण्यकांड दो० 234 चौ० 5 से 8 तक)

इस प्रकार राज्यशक्ति का यह दूसरा स्कन्ध निर्मित होता है। (Head of the State) के कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों और सीमाओं का निर्माण इन वैदिक निर्देशों के आधार पर होना चाहिए।

राजा के रत्न—राजा के अंग और रत्न में कुछ उभयनिष्ठ भी हैं। अंग राज्यव्यवस्था के सहायक हैं। रत्न निजी-जीवन के साथी हैं। कभी-कभी वह उनसे भी अन्तरंग चर्चा कर निकलता है। अथर्व वेद और शतपथ ब्राह्मण में 11 रत्न कहे हैं।

(1) सूत=जिसे बाद में अश्वाध्यक्ष कहा है।

(2) ग्रामिणी=ग्राम्य-व्यवस्था का संचालक जिसके सुपुर्द अर्ध सैन्य व्यवस्था भी थी। शतपथ ब्राह्मण (5-3-1-6) के अनुसार यह वैश्यों में से होना चाहिए।

(3) क्षत्र (Chamberlain)
(4) संग्रहत्र (Charioteer and Treasurer)
(5) मान्दुधा (Head Caretaker or Bailiff)
(6) अश्वप (Superintendant of Indoor Games)
(7) गोविकारत्न (गौ रक्षक तथा पशुधन का नियन्त्रक)
(8) पालागला—विदेशी-लोगों का स्वागतकर्ता
(9) सेनानी (Commander-in-Chief=Palace Guard)
(10) पुरोहित (Eccliastical Man)

यह वास्तव में विस्मयकारी बात है कि ब्रिटेन में (Lord Privyseal,

Chawberlain, Chanleller of Exchequer) इत्यादि शब्द संस्कृत में आये इन पदों के नपे-तुले अनुवाद मात्र हैं।

(11) **राज-महिषी** : अन्य अंगों पर कुछ न लिखकर वेद में राजा की पत्नी के विषय में आया सन्दर्भ उद्धृत करना आवश्यक है :

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि ।

(यजु० 13/17)

(हे विदुषी स्त्री : प्रजा का स्वामी तुझे ऐसे स्थापन करे जैसे समुद्र के ऊपर नौका। तेरा सत्कार हो और कीर्त्ति प्रंशसित हो। तू भूमि के समान सुख देने वाली है। राजा जिस कार्य में चिन्तित हो उसमें राजमहिषी का मत ले।)

इसमें सीता का उदाहरण है। हर यज्ञ में सीता उनकी साथिनी थी।
भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वस्याया विश्वस्य भुवनस्यधत्री ।
पृथिवी यच्छ पृथिवी दृहंद् पृथिवीं माहि सी: ।

(यजु० 13/18)

यहाँ भी राजमहिषी की तुलना पृथ्वी से की गयी है। और उसे पृथ्वी को धारण करने योग्य ठहराया गया।

इस प्रकार अथर्ववेद में वर्णित जनशक्ति का तीसरा विकास, सभा, समिति, में होकर आमन्त्रण पद्धति में हुआ। राजा तृतीय पद्धति का एक मात्र अंग है। भूत में ब्रिटेन में राजा ने सभा और समिति का निर्माण किया। पर आदर्श व्यवस्था में स्वतन्त्र-भारत के आर्यों ने पहिले सभा बनायी, फिर समिति। सभा और समिति ने राजा का निर्माण किया और राजा ने आमन्त्रण पद्धति का।

(12) **राजा के पद की गरिमा पर वेद के उद्धरण**

राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु ।

(ऋग्वेद-7/34/11)

राजा प्रगतिवान राष्ट्रों का रूप है। इसलिए इसके पास सब प्रकार का उत्तम तेज (Authority) संगृहीत किया जाए। इसी हेतु राजा के पद की गौरव गरिमा वेद में यत्र-तत्र की गयी है—

(1)

दिवश्चित् वृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे
महित्वम्। राजा कृष्टीनामसि मानुषीणां युधा
देवेभ्यो वरिवश्च कर्थ ।। (ऋक् 1.59.4)

विश्व के नरों में श्रेष्ठ (वैश्वानर)। तू सारे ज्ञान अर्थात् विधि-विधान का श्रोत (Source of Law) है। तेरा महागुण युक्त प्रभाव बड़े-बड़े प्रकाशकों से भी अधिक है। तू मनुष्य तथा मनुष्येतर अन्य प्रजा का अधीश्वर (राजा) है। कभी कुछ युद्ध द्वारा प्राप्त कराता है। युद्ध का स्वामी (Supreme Commander) भी राजा है।

यद्यपि हर युद्ध के देवता (Commanders) पृथक-पृथक हैं यहाँ उसकी प्रमुसत्ता (Sovereignty) का उल्लेख है। सारा कानून उसी के नाम से प्रचारित और प्रसारित होना चाहिए। राष्ट्र की रक्षा हेतु जो सैन्य-विन्यास है, उसका सर्वोत्कृष्ट पद उसे ही प्राप्त होना चाहिए। उसकी सत्ता स्थिर बनाये रखने का श्रोत सेना ही है। अतः वह सेना का भी अध्यक्ष होता है।

(2)

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कंभुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वनरो यतते सूर्येण।।

(ऋग्वेद 1/98/9)

जो विश्व का (अथवा एक राष्ट्र का श्रेष्ठ-नर) अर्थात् नेता है और इस कारण हमारा राजा है।

(1) उससे सब प्रजा को सुख (Welfare) एवं 'अभिश्री' संवृद्धि (Prosperity) की आशा है।

(2) 'इतो जातो विश्वमिदं विशष्ट' उसी के प्रभाव से इस सारे विश्व में चेतना का प्रजन होता है और उत्पादन की सृष्टि होती है। (Prompter of Production)

(3) वैश्वानरस्य सुमतोस्याम—
उसी से प्रजा में सुमति स्थापित होती है। (Law and Order Prevaileth)

राजा राष्ट्र में न्याय और व्यवस्था बनाये रखता है। अतः जो कोई अपराध करता है वह राजा की स्थिति को चेलेन्ज करने से उसका शत्रु है।

प्रजा की सुख वृद्धि उसका उत्तरदायित्व होने से उसके धन-धान्य की वृद्धि के उपाय करना, उसके आँकड़े उपलब्ध (Statistics) करके योजनाएँ बनवाना उसका उत्तरादायित्व है।

(3)

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरः सदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी।

(ऋग्वेद 1/73/3)

हमारे राजा में ये गुण होंवे—

(1) देवो न यः पृथिवीम
जो पृथ्वी में प्रकाशित है (Shining in his Realm)

(2) हितमित्रो न राजा
हमारा हित चाहने वाला मित्रवत् है।
(Welfare-State minded)

(3) पुरः सदः शर्मसदो न वीराः

नगर के सदस्यों, राज्य के वीर पुरुषों और अन्य योग्य प्रतिनिधियों के माध्यम से जो शक्ति प्रयोग करता है।

Responsible to citizens and to able representatives

(4) अनवद्या पति जुष्टेव नारी

पतिव्रता नारियों से भी परामर्श प्राप्त करता हुआ।

(With women representatives also provided they are faithful to their husnands)

राजा राष्ट्र का प्रथम नागरिक है। वह सारा प्रबन्ध केन्द्रीय समिति सभा, तथा ग्राम्य संगठनों, महाजनों तथा वीर सेनाध्यक्षों की सलाह से करता है। मनुष्यों से नारियाँ अधिक न्यायोचित, करुणा-पूर्ण तथा सात्विक वृत्ति वाली होती हैं। अतः सब समितियों, सभाओं में वह उनके लिए स्थान सुरक्षित करके, नामजद (Nominate) करता है। इस प्रकार कल्याणकारी राज्य का वह निर्माता है।

(4)

सदसस्पतिमद्भुत प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्
सनि मेधामयासिषᳪ स्वाहा ।। (यजुर्वेद 32/13)

सभापति में निम्न गुण होने चाहिए—

अदभुत = (Novel) चमत्कारी निर्णय करने वाला।
इन्द्रप्रिय = (Loved by Ruling Junta) राज्य शक्ति का प्रिय
कमनीय = (Willed by Subjects.) जनता जिसकी कामना करे।
सनिम् = (Adhored) जिसकी जनता प्रशंसा करे।
मेधाम् = (In tellectual) बुद्धिवादी। जिसके निर्णय बुद्धिपूर्वक हों।
स्वाहा = (Determined Declarations) जो निर्णयों पर कटिबद्ध हो।

(12) **अन्यायी राजा का उपचार** :—राज्य शक्ति के द्वितीय स्तम्भ के नाते राजा के हाथ में सारी व्यवस्था होती है। राज्य कर्मचारी उसके नौकर कहे जाते हैं, क्योंकि वह ही उनकी नियुक्ति करता है। सेना का भी वह सर्वोच्च प्रशासक होता है। राज्य के धन का विनिमय उसी के नाम से होता है। मंत्रिमंडल को भी उसी के नाम से नियुक्त किया जाता है। वह सर्वोच्च है। इतनी सत्ता वाले एक व्यक्ति द्वारा निरापद होकर अधिकारों के दुरुपयोग करने की सदा सम्भावना है। राज्य शासन की प्रणाली तो हर पीढ़ी अपने औचित्यानौचित्य की परिभाषानुसार स्थिर करती है, पर यदि राज्याध्यक्ष क्रूर और चतुर है तो वह अन्य सब स्तम्भों पर छा सकता है। इसका क्या उपचार है?

वेदोक्त राजदर्शन हिंसक और अहिंसक दोनों उपायों की अनुज्ञा प्रजा तथा राज्यशक्ति के अन्य स्तम्भों को देता है :

(क) अहिंसक पद्धति : इसके निम्न रूप हो सकते हैं :

(1) राजा के पदारूढ़ रहते हुते भी उसके अधिकारों को सीमित करना। उसे राज्य

के ऐसी प्रकरणों हेतु धन की स्वीकृति न देना जिन्हें समिति अनुपयुक्त समझती हो । उसके व्यवहार की चर्चा न्यायाधीश के यहाँ उठाना । उसे किसी को बिना अदालत की आज्ञा के जेल न भेजने देना । इन्हीं तीन आवाजों को लेकर ब्रिटेन में शनैः शनैः राजा के अधिकार अति सीमित कर दिते गये थे ।

(2) राजा को पदच्युत करना—वाल्मीकीय रामायण अध्याय 33 में वर्णन है कि क्रोधी, कंजूस, मद्यपी, घमंडी और धोखेबाज राजा की दुर्दिन में सहायता उसकी प्रजा नहीं करती है । वह न तो उसकी सेवा करती है, न उससे डरती है । ऐसा राजा शीघ्र पद-च्युत कर दिया जाता है ।

(3) राजा को पदच्युत करके देश से निर्वासित कर देने की अनुज्ञा शतपथ ब्राह्मण 12/9/3 के मंत्र 1 से 13 तक में है।

वहाँ दुष्तृत औभासायन राजा का वर्णन है । जिसके पूर्वजों ने वंशानुक्रम से 18 पीढ़ी तक राज्य किया था । पर जब उसने अन्याय किया, तो प्रजा ने उसे राज्य की सीमा से निष्कासित कर दिया । कैकेयी ने भी यही तर्क दिया था कि उसके साथ विवाह के करार के अनुसार दशरथ को उचित था कि भारत को राज्य देते । अस्तु रामचन्द्र को युवराज बनाने के अधार्मिक कृत्य के फलस्वरूप उसने राम को 14 वर्ष के लिए राज्य से निर्वासित करवा दिया ।

(ख) **हिंसक पद्धति** : यदि अहिंसक मार्ग सफल नहीं होवे, तो अन्यायी व क्रूर राजा को फिर चाहे वह स्वदेशी ही हो या विदेशी, हिंसा के मार्ग से हटाना भी वैदिक राज-दर्शन में वैध है ।

शिवपुराण (59/ 100/1) में सतयुग की एक घटना वेणु राजा की लिखी है । उसने यज्ञों की मनाही करके अपनी पूजा करवाने की प्रसंग रचा था । ऋषियों ने कुषा घास को विषैला बना कर उसका वध करवा दिया । याज्ञवल्क्य स्मृति (1/339/ 41) में स्पष्ट कहा है कि यदि राजा प्रजा को दुखी करके उनसे धन छीन कर धनवान होना चाहता है, तो पीड़ित-जनता की क्रोधाग्नि तब शान्त होगी जब वह अन्यायी राजा एवं उसके वैभव और सन्तानों तक को नष्ट कर दे । फ्रांस में क्रुद्ध भीड़ ने ऐयाश राजा लुई 14 वें का वध कर दिया था ।

परन्तु भारत वर्ष में ऐसा हुआ बहुत कम है । इसका कारण यह हो सकता है कि प्रायः राजा क्रूर न हुए हों, किम्बा जनता ही भीरू रही हो । पर विधि-कार ने उसका उल्लेख स्पष्ट किया है कि ऐसे राजा के प्रति प्रजा का क्या धर्म है ।

(ग) निदान हमारे सामने ब्रिट्रेन का उदाहरण ऐसा उपलब्ध है, जहाँ अन्यायी राजा को हटाने के लिए उपरोक्त सभी उपचार काम में लाये गये हैं । ब्रिटेन के इतिहास के इस पहलू पर कुछ और भी लिखना समीचीन होगा ।

प्रथम समुल्लास में वेद के सोदक्रामत शब्द में सा से अर्थ प्रजा का लिया था । प्रजा क्रान्ति करती है । ब्रिटेन की इंगरेजी भाषा आर्य संस्कृत परिवार की भाषा है । वे लोग ब्रिटेन में बहुत पूर्व कहीं से आ बसे थे । ब्रिटेन में उन्होंने अपनी मध्यम-वर्गीय

स्थिति बना ली थी। वे अपने साथ अपनी विटान परम्परा लाये थे जिसका मूल भाव था आपस में मिल जुलकर निश्चय करना और उन निश्चयों के अनुसार अपनी व्यवस्था करना। इसे (Representativc Government) कहते हैं। अपनी इस पद्धति के कारण वे पराधीन रहते हुए भी अन्यायी राजा को नियन्त्रित करते रहे और उन्होंने विदेशी राजा को भी आत्मसात करके उसे वेस्ट मिनिस्टर के किले में एक शक्ति-रहित-राजा (Limited Monarchy) के रूप में कैदी सा बना दिया है।

9.06.03—तीसरा स्कन्ध—अधिशासन तन्त्र :— कर्मचारीगण पूर्व-निश्चित योजनाओं के आधार पर राजाज्ञा को कार्य रूप में परिणित करते हैं। ये राजा के हाथ पैर और आखें हैं। राज्य के सहस्र शीष और सहस्र आँखें वेद ने पुरुष-सूक्त में बताई हैं।

अथर्व वेद (7/109/6) में राज्यभृतों के निम्न कर्तव्य बताये हैं :

सं वसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्र भृतो ह्यक्षाः।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

राज्य कर्मचारी के निम्न कर्तव्य हैं :

1. प्रजा की स्थिति को अध्ययन करके राजा को उससे अवगत कराना।
2. राजा उसके निराकरण हेतु जो कुछ नीति निर्दिष्ट करे उसके—
   (अ) पालनार्थ योजना बनाना।
   (ब) उस कार्य को सहयोगियों में बाँटना।
   (स) सहयोगियों के कार्य का समन्वय करना।
   (द) जो धन इस कार्य हेतु दिया है उसका विनियोजन करना।
   (य) इस योजना से जो फल हुए, उनकी सूचना राजा को देना।
3. इस सबके उपलक्ष्य में वह राजा से वेतन प्राप्त करता है। प्रजा से अतिरिक्त एवज नहीं। वह तो घूस है।

(2) नियुक्तियों का सिद्धान्त :

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं नारकाय वीरहरणं पाप्मने क्लीवमाक्रयाथा अयोगूं कामाय पुंश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम्। (यजु० प्र० 30/5)

इन नियुक्तियां में सिद्धान्त योग्यता का है। राष्ट्राध्यक्ष को उचित है कि निम्न प्रकार की वृत्तियों वालों को नियुक्त करने का प्रबन्ध करे।

(अ) अध्यात्म तथा शैक्षणिक प्रवाह के मुख्य संचालक।
(ब) शूर, इषव्य, अति व्याधी और महारथी फौज में तथा योग्य लोग शासन कर्ता के रूप में।
(स) यातायात और वितरण कार्यों पर वैश्य वृत्ति वाले।
(द) परिश्रमशील लोग उत्पादनादि में।
(य) तस्कर व्यक्ति अर्थात् अँधेरे में से गुप्त सूचनाएँ प्राप्त करने वाले।

(र) नारकाय (कारागारादि) के व्यवस्थापक (Jailor)।
(ल) पाप्मनेवलीवम्—अपराध निरोधक (पुलिस)।
(व) आक्रयाया अयोगूम्—यातायात नियन्त्रक।
(स) कामाय पुंश्चलम्—व्यभिचार-नियन्त्रक।
(ट) अतिक्रुष्टाय मागधम्—प्रचारक जो क्रूर कार्यों के विरुद्ध जनमत बना सके।

यजुर्वेद के 16 वें अध्याय में अन्यशासनाधिकारियों के पदों का भी उल्लेख है।

(3) **शासन का विभागीकरण** :—शासन के समूचे कार्य को राष्ट्र की नृचक्षसा (जन-गणना Census) के आधार पर विभक्त करने का उल्लेख यजुर्वेद 30/4 में यों हैं :—

विभक्तार७ृहवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम्॥

अतएव आगे के मंत्रों में निम्न विभागों का सम्भाव्य वर्णित है :
यजु0 30/10

(1) नृत्ताय सूतम्=नृत्य विभाग।
(2) गीताय शैलूषम्=संगीत।
(3) धर्माय सभाचरम्।
(4) नरिष्ठायै भीमलम् (दुष्ट दलन)।
(5) नर्माय रेभम् (शासकों को ट्रेनिंग देना)।
(6) हसाय कारिमानदाय स्त्रीषखं प्रमदे कुमारीपुत्र, (विनोद हास्य नाटकादि)।
(7) मेधायै रथकारम् (ट्रांसपोर्ट)
(8) धैर्याय तक्षाणम् (काष्ठ कलादि)।
(9) कौलालम् (बेकारी) तथा भोजन व्यंजनादि एवं पेय का निर्माण)।
(10) मायायैकर्मारम् एवं पेय तथा गेहायोपतिम (भवन निर्धाण योजना)
(11) मणिकारं शुभवैषम्=प्रदर्शन।
(12) शरव्याया इषुकारं धनुष्कारं=शस्त्र-निर्माण।
(13) नदीभ्यः पौंजिष्ठम्=नदी घाटी एवं जल मार्ग।
(14) पुरुष व्याध्राय दुर्मदम्=शिकार सम्बन्धी।
(15) प्रयुग्भ्य उन्मत्तम्=पागल-नियन्त्रण
(16) सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदम्=सर्प विद्या।
(17) अयेभ्यः कितबम्=ताश आदि के दाँव पेच द्वारा विदेशियों से जन सम्पर्क बढ़ा सकने वाले।
(18) पिशाचेभ्यो विदलकारीम्=पिशाच वृत्ति वालों में भेद डलवाने वाले।
(19) यातु धानेभ्तः कण्टकीकारीम्=विष-कन्या।
(20) सन्धये जारम्=दूत विभाग
(21) निष्कृत्यै पेशस्कारीम्=पुरातत्त्व

(22) पवित्राय भिषजम् = स्वास्थ्य ।
(23) प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शन = (आवजरवेटरी)
(24) अशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षाया अभिप्रश्निनम् = मौखिक और लिखित परीक्षक संस्थान
(25) मर्यादायै प्रश्नविवाकम् = वकील विभाग
(26) अर्मेभ्यो हस्तिपम = हाथी संरक्षण
(27) जवायाश्वपम् = अश्वादि विभाग
(28) पुष्टयै गोपालम् = गोरक्षा विभाग
(29) वीर्यायाविपालम् = ऊन देने वाली भेड़ों का विभाग ।
(30) तेजसेऽजपालम् = तेज—प्रधान होने से बकरी विभाग ।
(31) इरायै कीनाशम् = कृषक संरक्षण
(32) कीलालाय सुराकारम् = मद्य—विभाग
(33) श्रेयसे वित्तधम् = वित्त प्रसाधन

यजुर्वेद 30/11

(34) आध्यक्षायानुक्षत्तारम् = यानों के सारथी के प्रशिक्षणार्थ
(35) भायै दार्वाहरम् = ईंधन विभाग
(36) प्रभाया अग्न्येथम् = लाइट हाउस
(37) उपसेक्तारम् = सिंचाई
(38) मेधाय बासः पल्पूलीम् = फौजादि में धोबी
(39) ऋतवे स्तेन हृदयम् = गुप्त भेद लाने वाले ।

यजु 30/12

(40) ओपष्ट्राचातानुदात्तारम् = निरीक्षक गण
(41) भूम्ने परिष्कन्दम् = गर्भाधानादि विषय ।
(42) प्रियाय प्रियवादिनम् - सम्पर्क विभाग ।

यजु 30/13

(43) वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेटारम् = सामाजिक कल्याण
(44) क्रोधाय निसरम् = क्रोध प्रगट करने वाले दण्डदायक
(45) योगाय योक्तारम् = योग पद्धति का प्रसारक
(46) क्षेमाय विमोक्तारम् = स्वागत विभाग
(47) वपुषे मानस्कृतम् = स्वास्थ्य शिक्षा प्रसार ।
(48) निर्ऋत्यै कोषकारीम् = कोष विभाग ।

यजु॰ 30/14

(49) यमायासम् = दण्ड विभाग
(50) यमाय यमसूम् = स्थायी विधान संशोधन समिति

यजु० 30/15

(51) सरोभ्यो धैवरम् = तालाब विभाग

(52) उपस्थावराभ्यो दाशम् = उपवन विभाग

(53) नड्वलाभ्य: शौष्कलम् = दलदल भूमि सुधार

(54) अवराय कैवर्त्तम् = मल्लाह सम्बन्धी

(55) तीर्थेभ्य आन्दम् = पुल सम्बन्धी

(56) गुहाभ्य: किरातम् = भूगर्भ विषयक

यजु0 30/16

(57) सानुभ्यो जम्पकं = पर्वतेभ्य किम्पुरुषम् = पर्वतारोहण एवं पर्वतीय मार्ग

(58) वीभत्सायै पौल्कसम् = फाँसी देने वाले

(59) वर्णाय हिरण्यकारम् = सोने सम्बन्धी

(60) तुलायै वाणिजम् = तुला एवं बांट सम्बन्धी

(61) विश्वैभ्यो भूतेभ्य: सिध्मलम् = कुष्ट विभाग ।

यजु० 30/17

(62) आर्त्यै जनवादिनम् = उपद्रव कराने वाले

(63) घोष भषम् = घोषणा विभाग

यजु0 30/19

(64) वनाय वन्ययम् = वन संरक्षण

(65) हसाय कारिम् = बहुरूपिया विभाग

(66) यादसे शाबल्याम् = जल-जन्तु विभाग

यजु० 30/20

(67) वीणावादंक्रोशाय = बैंडवाजा विभाग ।

समीक्षा = इनमें किसी एक प्रकार की अथवा सर्व प्रकार की प्राकृतिक स्थिति और भूगोल वाले राष्ट्रों का उल्लेख है । विभागों का उद्देश्य भी बता दिया गया है । कुछेक विभागों का उल्लेख ऋग्वेद में भी यों आया है :

यस्याश्वास: प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथास: ।
य: सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्र: ।।

(ऋ० 2/12/7)

(प्रदिशि यस्य आश्वास:) सर्वत्र जिस राज्यशक्ति का नियन्त्रण काम करता है (यस्ये गाव:) जिसके निर्देश में गौवें आदि पशु रहते हैं (यस्य ग्रामा:) जिसके निर्देश में ग्राम बसते हैं । (यस्य विश्वे रथास:) जिसके निर्देश में बड़े-बड़े गतिमान यान रहते हैं (य: जजान) जिसने नियन्त्रित किया (सूर्य) को (य: उषसं जजान) जिसने ऊषा को (य: अपां नेता) जो जल को नियन्त्रण में रखने वाला है (स: इन्द्र) वह राज्यशक्ति है ।

इसमें निम्न मुख्य विभागों का वर्णन है :

1. पशु विभाग
2. ग्राम्य व्यवस्था विभाग
3. यातायात विभाग
4. वेधशाला विभाग
5. समुद्र का नियन्त्रण विभाग

स्पष्टतः यह प्रान्तीय शासन के (Local Sub states) के विभाग हैं।

चतुर्थ स्तम्भ = वित्त :

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
माँ हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनं ।।
(ऋग्० मंडल 10 सूक्त 48 मंत्र 1)

राज्यशक्ति के वसु रूप में राजा कहता है कि मैं पहिले से और सदा से धन (Currency) का जनक (Creator.) रहा हूँ। मुझी को सारे जीव पिता वत (Fathrely मानते हैं। मैं दासों में भोजन उनकी उपयोग की वस्तुओं (Consumer Goods) बाँटता हूँ/(Distribution Through Rationing)। धन से तात्पर्य निश्चय ही सिक्के से है क्योंकि विभु धन का उत्पादन नहीं करता है। हाँ कठिनाई में सब प्रजा उसी की ओर देखती है। वह प्रजा के लिए देखता ही रहता हैं कि अन्नादि यथावश्यकता सब जनता को मिलते रहें। आगे अथर्व वेद 3/4/2 उद्धृत किया है उसमें भी प्रजा राजा से कहती है (वसूनि नः विभव) हमारे में धनों का विभाजन करा। उत्पादन तो प्रजा करती है। पर उसकी विभाजन नीति राज्य निश्चित करता है। नहीं तो उत्पादक अन्न को सड़ जाने देगा या नष्ट कर देगा, पर जनता को उचित मूल्य पर उपलब्ध नहीं करेगा। यूरोप में जब अन्न अधिक उत्पन्न होता है तो भाव न गिरने देने के लिए अन्न को समुद्र तक में डुबो देते हैं। राज्य ऐसा नहीं होने देगा। वह धन अर्थात करेन्सी के माध्यम से उसके वितरण की व्यवस्था करेगा। राज्य ही सिक्कों का प्रचलन करेगा। एक और महत्वपूर्ण कार्य राज्य को वेद ने सौंपा है :

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुः।
उताशितमुपगच्छन्ति मृत्यतः।
उतोरयिः पृणतो नोपदस्यत्युता
पृणन्मर्डितारं न विन्दते ।। (ऋग्वेद 10/117/1)

(राज्य-किसी को भूख से नहीं मरने देगा। भले ही अधिक खाने वाले को मरने के अवसर प्राप्त होते रहे।)

राज्यशक्ति द्वारा धन की पवित्रता को प्रोत्साहन

इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूति भिः।
शुद्धो रयिं निधारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः।

(ऋग्वेद 8/95/8)

हे इन्द्र (राज्य शक्ति)

शुद्धाभि: ऊतिभि शुद्ध: = शुद्धि रक्षा और संरक्षण के द्वारा हमें उन्नत बनाने वाली तू है। जीवन घूस (Corruption) से बचाती है।
शुद्ध: न: आ ग्रहि = तू शुद्ध होने से हम भी शुद्ध होंगे।
शुद्धं रयिं निधारय = हमारी आजीविकादि से शुद्ध आय हमें प्राप्त होने दे।
शुद्ध सोम्य: ममद्धि = सब पर साम्यता (बराबरी) बरसाती हुई तू मुझ को आनन्दित करे।

इस विनियोजन का कारण यह है कि जनता राज्य शक्ति से धन और ऐश्वर्य भी चाहती है।

स रायस्खामुप सृजा गृणानः पुरुश्चन्द्रस्य त्वमिन्द्र वस्वः।
पतिर्बभूथा समो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा॥

(ऋ० 6/36/4)

ऐ (इन्द्र)—राज्यशक्ति तू (गणान:) प्रशसित होती हुई (पुरुश्चन्द्रस्य) अत्यन्त आह्लाद कारक बन के (वस्व:) हमें निवास-स्थान, गृह-मकान (रयि: धन उपभोग पदार्थ की (खां) धारायें (उपसृज) हमारे हेतु प्रवाहित कर अर्थात योजनायें बना। तू (जनानाम्) जनता-जनार्दन का (असम: पति:) अनुपम पति है और (विश्व भुवनस्य) सब भुवनों का (एक: राजा) एक ही स्वामी है।

(5)- **राज्य शक्ति का पंचम स्कन्ध = मन्त्री** : वाजपेय यज्ञ में राजा खड्ग को अपने मन्त्री को देता था। मन्त्री सचिव को, सचिव अमात्य को। मन्त्री शब्द मन्त्रणा और गुप्त मन्त्रणार्थ ही अभिप्रेत है। मन्त्री से अर्थ प्रधानमन्त्री का है। वह पुरोहित और राजा के बाद राज्यशक्ति का तृतीय पदाधिकारी और मुख्यांश हैं। प्राय: यह देखा व कहा गया है कि कुलीन परिवारों में से वंशानुक्रम से मन्त्री होना चाहिए। हां उनमें से जो अयोग्य हो उसे उपेक्षित कर देना चाहिए। तुलसीदास ने (अरण्यकांड चौ० 33) में रावण की इसीलिए खिल्ली उड़ाई है कि उसने अपने मन्त्री सर्व-साधारण में से नियुक्त किये थे। महाभारत में उसकी निम्न आयु सीमा 50 वर्ष कही है। अग्निपुराण अध्याय 127 में विधान है कि घूसखोर मन्त्री को देश निकाला दे दे।

(6) **राज्य शक्ति का छटा स्कन्ध = सचिव** : रुद्रदमन राजा के जूनागढ़ स्थित शिलालेख में सचिवों के दो प्रकार लिखे हैं। (अ) कर्म सचिव और (ब) मति सचिव। मन्त्रियों से कुछ नीचे के पद सचिव कहलाते थे। कहीं कहीं तीन (मन्त्री, सचिव एवं अमात्यगण) के अतिरिक्त तीर्थ का भी पद होता था। सचिवों की संख्या मनु ने 12, वृहस्हति ने 16, तथा उक्षांश ने 20 कही हैं।

म० भा० शान्ति पर्व (86/7-9) में ये संख्या 37 लिखी है, जो इस प्रकार होनी चाहिए :

ब्राह्मण = 4
क्षत्रिय = 8

शूद्र = 3
सूत = 1

इस प्रकार 16 तो कर्म सचिव ही हैं। राजा एक सचिव मात्र ही से परामर्श न ले, क्योंकि वह केवल एक मत ही जान सकेगा। दो पर भी न निर्भर रहे, क्योंकि दो मिलकर गुमराह कर सकते हैं। और यदि दो ने परस्पर विरोधी मत दिये तो राज्य की एक नीति न होगी। अतः चार सचिवों से परामर्श लें। इससे अधिक की सम्मिति लेने से वह सम्मति गुप्त न रह सकेगी। यही अन्तरंग परिषद् (Inner Cabinet है।

राज्य शक्ति का सातवाँ स्कन्ध— अमात्य : वही आगे वैश्यों में से 21 सचिवों को लेना लिखा है, जो उत्पादन के कार्य से सम्बन्धित अमात्य प्रतीत होते हैं। वैश्य तो धन-सम्पदा से सम्बन्धित वर्ग है। वह राज्य द्वारा उद्योग धन्धों के प्रोत्साहन का कार्य करेगा। अधुना रूस में यह प्रणाली है कि उत्पादन सम्बन्धी विभागों के प्रवन्धक पद बड़े माने जाते हैं। पर आर्य व्यवस्था में शासकीय विभागाध्यक्ष कर्म-सचिव कहे गये हैं और अमात्य उत्पादनाध्यक्ष होते हुए भी पद में कर्म सचिव के बाद आते हैं। क्योंकि उत्पादन का संरक्षण और उसका बुद्धि पूर्वक वर्गीरकण और विभाजन ही समाज को स्थिर रखता है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि मन्त्री को तो राजा नियुक्त करता था, पर कर्म सचिव और अमात्य अपने विशेष व्यापार में कुशल और दक्ष व्यक्ति ही हो सकते थे। तो भी वाणिज्य मन्त्री की वन्दना की गई है। "नमो मंत्रिणे वाणिज्यम्" ऐसा यजुर्वेद 16/9 में आया है।

(8) राज्य शक्ति का अष्टम स्कन्ध—न्याय और दण्ड

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्॥

ऋग्वेद- 1/10/9

(आश्रुत्कर्ण) हे सब की पुकार को सुनने वाले (इन्द्र) (में हवं) मेरी पुकार को (नु श्रुधी) निश्चय पूर्वक श्रवण कर। (मग्गिरः) मेरी विनती को (चिददधिष्व) निश्चय ही स्वीकार करो। (युज में चिद अन्तरं) आप तो मेरे अभिन्न सखा हो। (इमं मम् स्तोमं)। मेरी इस शुभ स्तुति पर आकृष्व न्याय की व्यवस्था करो। राज्य का निर्माण हो मनुष्य की अन्याय से रक्षा करने के लिए हुआ था। राज्य दोषी को दण्ड देकर अपना यह कार्य पूरा करता रहेगा। अस्तु राज्य शक्ति का यह एक आवश्यक स्कन्ध है।

कानून का निर्माण चाहे सभा करे, चाहे समिति और चाहे राष्ट्रपति या राजा, इस कानून की अवहेलेना करने वाले को न्याय विभाग द्वारा दण्ड दिलाया जाना चाहिए। दण्ड की भी इन्द्र के ही समान शास्त्रों में स्तुति की गई है। न्यायकर्ता वेदज्ञ स्मृतिकार (कानून का ज्ञाता)होना चाहिए। आर्य शास्त्रों में उसे त्रिमूर्ति का एक अंग कहा है। अर्थात ब्रह्मा तो उत्पादक है, विष्णु पालक है और रुद्र अर्थात शिव दण्ड--

दाता और रुलाने वाला है। त्रिमूर्ति के इस संयोग से ही संसार के मालिक का बोध होता है। इस प्रकार राज्य शक्ति की तृतीयांश बोधता उसके दण्ड-दायक रूप से है। कानून के प्रस्तोता—कानून के व्यवस्थापन-कर्ता के समकक्ष ही न्यायाधीश का स्थान है। भारतवर्ष में बोलचाल की भाषा में न्याय का कार्य एक यव्क्ति को न सौंपकर पाँच कोसौंपा जाता था और इसी पंच-मंडल को परमेश्वर तक कह दिया था। न्याय के लिए एकविधान चाहिए। और संसार का सर्वतन्त्र विख्यात निष्पक्ष विधान वेद में है। वेदानुसार न्याय की श्रृंखला है। न्यायकर्ता और दण्डदाता रूप में राज्य ने रुद्र को जो कार्य सौंपे हैं, वे वेदों के निम्न मन्त्रों से स्पष्ट हो जायेंगे :

(1)

मुक्ता नोरुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेभते।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तब रुद्र प्रणीतीषु ॥

(ऋग्वेद 1.114.2)

राज्यशक्ति के दण्डदायक अंग रूप—हे रुद्र !

1. मृड मयस्कृधि=हमको सुखी कर और हमारे सुख का सम्पादन कर।
2. क्षयद्वीराय नमसा विधेयते=शान्ति के शत्रुओं के प्रमुखों का क्षय करने वाले आपको अत्यन्त नमस्कारादि से परिचर्या करने वाले हम लोगों का रक्षण यथावत कर।
3. योश्च=प्रजा के रोगों का भी नाश कर।
4. मनु: आयेजे=मान्य कारक पिता की भाँति स्वप्रजा को संगत और अनेक विधि पालन कर।
5. तब प्रणीतिषु तदश्याम=आपकी आज्ञा का प्रणय अर्थात् उत्तम न्याय युक्त नीतियों में प्रवृत्त होके—क्षेम को प्राप्त हो।

(2)

मानो महान्तमुत मा नो अर्भकं, मान ऽउक्षन्तमुत मान उक्षितम्।
मानो वधीं: पितरं मोत मातरं, मा न: प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिष: ॥
मा नस्तोके तनये मा न आयुषि, मानो गोपु मानो अश्वेषु रीरिष:।
मानो वीरान नो रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्त: सदभित त्वा हवामहे ॥

(यजुर्वेद 16-15 व 16)

6. हे राज्य की न्यायकारी दंडशक्ति !
7. मा नो महान्तम् उक्षन्तम्—हमारे श्रेष्ठ और महान नेताओं, सैनिकों की रक्षा कर।
8. मा नो अर्भकम् मारीरिष:—गर्भवती स्त्रियों की रक्षा कर ताकि वे गर्भ पूर्ण कर नए नागरिक को जन्म दे सकें। किसी की हिंसा न हो।
9. मान: तोके आयौ हविष्मन्त:—हमारे पुत्रों की रक्षा हेतु जिनके द्वारा यज्ञ कार्य पूरे होने हैं।

10. गोषु अश्वेषु मा रीरिषः—हमारे गौ, अश्व आदि पशु रोग से बचे रहें ।
11. सदाभित्वा हवामहे—जब हम नागरिकों को आवश्यकता हो, अन्याय के विरुद्ध दरवाजा खटखटा सकें ।

(3)

मा हिᳬसी पुरुषं जगत् ।। (यजुर्वेद 16/3)

मूल बात यह है कि जीवन की रक्षा होनी चाहिए । हर मनुष्य को जीने का अधिकार है । उस जीवन में बाधा या व्यतिक्रम डालने वाले के लिए दण्ड विधान है ।

(02) **दण्ड का सिद्धान्त** : दण्ड का सिद्धान्त वेद मत में बड़ा कठोर है । यह यजु वेद के निम्न दो मन्त्रों से प्रगट है :

दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तस्कराँ ऽ उत ।
हनुभ्याᳬस्तेनान्भगवताँस्त्वं खाद सुखादितान् ।। यजुः 11.78 ।।

(दण्ड नीति के द्वारा राज्य और तस्करादि को अपनी जीभ, मुख, दाढ़, दाँत एवं मसूढ़ों में चबाकर नष्ट कर दें ।)

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने ।
ये कक्षेष्वधायवस्तांस्ते दधामि जम्भयोः ।। यजुः 11.79 ।।

(मलिन स्वभावी और वनस्थ, डाकू लुटेरों को राज्य की दाढ़ के समर्पण करना चाहिए ।)

इसमें दो बातें निहित हैं :—

1. दोषी को राज्य की दाढ़ अर्थात् न्याय-पद्धति के सुपुर्द किया जाये । नागरिक स्वयं दण्ड न दें ।
2. राज्य उसे दण्ड से छलनी कर अपने में हजम कर ले ।

(3) **दण्ड का रूप** : सदा से ही न्यूनाधिक रूप में प्रत्येक समाज में ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जो अपने कुकृत्यों से समाज की शान्ति भंग करते हैं । उनको दण्ड देना आवश्यक हो जाता है । दण्ड का वास्तविक लक्ष्य सुधार मात्र ही नहीं है । अपराधी को इस प्रकार का दण्ड दिया जाना चाहिए कि उसके चरित्र का सुधार हो और अन्य प्राणी उसको दिए जाने वाले दण्ड से भयभीत होकर ऐसा कुकृत्य करने का साहस न करें । इस सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर दण्ड के अधिष्ठाता को लक्ष्य करके यह मन्त्र कहा गया है :

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन् ।।

(ऋग्वेद 1/51/8)

हे दण्ड के अधिष्ठाता ! तू सम्पत्ति के वास्तविक अधिकारी स्वामी को सम्यक् जान अर्थात् स्व-विवेक से निर्णय कर कि सम्पत्ति का मूल अधिकारी कौन है और उसको उसका अधिकार दिला । प्रजा में जो पीड़क, चोर, डाकू एवं अन्य दुष्ट पुरुष हैं, उनको सम्यक् जान एवं उनका उचित न्याय कर । तू धर्म नियम सत्यव्यवहार

आदि की यथावत अवहेलना करने वाले दुष्टों को इतना आतंकित कर दे कि उनको अपराध करने का साहस न हो। अपराधी को इस प्रकार का दण्ड मिले कि भविष्य में उसको अपराध करने का साहस न हो। अतः आदर्श के रूप में कठोर दण्ड का विधान है। कतिपय विशेष परिस्थिति में अंग विच्छेद अथवा मृत्यु दण्ड भी विहित है। अंगविच्छेद द्वारा अपराधी को इस प्रकार का मूर्तिमान प्रमाण पत्र मिल जाता था कि वह सर्वत्र लज्जित होता था और अपने कृत्य को किसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सकता था। इस प्रसंग में निम्नलिखित मन्त्र विचारणीय हैं।

(क) Retribution (**अंगच्छेद**)

इन्द्रः समत्सु यजमानमार्यं प्रावद्विश्वेषु
शतमूतिराजिषु स्वर्मीह्ळेष्वाजिषु।
मनवे शासदव्रतान्त्व चं कृष्णामरन्धयत्
दक्षन्न विश्वं ततृषाणमोषतिन्यर्शसानमोषति।

(ऋग्वेद-1/130/8)

राज्यशक्ति प्रजा की यथावत् रक्षा एवं व्यवस्था करे। आचार धर्म एवं मर्यादा का पालन न करने वाले उदण्ड व्यक्तियों का यथावत् दमन कर व शासन करे।

अग्नि या विद्युत जैसे ऊपर की त्वचा को कृष्णवर्ण करने के अनन्तर दग्ध करता है, उसी प्रकार प्रधान न्यायाधीश या राजा अपराधी की त्वचा को दधि कर कृष्णावर्ण की कर दे। अपराध की घोषणा कर त्वचा को जलाकर अपराधी के शरीर पर उसके अपराध की अमिट छाप डाल दे। आजकल के मापदण्ड से यह अंगच्छेद अमानुषिक प्रतीत होता है।

(ख) **अपराधी को मृत्युदण्ड :**

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य।
अधा स वीरैर्दशंभिर्वियूया यो मा मोधं यातुधानेत्याह॥

(ऋग्वेद 7/104/15)

यदि मैं किसी प्रकार अन्य मनुष्यों या प्राणियों के कष्ट का कारण बनूं या मनुष्य जीवन में मेरे माध्यम से किसी प्रकार का व्यवधान उत्पन्न हो तो मैं आज ही मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँ।

(ग) **जेल का दण्ड**

स्तेनं राय सारमेय तस्करं वा पुनः सर।
स्तोतॄनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान्दुच्छुनायसे नि षु स्वप॥

(ऋग्वेद 7/55/3)

(हे राज्यशक्ति! तू चोर अथवा निन्दनीय कर्म करने वाले को पकड़। यथावश्यकता दण्ड दे।)

चार प्रकार के अपराधी विशेष रूप से दण्डनीय बताए गये हैं :

चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा निधा तोः ।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ।   (ऋ० 1/41/9)

चोरी से पदार्थ को लेने वाले पुरुष को तथा चुराये हुए पदार्थ को रखने वाले को उसके दुष्कृत्य के अनुरूप दण्ड दें। चोर को भला कहने वाले दुष्टों से भी कभी स्नेह न करे। उक्त चार पदार्थ, जिनसे डरने का विधान है, क्या है? इस विषय में महर्षि मनु की सम्मति यों है :

अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।
संनिधातृंश्च मोषस्य हन्यात् चौरमिवेश्वरः ।। (मनुस्मृति 9/278)

(द) **सम्पत्ति-हरण (जुर्माना सहित जेल)**

विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः ।
अपव्रतान्प्रसवे वावृधानान्ब्रह्मद्विषः सूर्याद्यावयस्व ।। (ऋग्वेद, 5/42/9)

(हे राजन! उत्तम विद्वानों द्वारा प्रेरित करने पर भी जो दुष्ट सम्पदा का केवल अपने लिए उपभोग करते हैं और समाज को उससे वंचित रखते हैं उनके धन का तुम सर्वथा विनाश करो। जो व्यक्ति सम्पत्ति का इस प्रकार उपभोग करे जिससे समाज को कुछ हानि हो, उनके धन का विनाश करना ही उचित है। उन्हें सूर्य के प्रकाश से रहित स्थान प्रबलतम अधिकार से युक्त काल कोठरी में डालकर दण्ड देने का विधान है।)

(9) **राज्यशक्ति का नवाँ स्कन्ध-सेना** : प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है "राष्ट्र की रक्षा"। इसे राजा ब्रह्मचर्य और तप से पूर्ण करता है। कहा भी है कि :

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । (अथर्व 11/5/17)

इस मन्त्र में उससे संयम, शील और श्रमी-जीवन की अपेक्षा है। तभी सारी प्रजा अपने जीवन में उसकी नकल करती है। यथा राजा तथा प्रजा। राजा ही रहन-सहन की प्रणाली का प्रस्तुत-कर्त्ता भी है। राष्ट्र की रक्षा आन्तरिक और बाहरी दो प्रकार के शत्रुओं से अपेक्षित है।

(01) आभ्यन्तरीय शत्रु से राष्ट्र रक्षा :

यजु० 6/1 में राजा से प्रतिज्ञा कराई है।

इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि ।।

(मैं राष्ट्र में विद्यमान विनाशक व्यक्तियों की राष्ट्ररक्षा हेतु गर्दन तक काट सकता हूँ।)

अपहता असुरा रक्षाँसि वेदिषदः । (यजु० 2/29)

राक्षस वृत्ति के व्यक्ति निश्चय ही उन्मूलन के योग्य हैं। राष्ट्र में प्रस्तुत पंचमार्गियों (Fifth Columnists) का उच्छेद भी राजा का पावन पुनीत कर्त्तव्य है। कहा है कि :

ये रूपाणि प्रतिमुंचमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ।। (यजु० 2/30)

(जो अन्दर से आसुरी तथा ऊपर से अपने रूप को छिपाये हुए हैं, राष्ट्र की अग्नि उन्हें विनष्ट कर दे।)

योऽस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।

निन्दाद्योऽस्मान् धिप्साच्च सर्व तं भस्मसा कुरु। (यजु० 11/80)

जो जन (राष्ट्र का नागरिक होता हुआ भी) राष्ट्र से मन में शत्रुता रखे, द्वेष करे, निन्दक ही बना रहे, दम्भ दिखावे या छल करे—उसे तो सम्पूर्ण रूप से भस्म कर देना चाहिए। यह उपरोक्त सब कार्य सेना की अपेक्षा रखते हैं।

(2) बाह्य शत्रु से राष्ट्र रक्षा

(क) **डिपलोमेसी द्वारा** : राज्यशक्ति का परम पावन पुनीत कर्तव्य है कि अपने को स्थिर रखे तथा बाहरी शत्रुओं से अपनी रक्षा करे। प्रायः पड़ोसी राष्ट्र शत्रुवत होता है और पड़ोसी पर गृद्ध-दृष्टि लगाये रखता है। अतएव पड़ोसी के उस पार के पड़ोसी से मित्रता रखना चाहिए। बराबर की शक्ति वाले पड़ोसी तथा अपने बीच में एक न्युटरल वफर स्टेट बनाये रखना बुद्धिमत्ता होता है। तो भी जब दो राष्ट्रों के सम्बन्धों में दरार पड़ जाती है, तो यह सर्वसम्मत है कि वे उसे परस्पर वार्ता, द्वैत वार्ता या तृतीय पक्ष की विद्यमानता या मध्यस्थता अथवा पंच निर्णय के माध्यम से सुलझा लें। अधुना संयुक्त-राष्ट्र संघ अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में समस्यायें सुलझायी जा सकती हैं। पर यह संस्थान सहमति से ही कार्य करते हैं। सब राष्ट्रों पर एक महाराष्ट्र बनना असंभव है। महाराष्ट्र तो ईश्वर का ही बन सकता है। संयुक्त राष्ट्र में तो भारी पलड़े वाले दल का अपनी ओर होना आवश्यक है, तभी उसका संरक्षण मिल सकता है।

(ख) **सैन्य शक्ति से** : पर संयुक्त राष्ट्र की व्यवस्था है कि उनके द्वारा सहायता पहुँचाना असम्भव हो सकता है अथवा उसमें देरी हो सकती है। ऐसी अवस्था में हर राष्ट्र को उचित है कि अकेले अथवा अपने मित्र राष्ट्रों सहित आक्रामक का सेना से मुकाबिला करें।

यो नो अग्ने भिदासत्यन्ति दूरे पदीष्ट सः ।

अस्माकमिद्वृधे भव ।। (ऋग्वेद 1/71/11)

हे (अग्ने) तेजस्वी सेनापति ! (यः) जो (अति दूरे) पास अथवा दूर से (नः अभिदासति) हमें दास करने की इच्छा करता है, (सः पदीष्ट) वह नीचे गिर जावे। हे देव ! तू (अस्माकं वृधे) हमारी वृद्धि के लिए हो।

दास अथवा नाश करने वाले जो होंगे वे सब शत्रु नष्ट करने योग्य हैं। हाँ स्वयं आक्रामक नहीं होना चाहिए। जब एक पक्ष को अपनी बात में ध्रुवनिष्टा हो जाती है, तो वह ही उसका महानध्येय हो जाता है और उस उद्देश्य के हेतु किया जाने वाला युद्ध धर्म-युद्ध कहाता है। स्वभावतः कोई युद्ध धर्म युद्ध नहीं होता। महाभारत युद्ध में राज्य पर धृतराष्ट्र का बड़े होने से स्वाभाविक अधिकार था। उनके

पुत्र होने से कौरव ही राज्य वंश के उत्तराधिकारी थे। परन्तु कृष्ण जी पांडव पक्ष को उचित समझते थे और जब अर्जुन रक्त की होली खेलने में झिझका तो कृष्ण जी ने कहा :—

यदृच्छंया चोपपन्न स्वर्ग द्वारमपावृतं।
लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ गीता 2.32
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ (क्षत्रिय भाग्यशाली है कि युद्ध में मर कर उसे स्वर्ग बिना तपस्या के सहज में ही मिल जाता है।)
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय। युद्धाय कृतनिश्चयः।
(इसलिए अर्जुन युद्ध करने का निश्चय करके उठ खड़े हो।)

अस्तु अपने स्वत्व की रक्षा के लिए युद्ध करना अनिवार्य हो जाता है। हीगेल ने कहा था कि युद्ध राष्ट्रों का व्यायाम भी है। युद्ध से शक्तिशाली उभरता है और मनुष्य उत्कृष्टतम त्याग करने को उद्यत होता है। और विधना ने जिस राष्ट्र को विश्व का नेतृत्व सौंपना होता है, उसे वह विजयी बनाता है। यहाँ तक आप हीगल से सहमत न हों पर मनुष्यों में जब तक मोह व अन्याय है, वह राष्ट्रीय नीतियों में परिलक्षित होगा और अन्याय के शमन के लिए दूसरे राष्ट्रों को शस्त्र उठाना ही होगा। अस्तु वेद में युद्ध में विजय का आह्वान है ही।

प्राचीमारोह। दक्षिणामारोह। प्रतीचीमारोह।
उदीचीरमारोह। ऊर्ध्वामारोह। प्रत्यस्तं नमुचे शिरः ॥
(यजुर्वेद 10/10-14 तक)

सब दिशाओं में आरोह करके सेना स्थाई सीमा नियुक्त करके शत्रुओं को नतमस्तक करती है। इसके लिए आयुध चाहिए। वास्तव में देखा जावे तो युद्धों में उपयुक्त आयुधों से पिछड़ापन ही भारत की परतन्त्रता का मूल कारण रहा है। जब आक्रान्ता घोड़े प्रयोग करने लगे थे, तो हमारे पास हाथी ही थे। जब वे बारूद और बन्दूक का प्रयोग करते थे, हमारे पास भाला और तीर कमान ही थे। जब हमारे पास बन्दूक आई, आक्रान्ताओं पर बम थे। और आज हम पर साधारण बम हैं तो हमारे शत्रुओं पर परमाणु बम तथा राकेट हैं। हा हन्त ! हम सदा परास्त हो जाने के बाद ही उन्नततर आयुधों को प्राप्त करते हैं। जून 1974 में हमारा भी अणु विस्फोट हो चुका है। इसीलिए युद्ध और विजयश्री का चिन्तन वेद का सदैव उद्बोधन रहा है।

(3) वैदिक उद्धरण :

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरे भरे।
अस्मभ्यमिन्द्रवरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मधवन वृष्ण्या रुज ॥
ऋग्वेद मंडल 1 सूक्त 14 मंत्र 4

1. ऐ इन्द्र (राज्यशक्ति) मधवन्।
त्वा युजा वयं जयेम।

आपके साथ वर्तमान, आपके सहाय से हम लोग दुष्ट शत्रुओं को जीतें। (Victory over Foes)

2. आवृत्तम=तू हमारे बल से घिर। (Eligibility to Miltary Service)
3. भरे भरे अकामशंभुदवा=युद्ध-युद्ध में हमारे अंश (बल-सेना) का उत्कृष्ट रीति से कृपा करके रक्षण करो।
(Lead in Battles)
4. शत्रुणाम् वृष्णया प्ररुज=हमारे शत्रुओं के पराक्रमादि को प्रभग्न-रुग्ण करके नष्ट कर दे (Destroy the morale of Enemy)
5. अस्मभ्यं वरिवः सुगं कृधि=हमारे लिए चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धन को सुख से प्राप्त करा। (Expansion of our Domain)

(दयानन्द भाष्य से)

(II)

शत्रु का पराभव करना चाहिए।

यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुता देव इन्द्र युधेये चिकेतति।

अस्माभिष्टे सुपहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान्वनुयाम संगमे ॥ ऋ० 10.38.3

हे (पुरुष्ठुत) प्रशंसित (इन्द्र) राज्यशक्ति! (अदेवः) राक्षसी स्वभाववाला दुष्ट (नः युधये) हमारे साथ युद्ध करना (चिकैतति) चाहता है, (तेशत्रुवः) ये सब शत्रु (अस्माभिः) हमारे द्वारा (सुसह्वाः सन्तु) पराजित हों, और हम (त्वया) तेरे साथ रहकर (संग्रमे) युद्ध में (अनुयाम) विजय प्राप्त करेंगे।

(सातवलेकर भाष्य से)

मूढ़ा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरं वरम्।
अनया जहि सेनया ॥ (अथर्व० 11/10/21)

हे (न्युर्वुदे) वीरो (अमित्राः) शत्रुओं को (मूढ़ाः) मूर्ख बनाओं। (एषां) इनके (वरं वरं) मुखियाओं को (जहि) मारो। इस (सेनया) सैन्य से (जहि) शत्रु को मार दो।

युद्ध के विषय में प्रायः यह धारणा है कि उसका रक्त-पिपासु पहलू क्रूर एवं अवैध है। वास्तव में युद्ध के बाद लम्बे समय तक के लिए शान्ति खरीदी जाती है। युद्धों में जन-धन की हानि होती है, पर वे अंचलों में एक स्थिरता ला देते हैं, जो कि दो या तीन या अधिक पीढ़ियों तक चलती है। मरे हुए मनुष्यों की संख्या वह मूल्य है जो अँचल विशेष पीढ़ियों की शान्ति के लिए चुकाता है। योरुप में 1765 ई० से 1918 ई० तक लगभग डेढ़ सौ वर्षों में 7 मुख्य महायुद्ध हुए हैं। इनमें युद्धाहतों तथा मृतकों की संख्या यों रही है :—

युद्धाहत तथा मृतकों की संख्या

(1) सप्तवर्षीय युद्ध 1765 ई० से 1772 ई०=305400 (ग्रास्ट्रियन एवं प्रुशियन)

(2) नैपोलियन के युद्ध (1793-1815)=45853

(3) नैपोलियन के रूस से युद्ध (1812)=595000

(4) रूस ग्रौर टर्की के युद्ध 1824 ई०=97529

(5) क्रीमिया युद्ध 1877=29094 (ग्रंग्रेज, फ्रेंच, ग्रास्ट्रियन)

(6) रूस टर्की युद्ध 1877=65000 (रूसी+टर्क)

(7) प्रथम महायुद्ध 1914 से 1918=4800000

(जर्मन, फ्रेंच, ब्रिटिश, ग्रास्ट्रियन, इटेलियन, टर्क-ग्रमेरिकी)

कुल योग 68.8 लाख

यह योरुप की तत्कालीन जनसंख्या का सहस्रांश भी नहीं है। लगभग चार हजार व्यक्ति प्रतिवर्ष का ग्रौसत है। पर 150 वर्ष तक करोड़ों ग्रादमियों ने इन युद्धों के फलस्वरूप शान्ति का जीवन बिताया।

(8) **राज्य शक्ति का प्रतीक केतु** : ध्वज की स्थिति ग्रौर वन्दना की ग्रावश्यकता प्रारम्भ से ही ग्रनुभव की गई थी। एक स्थल पर कहा है :

केतु मरुषं यजध्यै ॥ (ऋग्वेद 6/49/2)

ग्रपने ग्ररुण (गेरुग्रा) ध्वज की वन्दना करो।

(1) ध्वज का उपयोग तीन हेतुग्रों से है :

उत्तिष्ठत, सनह्यध्व मुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्य भित्राननुधावत ॥1॥
ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे। ग्ररुणैः केतुभिः सह।
ये ग्रन्तिरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ॥2॥

(ग्रथर्व-11/10/1-2)

(पृथ्वी, ग्राकाश ग्रौर सब दिशाग्रों में सर्व साधारण (इतरेजनाः) ग्रौर सैनिक जिनका कि यह राज्य है, ये सब खड़े होकर ग्रपने गेरुये झंडे को उठायें, ग्रौर शत्रुग्रों से ग्रपनी रक्षा का तथा उनका पराभव करने का व्रत लें।

ग्रस्माकमिन्द्र समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
ग्रस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मांऽउ देवा ग्रवता हवेषु ॥

(ऋग् 10.103.11)

ध्वज से युद्ध में स्वपक्ष एवं परपक्ष का भेद जाना जाता है। ताकि हमारे प्रयुक्त बाण शत्रु-सेना का ही विनाश करें। विजयेच्छुक संग्राम में वे ध्वज हमारी रक्षा करें।

(3) **संस्कृति प्रसार** : ध्वज के प्रसार के साथ वैराज्य वाले ग्रंचलों को राज्य-

शक्ति के अन्तर्गत लाकर सभ्यता के विकास का आह्वान भी ऋग्वेद। 1/6/3 में है :—

केतुं कृण्वन्न केतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ।

राज्यशक्ति (अकेतवे) केतु विहीन समुदाय को (केतुं कृण्वन्) झंडा युक्त करती है। (अपेशसे) धनहीन जनों को (पेशः कृण्वन) धनों से युक्त करती है। (मर्याः) ऐ मानवो (सं उषद्भिः) उस उदीयमान राज्यशक्ति को उत्पन्न करो।

(2) **भगवाध्वज पर गरुड़ का चित्र** : भगवाध्वज का ऊपर उल्लेख है। राष्ट्रीय ध्वज, पर राष्ट्रीय चिह्न अंकित होना आवश्यक है। वैदिक परम्परा में उपयुक्त चिह्न गरुड़ है। उसे सुपर्ण अथवा श्येन भी कहते हैं। वैदिक वाङ्मय में सुपर्ण विशेष आध्यात्मिक महत्त्व रखता ही था, पर युगों से भारत का वही राज्य चिह्न रहा है। वेद से लेकर गुप्तों के साम्राज्य तक वह आर्ष-प्रतीक रहा है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्यग्निं
यमं मातरिश्वानमाहु :॥ (ऋग्वेद 1/164/46)

1. ऋग्वेद के एकीश्वर वाद परक प्रख्यात मंत्र में दिव्य-गरुत्मान-सुपर्ण शब्द स्वयं ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार वैदिक त्रैत दर्शन को स्पष्ट करने वाले मूल मंत्र "सुपर्णा सयुजा सखाया" में ईश्वर और जीव दोनों की तुलना सुपर्ण से की गई है। सूर्य लोक से सोम अमृत को गरुड़ द्वारा ही इह लोक में लाने कीकिंवदन्ति है।

2. भारत के जिन विभिन्न भागों में गरुड़ारुढ़ विष्णु और लक्ष्मीनारायण की मूर्तियाँ मिली हैं, वे स्थान हैं:—सीकर, बिल्हरी (म० प्र०), देवगढ़, (झांसी), नागदा (म० प्र०), उदयपुर, बुलूर (कर्नाटक), दादिक्कोम्बै (दक्षिण-भारत), पीर-सुल्तान-रीठेरी (बीकानेर)' बारडोली (कोटा), रानी दुर्गावती संग्रहालय जबलपुर, विक्रमपुर (ढाका), कोणार्क (उड़ीसा), कण्डकोड़त्त बनितम् (तंजोर), चंगुनारायण (देवपाटन), सुलिभा (नेपाल) तथा विहार से प्राप्त कलकत्ता म्युजियम में स्थापित।

("सविता" मासिक के सुपर्ण मार्च 1973 से उद्धृत)

यह इसके आसेतु-हिमालय इस देश में विस्तार का द्योतक है। विदिशा के समीप वेसनगर नामक स्थान पर मिले स्तम्भ पर निम्न लेख अंकित हैं :—

'देव देवस वासुदेवसं गरुड़ध्वजे इयं कारिते इअ हेलियोदोरेण भागवतेन तखसिलाकेन...।'

यह शुंगकाल लगभग दूसरी शती ईसवी पूर्व का है। लेख से स्पष्ट है कि इस गरुड़-ध्वज (झंडे) की स्थापना हेलियोंडोरस नामक एक यवन राजदूत ने अपने तत्र निवास काल में की थी। वह तक्षशिला के यवन राजा का दूत था और भागवत धर्म में दीक्षित होकर हिन्दू बन गया था।

3. वैष्णव पन्थानुगामी गुप्त सम्राटों (चौथी सदी) के ध्वज पर वेदों में वर्णित सुपर्ण अर्थात् गरुड़ का राजकीय चिह्न सुविख्यात है। श्रीपुर (सीरपुर जिला रायपुर म० प्र०) के 7वीं शती के चन्द्रवंशी राजाओं का भी यह राजचिह्न था।

दिल्ली में महरौली कुतुबमीनार के निकट स्थापित लौह स्तम्भ जिस पर राजा चन्द्र का सुप्रसिद्ध लेख है, पर प्राचीन समय में गरुड़ की ही मूर्ति थी। यह चन्द्र राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय था। इसी राजा ने विष्णुगिरि पर विषणोध्वज स्थापित किया था।

(09) **राज्यशक्ति से विरोध और विद्रोह की संभावना** (01) **परदेशी राज्य तंत्र** : परदेशी राज्य को जैसे भी हो उलट देने का हर राष्ट्र को अधिकार है। विदेशी राज्य को संरक्षण देने वाले देशी तत्त्वों सहित उनके उच्छेद की वेद में अनुज्ञा है।

योन : स्वो यो अरण: सजात उत निष्टयो यो अस्माँ अभिदासति
रुद्र शरव्ययैतान् ममामित्रान् विविध्यतु ॥

(अथर्व वेद-1/19/3)

(य: न: स्व:) जो हमारा अपना (य: अरण:) जो दूसरा, जो (सजात:) स्वकीय, (उत निष्ठय:) अथवा जो हीन शत्रु (अस्मान् अभिदासति) हमको दास बनाये हुए है, (एतान् मम अमित्रान्) इन मेरे शत्रुओं को (शरव्यया) वाणों से (रुद्र:) वीरनायक (विविध्यतु) छेद डाले।

(02) **देशीय राजतन्त्र और प्रव्रजन** (Migration)

परन्तु यह सम्भव है कि या तो नेतागण सशस्त्र विद्रोह के लिए परतन्त्र प्रजा को तैयार न कर सकें या वह विद्रोह विफल हो जावे। इस हालत में भी विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित रखनी चाहिए।

ऐसी स्थिति देशीय राज्यतन्त्र में भी आ सकती है। वैदिक दर्शन उसके विरुद्ध शस्त्र उठाने की अनुज्ञा नहीं देता। हाँ विरोध की आज्ञा अवश्य है यदि विरोध सफल न हो, अथवा प्रजा भीरु और किंकर्त्तव्यविमूढ़ है तो उसे उस राज्य की नागरिकता छोड़कर दूसरे देश में जा बसना चाहिए। युधिष्ठिर को जब हस्तिनापुर का भूभाग धृतराष्ट्र ने बटवारे में दिया तो उनकी प्रजा उन्हीं के साथ वहाँ गई थी। इसी प्रकार रामचन्द्र जी के बन जाते समय अवधवासी उन्हीं के साथ वन में बसने की दृष्टि से सरयू के पार बहुत दूर तक गए। पर रामचन्द्र जी ने समझा-बुझाकर उन्हें लौटा दिया। 1921 ई० में भी खिलाफत आन्दोलन के समय कुछ मुस्लिम और हिन्दू जनता ब्रिटिश राज्य को पापपूर्ण घोषित कर भारत से बाहर हिजरत कर गई थी। 1947 ई० में कोई एक करोड़ हिन्दू और मुसलमान अन्य मत के बहुमत वाले भाग को छोड़-कर स्वबाहुल्य वाले देश में जा बसे। रूस में खेतहिरों ने अजरवेजानादि के पड़ोसी देशों में जा बसना स्वीकार किया। 1934 ई० के आस-पास से यहूदियों ने जर्मनी को छोड़-कर इसरायल में जाकर बसना प्रारम्भ किया। यह एक अहिंसक प्रणाली है। प्रजा

अन्यायी राजा के राज्य की सीमा से निकल कर किसी अन्य देश में शरण पाने को स्वतन्त्र है। और हर स्वतन्त्र देश को ऐसे शरणार्थियों का निवेदन स्वीकार करना ही चाहिए।

महाभारत शान्ति-पर्व (10/22) में ऐसा निर्देश है कि यदि किसी देश में वैश्यों की ओर ध्यान न दिया जाए और राजा उन पर अन्याय करे तो उन्हें चाहिए कि उस देश की सीमा पर से अपना व्यापार समेट कर जंगल में चले जायें।

(03) **विरोध की ज्वाला का देश में ही प्रज्वलित रखना :**

यह तीसरी पद्धति है। इसमें अन्यायी राज्यशक्ति ईश्वर के सुपुर्द कर दी जाती है। चीन का राजनीतिक दर्शन परवशता की बात कहता है कि यदि किसी देश में ईति बीती हो—अर्थात् अति वृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, युद्ध, महामारी और अकाल होवे तो समझना चाहिए कि ईश्वर ने उस देश की राज्यशक्ति से समर्थन वापिस ले लिया है।

वैदिक विचारधारा में राज्यशक्ति के लिए महान् सम्मान के भाव हैं और वह उसमें परिवर्तन की हामी भी है पर उसमें प्रतिहिंसा के भावों का समावेश नहीं है। समाज के दुष्टवर्ग के दलन और शत्रु के हनन की बात तो कही गई है जिससे मैं द्वेष करता हूँ या जो दुष्ट मुझसे द्वेष करता है उसके लिए बार-बार यह कहा है।

यो अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तम् वो जम्भे दध्मः।

(अथर्व वेद 3/27/1-6)

उस दुष्ट को हम प्रभु की दाढ़ में रखते हैं अर्थात् ईश्वरीय न्याय के हवाले करते हैं।

उस विश्व नियन्ता की अस्त्र-शस्त्र भंडार में से युद्ध, आक्रमण, ईति-बीति प्रभृति अनेक वाण उस राज्यशक्ति को आकर बलात् बदल देते हैं। यह भी संभव है कि कोई उपदेष्टा उन्हें सुमार्ग पर लावे अर्थात् उपर्युक्त 5 प्रकारों में से कोई एक अथवा अनेक मार्ग प्रयुक्त हो सकते हैं। पर क्या यह भाग्यवाद नहीं है ? कदापि नहीं। यह विशाल जनता में ऐसी राज्यशक्ति के विरुद्ध घृणा, उपेक्षा एवं तिरस्कार के भाव भरने का शान्तिप्रिय प्रतिशोध है जो विरोध की अग्नि को प्रज्वलित रखता है। और एक न एक दिन सफल होता ही है। देशीय-राजतन्त्र का कहना ही क्या ? वह तो हमारा अपना ही है। उसका हृदय तो प्रजा के दुख से पिघलना अवश्यम्भावी है। भारत ने विदेशी शासकों का भी हृदय परिवर्तन किया और उन्हें देश के प्रबुद्ध जागरूक जनमत के सम्मुख झुका दिया।

9.10 दयानन्द सरस्वती के राज्यशक्ति पर विचार

(01) **ईश्वर ही राजा है** : दयानन्द सरस्वती ने 1879 में आर्याभिविनय पुस्तिका में नये सुपथा राये० "सनो बन्धुः" वाले वेद मन्त्र का यों अर्थ किया था :—

"हे मनुष्यो : वह परमात्मा अपने लोगों को भ्राता के समान सुखदायक सब कामों का पूर्ण करने हारा है। और जिस सांसारिक सुख-दुख से रहित परमात्मा में मोक्ष को प्राप्त होकर विद्वान् लोग स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, वही परमात्मा अपना गुरु,

आचार्य, राजा और न्यायाधीश है। हम सब उसी की भक्ति किया करें। जो अपने मित्र भ्राता पिता गुरु और राजा का कहना नहीं मानेगा, वह क्यों न ठोकर खाता और भटकता फिरेगा ?

(02) **विज्ञान और प्राग्विधि** : दयानन्द सरस्वती विज्ञान और प्राग्विधि के भी कायल थे। वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने की प्रतिक्रिया स्वरूप उनका मत था कि उनमें विज्ञान के सारे सिद्धान्त मूल रूप में विद्यमान हैं। यह विषय पृथक् एक पुस्तक की अपेक्षा रखता है। पर श्रम से मनुष्य को बचा कर अधिक उपलब्धियाँ विज्ञान और मशीन से प्राप्त कराना सदैव से मनुष्य का उपक्रम रहा है। स्वामी जी विज्ञान और टेकनालोजी के समर्थक थे। उन्होंने निज व्यय पर श्यामजी कृष्ण वर्मा को जर्मनी प्रभृति विदेशों में मशीनों की कला सीखने को भेजा था, यह दूसरी बात है कि वर्मा जी की रुचि वहाँ जाकर दूसरी हो गई। विज्ञान को भारतीय जनता के लिए उपलब्ध कराना स्वामी जी को अभीष्ट भी था। इसकी प्रेरणा भी उन्हें वेद से ही मिली थी। गान्धी जी के समान उन्हें विज्ञान से चिढ़ न थी। उसमें जनरुचि पैदा करने के लिए उन्होंने ऋग्वेदादि के भाष्य की जो भूमिका लिखी है उसमें वेद के अनेक मंत्रों के विज्ञान-परक अर्थ किए और उनमें वाष्प, संचार, विद्युत्आदि के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया और जनता को प्रत्येक मंत्र के अनुवाद के अन्त में प्रेरणा दी कि वह इन वैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग करे।

(03) **राज्य का बहुलवाद पर आधारित संगठन** : ऋग्वेदादि के भाष्य की उनकी भूमिका का अनुवाद स्व० वा० घासीराम एम० ए० ने किया है। उसके पृष्ठ 304 पर ऋग 3/38/6 को स्वामी जी ने उद्धृत किया है जो यों हैं :—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परिविश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान व्रते गन्धर्वां अपि वायु केशान् ।।

(विदथे) व्यवहार सिद्धि के लिए (त्रीणि) तीन प्रकार की (सदांसि) सभाएँ हों। इसकी व्याख्या में वे अपने द्वारा प्रस्तुत राज दर्शन को समझाते हैं :—

"जैसे सूर्य और चन्द्र नाम के दो राजे सारे पार्थिव पदार्थों को प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार न्याय तथा ज्ञान युक्त 3 सभाओं के गुण उन्हें प्रकाशित बनाते हैं। इन 3 सभाओं से विजय भी प्राप्त होती है। इन राजकीय सभाओं से मनुष्य संसार की वस्तुओं को सुशोभित करके जीवन सुखमय बनाता है। एक तो शासकीय एवं कार्यपालिका सभा है, जिसे राजार्य सभा कहते हैं। जो कि देश का शासन चलाती है। दूसरी विद्या की सभा है, जो शिक्षा के प्रसार और उन्नयन का कार्य करती है। तीसरी धार्मिक सभा है जो कि प्रचारादि के द्वारा सुकार्यों को गति देती है और नैतिकता की उन्नति करती है।

साधारणतया यह तीनों एक-दूसरे का अच्छे कानून को लागू करने में सहयोग करती हैं। जिस राज्य में विद्वान् और न्यायी जन इन सभाओं के माध्यम से लाभालाभ का विचार करके मनुष्यों को अपने कर्त्तव्य पूरे करने को प्रोत्साहित करते हैं, वहाँ प्रजा सुखी

ग्रौर सन्तुष्ट रहती है । जहाँ एक ही ग्रनियन्त्रित राजा होता है, प्रजा पर क्रूरता बरती जाती है । प्रभु यहाँ ग्रादेश देते हैं कि जहाँ शासन सभाग्रों के हाथ में होता है, सार्वजनिक हित का सम्वर्धन होता है । इन सभाग्रों के सदस्य होने का उन्हें ही ग्रधिकार है जो सत्यवादी हैं ग्रौर न्यायारूढ़ हैं । केवल उन्हीं को इन सभाग्रों में बैठने का ग्रधिकार है । ग्रन्यों को नहीं । उन्हें भूमि ग्रौर शासन ग्रौर देश में व्यवस्था स्थापित करने में शक्य होना चाहिए । वे ऐसे लोग रखें जो वायु की भाँति राज्य में हर कहीं जाकर समाचार प्राप्त करें ग्रौर उन्हें उनसे ग्रवगत रखें । उन्हें सूर्य की किरणों के समान सत्य ग्रौर न्याय का दान प्यारी प्रजा को सतत ही देना चाहिए ।"

ग्रन्य ग्रनेक मंत्रों का भाष्य पृ० 387 तक किया है । उसमें से मुख्य-मुख्य वाक्य यहां उद्धृत करते हैं :—

1. ऐ प्रभु राज्य-कर्त्तव्यों के श्रोत तुम्हीं हो । हमें राज्य की रक्षा ग्रौर शासन करने की शक्ति दो । (यजु० 20/1)
2. वह देश जहाँ राष्ट्र के बुद्धि-वर्ग ग्रौर शासन कर्त्ताग्रों में मतभेद नहीं होता है, वहाँ सुख समृद्धि रहती है । (यजु० 20/25)
3. इन लोक सभाग्रों के ग्रध्यक्षों तथा सदस्यों को यह ध्यान रहे कि उनकी शालीनता ही उनका सिर, प्रसिद्धि ही उनका मुख, चमक ग्रौर न्याय ही उनकी दाढ़ी तथा न्याय का वितरण ही उनकी ग्राँख ग्रौर कान हैं ।
(यजु० 20/3 से 5)
4. राज्य मेरी रीढ़, सेना ग्रौर कोष मेरे कन्धे ग्रौर जिगर, प्रजा का सुख उनका वाणिज्यादि मेरी जंघा है। (यजु० 20/7)
5. ऐ राज्य सभाग्रों के सदस्यो : शासन के उन कार्यों को जो तुम्हें सौंपे गए हैं ग्रभूतपूर्व ज्ञान से सम्पादित करो । सार्वभौमिक सत्ता का प्रयोग करो । ज्ञान ग्रौर न्याय का प्रसार करो । वेदज्ञ विद्वान् ही इन संस्थाग्रों का सभापति होने योग्य है ।

   वैधानिक राज्यशक्ति (ग्रर्थात् इन्द्र) सदा विजयी हो ।
(यजु० 09/40)
6. हमारी सभा की रक्षा हो, यह प्रतिनिधि गण उपरोक्त तीनों सभाग्रों का संरक्षण करें । प्रजातान्त्रिक शासन में हम 100 वर्ष तक जियें ।
(ग्रथर्व 6/10/3)
7. उस राज्य पर कोई विपत्ति नहीं ग्राएगी जहाँ राजा चुना गया हो । उसमें न्याय-वितरण ग्रौर ग्रपने न्यायपूर्ण राज्य के विस्तार की कामना हो ।
8. जहाँ ग्रन्यायी को रोक दिया गया हो, प्रजा सन्तुष्ट हो ग्रौर वैधानिक शासन हो, वही शासन ग्रत्युत्तम है । (ऐतरेय ब्राह्मण 8/19)
9. कभी एक व्यक्ति के हाथ में शासन भार न दे । वह तो सभाग्रों का सौंपा

जाना चाहिए। एक-तन्त्री राजा प्रजा को खा जाता है क्योंकि वह उनके मूल्यवान पदार्थ छीन लेता है। (शतपथ 13/1/5)

इन उद्धरणों से निम्न सिद्धान्त प्रतिस्थापित होते हैं।

1. एक व्यक्ति का शासन श्लाघनीय नहीं है।
2. सभा में मिल कर शासन किया जाना चाहिए।
3. सभा में ईमानदार और विद्वान् हों।
4. राज्य की शक्ति तीन स्वायत्त सम्पन्नवत संस्थाओं में बाँट दी जानी चाहिए। यह (Political Pluralism) की बात है। राजार्य-विद्यार्य तथा धर्मार्य सभाएं तीनों बराबर शक्तिशाली हैं। प्रभुसत्ता तीनों से संयुक्त विचार-सारिणी में निहित हैं।

(04) **दण्ड** : मनु की परम्परा में स्वामी जी कड़े शारीरिक दण्ड के पक्षपाती थे। निम्न उद्धरण से यह स्पष्ट होगा : एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़कर धर्म-मार्ग में स्थिर रहेंगे। सच पूछा तो (सुगम दण्ड) यही है कि एक राई भर भी यह दण्ड सब के भाग में न आवेगा और जो सुगम दण्ड दिया जाय तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगेंगे। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो वह करोड़ों गुणा अधिक होने से करोड़ों गुणा अधिक कठिन होता है। क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी (दिया तो बहुत) देना पड़ेगा। अर्थात् जैसे एक को मन-भर दण्ड हुआ और दूसरे को पाव-भर तो पाव-भर अधिक एक मन दण्ड होता है तो प्रत्येक मनुष्य के भाग में आध पाव बीस सेर दण्ड पड़ा, तो ऐसे सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं ? एक को मन और सहस्र मनुष्यों को पाव भर दण्ड हुआ तो छः सवा छः मन मनुष्य जाति पर दण्ड होने से यही अधिक और कड़ा तथा वह एक मन दण्ड न्यून और सुगम होता है।" (सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 6 पृष्ठ 171)

(05) **विदेशी राज्य शक्ति का युद्ध द्वारा उच्छेद** : और जब युद्ध विभाग में युद्ध-विद्या-कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करने वाला भूगोल में दूसरा न हो तब उन लोगों में पक्षपात अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों में से कोई ऐसा समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनकापरा जय करने में समर्थ होवे। जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने शिवाजी, गोविन्दसिंह जी ने खड़े हो कर मुसलमानों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। (सत्यार्थ प्रकाश-समुल्लास 11 पृष्ठ 280)

नोट—जिस राजा का संकेत ऊपर है वह ब्रिटिश राज्य है। जिसका सामना करने वाला भूगोल में कोई न हो—अंग्रेजों ने कहावत प्रसिद्ध करवा दी थी कि हमारे राज्य में सूरज नहीं डूबता।

(06) **देशी राज्यतन्त्र से विरोध की पद्धति** : दयानन्द सरस्वती जी ने यजु-

वेद अध्याय 9 मन्त्र 17 के भावार्थ में इस महत्त्वपूर्ण विषय पर इस प्रकार विचार प्रकट किये हैं :

> य इमे राजपुरुषा अस्माकं सकाशात्करं गृह्णन्ति, तेऽस्मान्
> सततं रक्षन्तु । नोचेन्मा गृह्णन्तु, वयमपि तेभ्यः करं नैव दद्याम ।
> अतः प्रजा रक्षणायैव करदानं दुष्कर्मिभिः सह योद्धुं च नान्यदर्थ-
> मिति निश्चयः । (यजुर्वेद अ० 9 मं० 17)

जो ये राजपुरुष हम लोगों से कर लेते हैं, वे हमारी निरन्तर रक्षा करें, नहीं तो न लें, हम भी उनको 'कर' न देवें । इस कारण प्रजा की रक्षा और दुष्टों के साथ युद्ध करने के लिए ही 'कर' देना चाहिए, अन्य किसी प्रयोजन के लिए नहीं, यह निश्चित है ।

आशा है विश्व के सम्पूर्ण राजनीतिज्ञ महर्षि दयानन्द की उक्त वैदिक विचार-धारा के प्रकाश में अपने विधानों में संसोधनों करने पर विचार करेंगे ।

(07) **शासन तन्त्र** : इस विषय में दयानन्द सरस्वती ने हिन्दुपति महाराणा उदयपुर को कुछ लिखित उपदेश में और आदेश दिए थे, जो दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पुस्तिका में पं० युधिष्ठर भीमांसक ने पृष्ठ 54 पर दिए हैं । हम उन्हें यहाँ उद्धृत करते हैं :

1. शासक राज्य-कार्य किसी एक व्यक्ति को न सौंपे । राज्याधिकारियों और जनता के गण्यमान्य प्रतिनिधियों के सामंजस्य से शासन सम्पादित करे । शासकीय, प्रशासनिक योजनायें जनता के प्रतिनिधियों के विचार विमर्श से ही बनाई जाएगी, जो सर्व साधारण के लिए हितकर हों ।
2. राज्य में तीन परिषदें हों (1) राज्य परिषद । (2) राज्य की शिक्षा परिषद ।
3. धर्म परिषद । जो भी नियम अधिनियम या विधेयक पारित किए जाएँ वह इन परिषदों की स्वीकृति से ही पारित किए जाएँ ।
4. कर-व्यवस्था ऐसी नियत की जाए कि जिससे काश्तकारों और शिल्पकारों को वांछित राहत मिले और वह खुशहाल हों, क्योंकि राज्य की खुशहाली अधिकतर इन्हीं पर निर्भर करती है ।
5. राज्य की कुल आय का 1/10 भाग धमार्थ-कार्य के लिए और बाकी बची 9/10 राशि का दो भाग सुरक्षित कोष में, दो भाग शाही घराने के खर्चे में, तीन भाग सेना के खर्च पर, एक भाग निर्माण-कार्य पर और एक भाग विज्ञान व तकनीकी शिक्षा पर खर्च करने की व्यवस्था हो ।
6. राज्य कार्य शास्त्रानुकूल मातृभाषा ही में किया जाए । विदेशी भाषा का प्रयोग न किया जाए । अन्तर राष्ट्रीय सम्बन्धों में यदि विदेशी भाषा का प्रयोग करना ही पड़े, तो वह केवल सीमित रूप ही में किया जाए ।
7. शासक स्वदेशी-वस्तुओं का ही प्रयोग करें और प्रजा को भी ऐसा ही करने का अनुरोध करें ।

8. ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति अधिकारियों के पदों पर करें जो योग्य, निष्पक्ष, विश्वसनीय और ईमानदार हों। ऋणी व लालची व्यक्तियों को प्रारम्भ ही से जिम्मेदारी के पदों पर नियुक्ति न करें। घूस व धोखादेही की भावना किसी में भी पनपने न दें।
9. अधिकारियों और प्रजा जनों की प्रवृत्तियों पर विश्वस्त गोपनीय-भाषा अधिकारियों द्वारा जानकारी प्राप्त करते रहें। और ऐसा प्रयत्न करते रहें कि दोषी व्यक्ति दण्डित हों जिससे उनका व प्रजा का हित हों।
10. दोषी व उच्चाधिकारी को साधारण कर्मचारी या व्यक्ति से कहीं अधिक कड़ी सजा दी जाए क्योंकि सिंह को सजा देना अधिक उपयुक्त है बनिस्बत बकरी के।
11. योग्य, वफादार और मेहनती कर्मचारी को समय-समय पर पारितोषिक आदि से प्रोत्साहित करें।
12. अपने राज्याधिकारियों की सम्मति व सलाह का सम्यक मान करें पर बार-बार गलत सलाह मिलने पर उनको यथोचित रूप से दण्डित करें।
13. कोई निर्णय आतुरता में न करें। पूर्ण मनन के बाद ही निर्णय करें।
14. कोई भी व्यक्ति अपने आचार-विचार, वाणी या कर्म से अपने शासक के प्रति अश्रद्धा प्रदर्शित न करे। कोई कर्मचारी भी चाहे वह कितना ही योग्य व निपुण क्यों न हो अपने से उच्चाधिकारी की उपेक्षा या मानहानि न करें। अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर अन्याय, अत्याचार या पक्षपात न करें।
15. योग्य और वफादार कर्मचारियों को 30 वर्षों की सेवा के बाद निवृत्ति पर उनकी आधी तनख्वाह के बराबर पेन्शन दें और यदि कोई कर्मचारी या सैनिक लड़ाई में मारा जाए तो उसकी विधवा को भी उतनी ही पेंशन दी जाए जब तक कि उसके लड़के वयस्क होकर धन्धे से न लग जाएँ। राज्य ऐसे वयस्कों को प्राथमिकता से काम-धन्धा दिलाने की व्यवस्था करे।
16. यदि कोई शासक न्यायपथ से और राज्यहित चिन्तन से विमुख हो जाए तो राज्य के तीनों परिषद व जनता के गणमान्य सज्जन उसे समझाकर राह पर लावें और यदि ऐसा न हो सके तो राज्य परिषद उसे राज्य कार्य से मुक्त और उसके परिवार के किसी अन्य योग्य व्यक्ति को शासनाधिकार सौंपें।
17. इसी प्रकार के अनेकों अधिनियम स्वामी जी ने निर्धारित किए जिसमें बच्चों की अनिवार्य शिक्षा, स्त्री शिक्षा, ब्रह्मचर्य पालन, 24 वर्ष से पूर्व युवक और 16 वर्ष से पूर्व युवती के विवाह पर रोक, शत्रु से सम्बन्ध सुधार, युद्ध में पराजित शत्रु के साथ व्यवहार, न्यायालयों की कार्य व्यवस्था आदि प्रमुख थे।

10

दयानंद सरस्वती का राज-दर्शन पर व्यापक प्रभाव

स्वामी दयानन्द सरस्वती 1883 में स्वर्गवासी हुए। उनके देहावसान के बाद योरुप में जो चिन्तन राज्य शक्ति के बारे में हुआ वह सारांश में नीचे वर्णित है। हमें मुख्य रूप से वह कभी मार्क्स के भौतिकवादी साम्यवाद के कभी दायें तो कभी बायें बाजू पेन्डुलम की भाँति जाता दीखता है, तो कभी अन्त में वह दयानन्द के बहुलवाद के रूप में बीच में रुका-सा प्रतीत होता है। बहुलवाद में आकर साम्यवाद के हिंसक और अहिंसक रूप में वह सन्तुलित-सा होता जान पड़ता है।

10.01 सामूहिक शक्तिवाद (Collectivism)

यह न तो इतिहास के भौतिकवादी प्राक्कथन में विश्वास रखता है और न वर्गों में सतत् युद्ध करके उन्हें नष्ट करने में विश्वास रखता है। वर्गों के सहयोग से वह प्रजा में संवृद्धि लाना चाहता है। उत्पादन के केन्द्रों पर मालिक और मजदूर दोनों का संयुक्त प्रबन्ध इसका ध्येय है। राज्य इन दोनों पर निगरानी रखकर सारे समाज के हितों का ध्यान रखेगा। उत्पादन के श्रोतों पर निजी अधिकार के क्षेत्र भी होंगे तथा सार्वजनिक अधिकार के भी। प्रथम श्रेणी में अन्न-वस्त्र, एवं सुख सौन्दर्य प्रसाधनादि हैं। दूसरे में रेल, तार, कोयला, बिजली आदि हैं। यह वाद मजदूरों के पारिश्रमिक तथा उनके कार्य करने के स्थान व अन्य सुविधाओं के बारे में राज्य को हस्तक्षेप करने का अधिकार देता है। अमीरों पर राज्य इनकम टैक्स, मृत्यु-कर आदि के रूप में अधिक टैक्स लगाकर उसे प्रजा के हित में खर्च करेगा। उत्पादन योजना अनुसार होगा। इस सब उद्देश्य के हेतु हिंसा और बल का प्रयोग न होगा अपितु जनमत बनाकर व्यवस्थापिकाओं में बहुमत के निश्चयों द्वारा यह सब धीरे-धीरे शान्तिपूर्वक वैधानिक पद्धति से लाया जावेगा। जार्ज वर्नर्डशा (George Bernard shaw) सिडनी वेव (Sydney Webb) 'ऐचजी वेल्स, ऐनी विसेन्ट प्रभृति विचारक इस मत के प्रस्तोता

थे। इंग्लैंड में फेवियन सोसाइटी (Fabian Society) इस वाद के प्रचार व प्रसार हेतु 1884 में बनाई गई थी। इंग्लैंड की लेबर पार्टी ने उक्त विचार अपने मेनीफेस्टो में माने हैं। इसे प्रजातान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) भी कहते हैं। भारतीय चिन्तन में समाजवाद पहुँचने का भी इस विचार सारिणी को श्रेय है।

10.02 संशोधन वाद (Revisionism)

यों तो यह वाद भी मजदूरों को राज्य चलाने योग्य बनाने में विश्वास करता था। पर श्रम के अतिरिक्त मूल्य एवं इतिहास के भौतिकवादी परिभ्रमण के मार्क्स के दोनों सिद्धान्तों में इसकी आस्था नहीं है। क्योंकि जब उद्योग में अधिक लाभ होता है, तभी मजदूरों को अधिक भुगतान दिया जा सकेगा। राष्ट्रों की योग्यता तथा बुद्धि का भी इतिहास की गति पर चरम प्रभाव पड़ता है। ये आम हड़ताल की प्रक्रिया द्वारा मजदूरों के शासन-सूत्र हथिया लेने के पक्ष में भी थे। बेलेंटाइन (1850-1939 ई०) इस वाद का प्रस्तोता था। उसके प्रभाव से अन्तर्जातीय साम्यवादी संघ की दूसरी बैठक (Second Inter-national) 1889 ई० में यह निश्चय किया गया था कि राज्य का ध्वंस न किया जाये, वरन् उसी में अन्तरंग सुधार किया जाये। पर तीसरी बैठक (Third International) में जो 1921 ई० में हुई थी, यह निश्चय बदलकर वर्ग-युद्ध के पक्ष में पुनः निर्णय लिया गया।

10.03 गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism)

इनका विश्वास था कि प्रमुख पेशों के संघ बनाये जाने चाहिए और इन्हीं को उत्पादन के कार्य का प्रबन्ध सौंप देना चाहिए। फैक्टरियों के उन्हें मालिक हो जाना चाहिए और मजदूरी प्रथा का अन्त कर देना चाहिए, क्योंकि उसमें गुलामी की गन्ध आती है। वोट का अधिकार भी पेशा के आधार पर होना चाहिए; जिससे एक समिति का निर्माण हो तथा स्थानीय वोटों के आधार पर दूसरी सभा का। प्रथम उत्पादन का प्रबन्ध करे और द्वितीय शासन का। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग रहेगा। जी० डी० एच० कोल तथा वर्टेन्ड रसेल (1890-1940) इस राजदर्शन के प्रस्तोता थे।

10.04 सिन्डीकलिज्म

यह आन्दोलन फ्रान्स में जन्मा था। तोड़-फोड़ एवं मारपीट और हिंसा के माध्यम से इसके नेता फैक्टरियों पर मजदूरों का स्वामित्व स्थापित करना चाहते थे। सोरेल (Sorell) इनका महानेता था। 1875 ई० तक फ्रान्स में इन्होंने 135 सिन्डीकेट बना ली थीं। परन्तु राज्य ने इन्हें अवैध घोषित कर दिया। 1882 ई० में इन्होंने हिंसक प्रणाली अपने विधान से निकाल दी थी।

10.05 राज्य शक्ति की विरोधी विचारधारा—घड़ी के पेन्डुलम का बायें जाना

कुछ विचारक राज्यशक्ति को उत्पीड़न का माध्यम समझकर उसके विरोधी हो गये। उनका विश्वास है कि राज्य शीघ्र समाप्त हो जावेंगे और तभी स्वतन्त्र समाज का जन्म होगा। उत्पादक और भोक्ताओं के संघ राज्य का स्थान ले लेंगे। उनका कहना है कि राज्य में उत्पादक होने के नाते व्यक्ति पूंजीपति से और नागरिक होने के नाते राज्य से और व्यक्तित्व के नाते ईश्वर से पल्ला छुड़ा सकेगा। सब लोग यथा-शक्ति कार्य करेंगे और उपज में से यथावश्यकता ले लिया करेंगे। इसकी मान्यता है कि सारे राज्यों के प्रकार धोखाधड़ी पर आश्रित हैं। राज्य पूंजी वालों का समर्थन करते हैं। वोटों द्वारा सच्चे प्रतिनिधि चुना जाना सम्भव ही नहीं है। कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर भी नहीं सकता। शक्ति का उन्माद हर किसी को बेईमान बना देता है। अतः किसी को दूसरे पर शासन करने का अधिकार नहीं है। प्रमुख विचारकों में निम्न मुख्य हैं—

1. बैकुनिन (Bekunin) नामक रूसी राज-दर्शनकार ने राज्य शक्ति और ईश्वर पर बड़े कटु आक्षेप किये हैं। उसने कहा कि प्रारम्भिक जंगली असभ्य मनुष्य सम्पत्ति चाहता था तथा सम्पत्ति के संरक्षण के लिए ही राज्य संस्थान बना था। सम्पत्ति और राज्य दोनों की सुस्थिरता के लिए ईश्वर की कल्पना की गई थी। वह तो हिंसा तक के प्रयोग द्वारा राज्य शक्ति और आस्तिक्य दोनों को समाप्त करने के पक्ष में था।

2. और रूसी प्रिन्स क्रोपाटकिन (Kropatkin) का कहना था कि मनुष्य लाखों वर्ष तक वैराज्य (बिना राज्य) की स्थिति में रहा है और अब तो स्थिति यह है कि संगठित राज्य व्यक्ति को उतनी ही स्वतन्त्रता देते हैं जो राज्य में बसे धनवान व सत्तावान के अधिकारों से न टकराए। अतः राज्य स्वतन्त्रता का हननकर्त्ता और अन्याय की मशीन होने के कारण समाप्त ही कर दिया जाना चाहिये। व्यक्ति संगत में पंगत के अनुशासन के डर से शान्तिपूर्वक रह सकेंगे।

3. टालस्टाय संस्थान को शान्तिपूर्वक समाप्त करने के पक्ष में थे। वे कहते थे कि परिश्रमी लोग ईमानदारी से सादा जीवन रहें। बस राज्य अनावश्यक हो जावेगा। इन्होंने बलपूर्वक कहा कि ईसाई धर्म तो सम्पत्ति और राज्य को नष्ट करने के लिये ही बना था, जैसा कि उसकी स्थापना के समय का इतिहास बताता है। आदि ईसाई धर्म में कहा गया था कि—

(अ) प्रेम और समानता से रहो।

(आ) अन्यायी के प्रति निशस्त्र प्रतिरोध करो।

(इ) राज्य की अधार्मिक आज्ञाएँ न मानो।

(ई) टैक्स न दो।

(उ) जज इत्यादि के पदों पर कार्य न करो।

यह पाँच कदम राज्य-शक्ति को समाप्त कर देंगे। स्वयं मार्क्स ने कहा था कि जब वर्ग भेद समाप्त हो जावेंगे तो वर्गों की प्रतिष्ठा और वैभव को सुव्यवस्थित रखने वाली राज्य शक्ति अनावश्यक हो जावेगी। तब राज्य मनुष्यों का न होकर वस्तुओं का हो जावेगा। परन्तु उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए बहुत लम्बे समय तक साम्यवादी पार्टी के निरंकुश शासन को एक साधन बताया गया था। महात्मा गांधी भी ग्राम स्वराज्य को विस्तीर्ण करके स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था की स्थापना के माध्यम से राज्य को विलुप्त होना संभव मानते थे।

10.06 घड़ी के पेन्डुलम का दायें घूमना

बीसवीं शताब्दी में साम्यवाद द्वारा राज्य-शक्ति की अजस्रता की पुनर्स्थापना—

(क) लेनिन द्वारा इस शताब्दी में तीन विचारकों ने मार्क्स के साम्यवाद में मौलिक परिवर्तन कर दिये हैं। जर्मनी में बसे लेनिन ने 1917 ई० में रूस के शासन तन्त्र पर तब कब्जा किया, जब रूस युद्ध में फंसा हुआ था। द्वितीय महायुद्ध को साम्राज्यवादियों का युद्ध बताते हुए उसने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का विकसित रूप बताया और उसमें मित्र राष्ट्रों के समाप्त होने की भविष्यवाणी की, और उन्हें हराना आवश्यक बताया। दूसरे उसने कहा कि खेतिहर देश में साम्यवाद प्रगट होने के पहिले उसका औद्योगिक देश की स्थिति में आना आवश्यक नहीं है। साम्यवाद को उसने स्वत: आ जाने वाला न कहकर उसके लिए इन्किलाब आवश्यक बताया। और इस (Revolution) के लिए कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व आवश्यक बताया। पार्टी में नेताओं की बात माने जाने का वाद उसने प्रचलित किया। पार्टी को डिक्टेटर का पद प्राप्त है। प्रजातन्त्र पद्धति में वोटों से बहुमत प्राप्त करके राज्य-तन्त्र पर कब्जा करने को उसने धीमी पद्धति बताया और कहा कि पहले राज तन्त्र पर येन-केन प्रकारेण कब्जा करना चाहिए। उसने यह भी कहा कि सारी दुनिया के साम्यवाद के योग्य हो जाने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए, रूस से प्रारम्भ कर देना चाहिए। एतदर्थ रूसी राष्ट्रवाद भी यत्किन्चित उसने उभारा और आर्थिक क्षेत्र में उसने कहा कि हरेक से उसकी योग्यतानुसार कार्य लेकर उसे भोग पदार्थ फिल्हाल उसके श्रम के अनुसार ही देना चाहिए—अर्थात् उसमें असाम्य बना रहेगा।

(ख) स्टेलिन द्वारा (1923-1936)—उसने साम्यवाद रूस में ही पहले स्थापित करने का नारा लगाया और तत्सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्नों से मुँह फेर लिया। पार्टी की बात सरकार माने, नेता की बात पार्टी माने। इस प्रकार एक व्यक्ति में ही सारी राज्य शक्ति उसके जीवन-भर रही। लाखों विरोधियों को उसने गोली से उड़वा दिया। उसने रूसी साम्राज्य में छोटे-मोटे बीसियों देश सैन्यबल से मिला-कर विशाल रूसी साम्राज्य का निर्माण किया। स्टालिन ने मार्क्स के बाद में कई और

परिवर्तन अपने अनुभवों के आधार पर किये हैं, जो यों हैं—

1. मजदूरी की असमानता—प्रथम पंचवर्षीय योजना के बाद स्टेलिन ने कहा था (एक कान्फ्रेंस में)—

'प्रत्येक व्यवसाय और प्रत्येक कारखाने में एक उन्नत समुदाय विज्ञ-श्रेणी के कार्यकर्ताओं का है। उन्हें केवल उसी अवस्था में रक्खा जा सकता है कि उनकी वेतन वृद्धि और पदोन्नति की जाए। विशेषज्ञों को पीड़ित और असन्तुष्ट रखने की प्रथा सदैव हानिप्रद होगी।' (लीडर समाचार पत्र 8-8-31 से उद्धृत)

अतः कुछ मजदूरों को 45 रु० तथा कुछेक को 1500 रूबेल मासिक तक दिया जाता है।

2. यह मान लिया गया है कि प्रत्येक से शक्ति-भर काम लेना चाहिए और पारिश्रमिक उसके कार्य के अनुसार हो न कि आवश्यकतानुसार जैसा कि मार्क्स ने कहा था।

3. कृषकों को प्राइवेट खेतों का तथा उनकी पैदावार अपने लिए बचाकर रखने का सीमित अधिकार दिया गया।

4. श्रम संसार में श्रमिक को भोजनादि के कार्ड देने की प्रथा बन्द करके उसे सिक्के के रूप में मजदूरी ही देनी पड़ी। उसमें से वह निस्सन्देह कुछ न कुछ बचा लेता है। और स्टेलिन द्वारा निर्मित रूस का विधान इस बचत की सुरक्षा की गारंटी देता है।

5. साम्यवाद के स्वाभाविक उदय में उसकी आस्था समाप्त प्रायः सी रही। और उसे वर्ग-संघर्ष के माध्यम से लाने का प्रयत्न किया गया तथा हिंसक मार्गों से अश्रमिक वर्ग का विशाल नर-संहार किया गया।

1933 ई0 तक स्टेलिन ने 31 लार्ड विषप, 1560 पादरी, 24585 वकील और मजिस्ट्रेट, 79971 जज तथा कानूनी अफसर, 16367 अध्यापक और विद्यार्थी व 95890 अमीर और धनवान व्यक्ति, 59340 सिविल व मिलिटरी आफिसर, 2 लाख मजदूर, 3 लाख राजनैतिक कार्य-कर्त्ता और 9 लाख किसान मौत के घाट उतरवा दिये थे। लाखों लाख को दण्ड देकर साइबेरिया के हिम-प्रान्तों में भेज दिया और 2 5 लाख व्यक्ति रूस छोड़ कर भाग गये। उसने 5000 गिरजाघर भी ध्वस्त करवा दिये थे।

(लाहौर से प्रकाशित पत्र रिफार्मर के 11-3-34 के अंक से उद्धृत)

परन्तु स्टेलिन के इस नर-संहार को खुश्चेव ने 1955 में पदारूढ़ होने पर बन्द किया और उसके शव को लेनिन के शव के पास से उखड़वाकर अन्यत्र स्थापित करवा दिया। उसने गिरजों को खोल दिया है, और रूस के लार्ड पादरी का पद पुनः स्थापित कर दिया गया है।

6. और देशों में तोड़-फोड़ करवा कर साम्यवादी शासन स्थापित करने की

नीति को भी खृश्चेव ने प्रगटतः बन्द करवा दिया है और 1973 में अमेरिका से सह अस्तित्व का समझौता भी कर लिया है।

(ग) माओत्से तुंग द्वारा—इसने 1948 में चीन पर गृह युद्ध के बाद कब्जा कर लिया। वह खेतिहर देश में साम्यवाद की सीधी स्थापना संभव मानता है। सारे परिवर्तन बन्दूक की नोक पर लाने में विश्वास रखता है। तिब्बत, मंगोलिय, सिन्कियांग प्रभृति देश उसने अपने चीनी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये हैं। भारत, वर्मा और वीएटनाम पर उसकी गृद्ध-दृष्टि लगी है।

इन तीनों विचारकों ने राज्य की सत्ता से मानस को जकड़ दिया है। और राज्य को खेत-खलिहान व फैक्ट्री सबका मालिक और प्रबन्धक बना दिया है।

10. 07 साम्यवाद की तीन प्रतिक्रियायें :

(1) **प्रथम प्रतिक्रिया** :—फासीवाद (1919 ई०) पहली प्रतिक्रिया थी जो इटैली में हुई। इस बाद ने राज्य का व्यक्ति के ऊपर सर्वागीण अधिकार जैसा का तैसा मान लिया है, पर इस अंश का विरोध किया है कि राज्य शक्ति पर केवल एक वर्ग अर्थात् मजदूरों का ही अधिकार हो। राज्य भक्ति सारे राष्ट्र के उन्नयन के लिए है और उसके द्वारा समूचे देश का कल्याण होना चाहिए। तो मजदूरों के साथ भी न्याय होना चाहिए। मुसोलिनी इसका प्रस्तोता था। परन्तु उसने इसे बाद का रूप नहीं दिया था। बाद में एल्फ्रेडो, जेन्टाइन एवं पेरोमेजिनी ने ही फासीवाद को दर्शनिक कलेवर पहनाया। इसमें वोट का विभाजन निवास स्थान के आधार पर न होकर पेशों के आधार पर ही होता है। तथा पेशों की नगरों, प्रान्त व देश स्तर पर इकाइयाँ बनती है, और बड़ी इकाई छोटी पर नियन्त्रण रखती है। इसमें राज्य को एक सहकारी संस्थावत माना जाता है जिसमें विभिन्न उत्पादक वर्ग श्रम करते रहते हैं। उसकी मान्यता में राष्ट्र ही राज्य है और राष्ट्र के लिए व्यक्ति का उत्सर्ग किया जा सकता है। राष्ट्रों की विरासत बन जाती है और राष्ट्र की विरासत का संरक्षण होना चाहिए।

राष्ट्र में अनुशासन होना चाहिये और इस हेतु तत्कालीन नेता की आज्ञा ही कानून है। जनता का कार्य केवल आज्ञा मानना है। राष्ट्र की प्राचीन महत्ता लाठी (Facie) के द्वारा वापिस लाना इस वाद का उद्देश्य था। अतः वह बलवान राष्ट्रों के द्वारा सीमा बढ़ाये जाने को वैध बताता है। राष्ट्र और सरकार का भय प्रजा में सदा व्याप्त रहना चाहिए। व्यवस्थापिका को नेता की नीति के अनुसार चलना चाहिए। राज्य कर्मचारी या आनुवाँशिक राजा ही यह कार्य पूरा कर सकते हैं। अतः इनका फासी बाद में बलवान होना आवश्यक है। जर्मनी में व्याप्त आर्य-रक्त की प्रखरता, जर्मन राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठता, भूत में हुए अन्यायों का प्रतिकार, मजदूरों के राज्य के स्थान पर सारे वर्गों की प्रमुखता आदि वहां की हीगेल की शिक्षा ही के सीधे परिणाम थे, जो नाज़ीवाद के नाम से प्रसिद्ध (प्रगट) हुए। इटैली में मैजिनी य गरीवाल्डी की शिक्षा भी आंशिक रूप से फासीवाद की स्थापना का कारण बनी। दो महायुद्धों

के बीच (1919-1939) योरुप की तत्कालीन परिस्थिति और रूस के फैलाव के प्रतिरोध ने दोनों बाद मिला दिये। उनका समन्वय हो गया। द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी-इटली-जापान की हार से यह विचारधारायें दबी हुई प्रतीत होती हैं। पर वे वहाँ के निवासियों के हृदय में सुरक्षित रखी हैं, और उनका उभर कर आना अनिवार्य है।

(2) साम्यवाद की दूसरी प्रतिक्रिया बहुल वाद है जिसे (Political Pluralism) कहते हैं। स्वामी दयानन्द ने राजार्य सभा, धर्मार्य सभा तथा विधार्य सभा में राज्य की सारी शक्ति बाँटने को कहा था और इनको लगभग समानान्तर तथा एक दूसरे के समकक्ष अधिकार दिये थे। हम देखते हैं कि बीसवीं शताब्दी में राज्य को साम्यवाद द्वारा अतिशय अधिकार देने के विरुद्ध इस प्रतिक्रिया ने यह रूप लिया। मनुष्य अपने स्वतन्त्र अधिकार से आपस में मिल जुलकर कई प्रकार की संस्थाओं का निर्माण करता है : धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, भाषाई, साहित्यिक, पारिवारिक, जातीय तथा अपने पेशे से सम्बन्धित। उसके जीवन पर इन सभी के विधानों का अंकुश होता है। अतः राज्य मनुष्य के स्वत्व के एक भाग की ही निष्ठा का अधिकारी है—सर्वतोमना नहीं। हाँ इन सब संस्थानों में समन्वय रखने का अधिकार और कर्त्तव्य राज्य का अवश्य है। प्लेटो के ग्रीस में राज्य पर प्राकृतिक नियमों को पालन करने का बन्धन था। मध्यकालीन युग में ईसाई धर्म और उपरान्त पोप का नियन्त्रण राज्यों पर रहता था। पर राजा की प्रणाली नष्ट होने पर वोटों पर बने राज्य भी शनैः शनै महाशक्ति शाली होते गए। हीगेल ने राज्य को स्वर्गीय विधान कहा था। परन्तु साम्यवाद ने राज्य को सर्वे सर्वा बना दिया। विरोध में कुछ दार्शनिकों ने राज्य को प्रजा का शत्रु कहा। परन्तु संतुलित विचारकों ने वास्तविकता के आधार पर बहुल वादी विचारधारा को अपनाया। जर्मनी में आटोगर्क ने, इंग्लैंड में जेटलैन्ड, हैराल्ड, लास्की (1893-1950), कोल, लिन्डसे और वार्कर ने, फ्रांस में डिव्युट ने, हालैन्ड में क्रेव ने और अमेरिका में मिस फोलियट ने यही मत रखा कि हरेक संस्था का अपना व्यक्तित्व होता है और राज्य भी उन्हीं में से एक संस्था है। समाज में संस्थाओं की कई परत हैं और हरेक परत नागरिक को श्रेष्ठतर बनाती है। राज्य इन संस्थाओं को नहीं बनाता, फिर वह इन पर क्यों कर हावी रहने का अधिकारी है ? राज्य भी कानून से बँधा है। हाँ राज्य की सदस्यता बाध्यकारी है। तो भी सारी शक्ति राज्य में संघीय प्रणाली के आधार से तथा इन संस्थाओं के माध्यम से ही होनी चाहिए। और स्वयं राज्य भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून से बँधा होना चाहिए। इन विचारों के फैलाने के मुख्य कारण ये थे :

(1) राज्यों को अत्यधिक शक्ति देने की प्रतिक्रिया हुई थी।

(2) प्रजातन्त्रीय व्यवस्था का असफल होना, बहुमत द्वारा अल्पमत का निरादर और उपेक्षा। (बहुमत धार्मिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार के हैं)।

(3) राज्य का अत्यधिक केन्द्रीयकरण।

(4) अन्तर्राष्ट्रीयता का फैलाव व प्रचार ।

(5) स्थानीय जीवन की प्रशंसा में गीत गाए जाना ।

परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि इन सब संस्थाओं में कोई न कोई तारतम्थ रखने वाला तो चाहिए ही है । कोई एक संस्था अतिक्रमण न करें, इसका प्रबन्ध करना होगा और विदेशों से सम्बन्ध निश्चित करने वाला और यथावश्यकता युद्ध-संचालन करने वाला महायन्त्र चाहिए ही है ।

ऐसा राज्य जितनी सेवा जनता की करेगा, जनता उसकी उतनी ही आज्ञा-कारिणी होगी । ऐसा राज्य स्वयं देश के रीति-रिवाज और कानून से बँधा होगा । इधर संयुक्त राष्ट्र संघ के बनने और उसका प्रभाव क्षेत्र फैलने से भी राष्ट्रीय राज्यों की प्रभु-सत्ता कम होनी निश्चित है । संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने मनुष्य-मात्र के मूलभूत अधिकारों का संहिताकरण कर दिया है और राष्ट्रों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को सजा देना भी प्रारम्भ कर दिया गया है । सम्भव है कि राज्य की सारी शक्ति संयुक्त राष्ट्र में निहित हो जावे और राज्य शक्ति का दैत्य वृद्धाकार होकर संसार में पुनः प्रगट हो जावे । रसैल ने विश्व की एक सरकार का नारा उठाया हुआ ही है । फिलहाल तो राज्य शक्ति अनिर्वचनीय लगती है ।

(3) तीसरी प्रतिक्रिया गांधी वाद है जो कि वेदों के इस देश भारत में ही प्रगट हुई है, सो भी 1921 के लगभग ही जबकि योरुप में फासीवाद प्रगट हुआ था । गाँधी जी ने टालस्टाय के द्वारा प्रेरित मन्तव्य जो उसने राज्य सत्ता के अन्त करने को बताये थे, विदेशी सत्ता के अन्त करने हेतु भारत में प्रयुक्त किए । शक्तिशाली शत्रु के विरोध में शस्त्र संग्रह न करके नैतिक और आत्मिक बल प्रयोग करने का मार्ग उन्होंने निकाला । इस नैतिक बल से विदेशी शासकों के हृदय विघल जाने की संभावना बताए हुए उन्होंने मनुष्य मात्र में देवीय प्रेम के गुणों का होना सिद्धान्तः माना । पर वे अपने देश में बसे मुसलमानों का हृदय परिवर्तन नहीं कर सके । हाँ अंग्रेजों का कुछ हृदय परिवर्तन करने में वे अवश्य सफल हुए । फलतः कोई दस लाख हिन्दू मुसलमानों के वध, एक करोड़ व्यक्तियों को बेघर बार तथा 100 करोड़ रुपये की सम्पत्ति अग्निसात करवा के 1947 में एक भारत के दो भारत होकर ही दोनों भागों को स्वतन्त्रता मिली । स्वतन्त्र भारत की राज्यशक्ति के लिए उनके कुछ सुझाव थे, जिन्हें उनके उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू ने नहीं माना । पर उनके राज्यशक्ति के बारे में कुछ विचार थे, जिन्हें फैलाने में आचार्य विनोबाभावे प्रभृति लगे हुए हैं । अतः उस पर तनिक विचार करना आवश्यक है । साम्यवाद के हिंसक तथा सर्वग्राही राज्यतन्त्र के विरोध में यह तीसरी प्रतिक्रिया है । गाँधीवाद के इस विषय में सूत्रयों हैं :

(1) राज्यशक्ति विकेन्द्रित होनी चाहिए । वह ग्राम-पंचायतों में बँटी हो । ग्राम स्वावलम्बी हो और ग्राम-पंचायतों के वोटो से ही राष्ट्रीय सरकार बने, जिसके कम से कम अधिकार हों ।

(2) हर मनुष्य को श्रम करना अनिवार्य होगा, उतना जिससे वह अपने लिए अन्न और वस्त्र बना सके ।

(3) हिंसा से वर्गों को समाप्त नहीं किया जावे । वर्गों में सहयोग हो । साधन सम्पन्न वर्गों को ऐसी शिक्षा दी जावे कि व अपने को साधनहीनों का ट्रस्टी समझें ।

(4) राष्ट्रीय फौजें खत्म कर दी जायें । राष्ट्रों विवादों का फैसला पंच निर्णय से ही करावें और न मानने वाले राष्ट्र का अहिंसात्मक बहिष्कार हो उसे सुपथ पर वापिस लाने में सफल होगा ।

(5) कल कारखानों के स्थान पर उत्पादन का कार्य गृह-उद्योगों की मार्फत पनपाया जावे ताकि न तो पूँजीपति बढ़े न मजदूरों की संख्या और न तत्सम्बन्धी समस्यायें । देश में बेरोजगारी भी इस प्रक्रिया से हटनी संभव है ।

(6) धर्मों की फिलासफी पर ध्यान न दिया जाए । उनकी नैतिक शिक्षाओं के आधार पर उनमें एकत्व हो तथा कर्म काण्ड की सभी को स्वतन्त्रता रहे ।

अस्तु आज जहाँ चिन्तन रुका है उसको दयानन्द द्वारा पुनः प्रस्तुत वैदिक राज दर्शन ही पूर्ण करता है । अष्ट-चक्रा, नव-द्वारा संस्कृति और राज्य का प्रबन्ध साधिकार धर्मार्य, विधार्थ और राजार्य सभाओं में बाँटना, इसी में मनुष्य के सुखैश्वर्य की कुंजी है ।

शोध का उत्तरार्द्ध

समुल्लास 11 से 14 तक

भारतीय राजनीति और उसमें वैदिक राजदर्शन
का
आर्य समाज के माध्यम
से
प्रयोग और योगदान

समुल्लास-11

भारत की सहस्रों वर्षों
की
स्वातन्त्र्य-परम्परा

11

भारत की सहस्त्रों वर्षों की स्वातन्त्र्य-परम्परा

11.01 प्रथम त्रिभुज

11.01.01 वादरूप

(01) **देवासुर संग्राम में आदित्यों की विजय और सूर्य-वंश :** दयानन्द सरस्वती ने लिखा है कि अन्तिम जल-प्लावन के बाद जो सृष्टि रचना हुई उसमें मानव सबसे पहले तिब्बत में प्रगट हुए थे। वहीं से वे पंजाब अंचल में जा बसे थे, जिसे वे ब्रह्म देश कहने लगे थे। स्व० विद्वान संपूर्णनन्द ने इसे बसाव के क्रम में आर्यों का आदि देश माना था। चाक्षुष मन्वन्तर में ही राजा वेन-पृथु ने जमीन साफ कराई थी और वही इस परम्परा का आदि राजा था। इस उत्थान-पतन का इतिहास नहीं मिलता। सतयुग के अन्त में मारीच कश्यप को दक्ष प्रजापति की तीन कन्याएँ— दिति, अदिति और दन्यु ब्याही गई थीं। दिति के पुत्र हिरण्यकश्यप और हिरण्याक्ष थे। अदिति के 12 पुत्र थे : धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, बिवस्वान, पूषा पर्जन्य, त्वष्ठा और विष्णु। पहले कह आए हैं कि दिति की सन्तान दैत्य और अदिति की आदित्य कहलाती थी और इनमें विरासत के लिए 12 देवासुरसंग्राम हुए थे। इन्हीं में से चौथा अमृत-मन्थन था। यह युद्ध 300 वर्ष चले। विजय कनिष्ठ (आदित्यों) की हुई थी। दैत्यों को हराकर पश्चिमोत्तर पर्वतों की ओर भगा दिया गया था। इन्हीं में से ही जरदुश्त ने पारसी धर्म चलाया था। प्रह्लाद, विरोचन, बलि और वाण दैत्य शाखा में ही थे। इनके गुरू शुक्राचार्य प्रसिद्ध थे। बलि और विष्णु, के समझौते के अनुसार भारत का क्षेत्र विष्णु के भाग में आया और उन्होंने हरिद्वार प्रयाग, नासिक और पाटन में अमृत कुम्भ स्थापित करके भारत में एकक्षत्र राज्य स्थापित किया था। आदित्यों में से एक विवस्वान थे और उसके ही पुत्र मनु थे। मनु ने मानसरोवर से नीचे उतरकर अयोध्या को बसाया था। त्रेता के वे प्रथम राजा थे। मनु का नवां पुत्र इक्ष्वाकु था। इक्ष्वाकु से राम तक 57 तथा राम से श्रुतायु

तक 24 पीढ़ियों ने महाभारत काल तक यहाँ स्वतन्त्र राज्य किया था। महाराजा राम ने लंका तक विजय करके चक्रवर्ती राज्य की पुनर्स्थापना की थी।

(02) **आर्यों की दूसरी राज्य-कर्ता शाखा चन्द्रवंश** : मनु की एक कन्या इला थी जो अत्रि ऋषि के पुत्र राजा सोम के पुत्र बुध को ब्याही थी। बुध का पुत्र पुरूरवा था। प्रयाग का राज्य इसे दहेज में मिला था। इस वंश में पुरूरवा से युधिष्ठर तक 44 पीढ़ियों ने स्वतन्त्र राज्य यहाँ किया था। बड़े होने के कारण राज्य पर धृतराष्ट्र का अधिकार था। स्वाभाविक है कि उसके बड़े पुत्र का (दुर्योधन का) राज्य पर उत्तराधिकार होना था। तो भी धृतराष्ट्र ने आधा राज्य अपने पुत्र दुर्योधन और आधा भतीजे युधिष्ठर को दिया था। युधिष्ठर अपना भाग जुए में हार गए। उन्हें अज्ञातवास में जाना पड़ा। अज्ञातवास से लौटकर उन्होंने अपना जुए में हारा भाग वापस माँगा। वापस न मिलने पर बड़ा युद्ध 18 दिन तक हुआ जिसमें कृष्णजी ने कौरवों के मुख्य योद्धाओं को छल से मरवा दिया। 18 अक्षौहिणी सेना का वध करा कर युधिष्ठर गद्दी पर बैठे। उन्होंने राजसूय-यज्ञ किया। इसका वर्णन जैमिनी पुराण (नवल किशोर प्रेस लखनऊ से मुद्रित) में है। महाभारत से कई गुने अधिक और निर्णायक युद्ध राजसूय-यज्ञ के इस घोड़े को लेकर किए गए। निम्न मुख्य युद्धों का वर्णन उक्त पुराण में हैं।

राज्य का नाम	राजा का नाम	पाण्डव पक्ष के लड़ने वाले सेनापति का नाम।
1. हस्तिनापुर से 20 योजन दूर	योवनाश्व	भीम का राक्षस पुत्र घटोत्कच एवं वृषकेतु
2. सिन्धु देश	जयद्रथ का पुत्र	भीम का पौत्र मेघवर्ण
3. द्वारिका पुरी के पास	शाम्ब	भीम
4. महिष्मती	उद्दालक	भीम
5. रत्ननगर (बंगाल)	ताम्रध्वज	कृष्ण

महाराज कृष्ण के इतने प्रयत्नों से यह भारत देश महाभारत हुआ था। युधिष्ठर के बाद परीक्षित राजा हुए और उन्होंने 24 वर्ष राज्य किया। परीक्षित का वध नाग राजाओं ने किया था, जिनकी राजधानी तक्षशिला थी। जन्मेजय ने तक्षशिला को जीतकर नाग-यज्ञ किया था। और पाढम (जिला मैनपुरी) में नाग सेनापतियों का सामूहिक वध किया था। 75 वर्ष उसने राज्य किया।

(03) महाभारत के बाद पुरूरवा के वंश के अतिरिक्त अन्य वंश भी पीढ़ी दर पीढ़ी शासनारूढ़ रहे हैं।

महाभारत के बाद के दिल्ली के शासकों के वंशानुक्रम का दयानन्द सरस्वती ने यों उल्लेख किया है :

से०	शासक का नाम	शासन करने की पीढ़ियां	वर्ष	शासन काल मास	दिन
1.	श्री युधिष्ठरादि	30	1770	9	10
2.	श्री विश्रवा	14	500	3	17
3.	श्री वीर महाथधान	16	445	5	3
4.	श्री थन्धर	9	374	11	26
5.	श्री महानपाल	1	14		
6.	श्री विक्रमादित्य	1	93		
7.	श्री समुद्रपाल	16	372	4	21
8.	श्री मलूख चन्द	10	191	1	16
9.	श्री हरिप्रेम वैरागी	4	50	-	21
10.	श्री आधिसेन	12	151	11	-
11.	श्री दीप सिंह	6	100	6	12
12.	श्री पृथ्वीराज	5	80	-	20
		124	4157	9	14

(सत्यार्थ प्रकाश-राज प्रकरण-समुल्लास 6)

इन केन्द्रस्थ चक्रवर्ती राजवंशों के अतिरिक्त मगध अंचल में वृहदर्थ वंश ने 110 वर्ष, शिशुनाग वंश ने 318 वर्ष, नन्द वंश ने 240 वर्ष, इस प्रकार इनकी 63 पीढ़ियों ने राज्य किया।

इसी प्रकार आन्ध्र अंचल में 31 पीढ़ियों तक (460 वर्ष) शालवाहन आन्ध्र मत्यों ने, 136 वर्ष तथा गुप्त राजाओं की 10 पीढ़ियों ने 243 वर्ष शासन किया।

काश्मीर अंचल में राजतरगिणी के लेखक के अनुसार कृष्ण के समकालीन गोनन्द राजा से लेकर उसके अपने समय के कायस्थ वंशीय राजा यशमन वर्मा तक 3500 वर्ष राज्य किया। बाद के 650 वर्षों में भी अनेक राजा हुए।

(11.01.02) **प्रतिवाद रूप**

इस स्वातन्त्य के बाद का नियति के नियमानुसार प्रतिवाद हुआ। विदेशियों के आक्रमण हुए। इनके अस्थाई टिकाव के बाद इन्हें परास्त कर के भारत ने भगा दिया। जो यहाँ बने रहे उन्हें अपनी संस्कृति में दीक्षित कर लिया गया। इसके सात प्रमुख उदाहरण हैं—

(01) अयोध्या के राजा बाहु पर हैहयवंशी राजा ने शक, यवन पारद, कम-बोज और पल्लव राजाओं की सहायता से आक्रमण किया था। राजा बाहु भाग गया था। तब अयोध्या परतन्त्र हो गई। बाहु का पुत्र सगर और्व ऋषि के आश्रम में उत्पन्न होकर बड़ा हुआ। उसने परशुराम से आग्नेयास्त्र की शिक्षा

ली और बड़े होकर हैहयों से बदला लिया। उनकी राजधानी महिष्मती नगरी जला दी। शक, यवन, काम्बोज, और किरात जातियों को परास्त किया। तदुपरान्त अश्वमेध-यज्ञ किया। उसके अश्वमेध घोड़े की रक्षार्थ 60,000 सिपाही गये थे।

(02) सिकन्दर महान ने 327 ई० पूर्व में तक्षशिला पर आक्रमण कर के दारा को परास्त कर दिया था। मगध के सेनानी चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से तक्षशिला के पास के क्षत्रीय राजाओं का संगठन करके सिकन्दर के उत्तराधिकारी सैल्यूकस को परास्त करके उसकी कन्या हैलेना से विवाह किया था।

(03) अशोक के नाती शालिसूक के समय यवन राजा डिमेस्ट्रियस ने मथुरा और पांचाल को जीतते हुए पाटिलीपुत्र पर आक्रमण किया था। कलिंग के राजा खारवेल ने शालिसूक की सहायता की थी और डिमेस्ट्रियस को हरा कर भगा दिया था।

(04) ललितादित्य काशमीर नरेश ने वंग, कलिंग, कर्नाटक, भूटान, आसाम आदि अपने राज्य में मिला लिए थे। काम्बोज, तुखार और दरद उसके राज्यान्तर्गत अंचल थे। उसने आज्ञा दी थी कि तुरुष्क लोग आधा सिर मुंडवा कर रहें।
(राजतरंगिणी-तरंग 4)

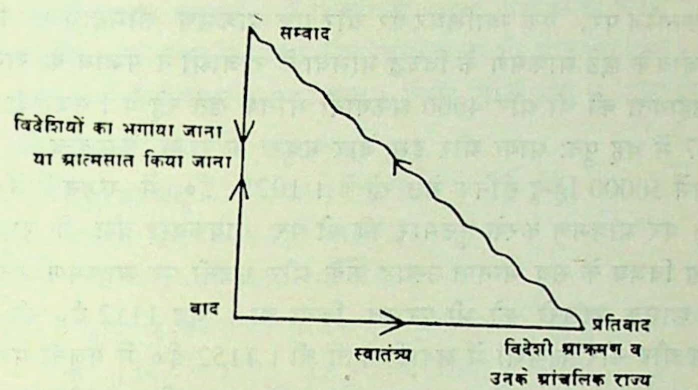
(05) शक नामक तातारी जाति के विदेशी राजाओं ने 300 ई० पूर्व से 200 ई० तक उत्तरी-भारत पर राज्य किया। राजवंश का नाम शोढ़ास था। उस वंश के कुल 18 राजाओं में विमतक्षम, कनिष्क, हुविष्क, वासिष्क हुविष्कII और वासुदेव प्रख्यात हुए थे। मालवा के राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने 50 ई० पूर्व में शकों को परास्त करके शकारि की उपाधि प्राप्त की और विक्रम सम्वत् चलाया था। शकों में से कनिष्क और हुविष्क तो बौद्ध बना लिए गए थे। पर वासिष्क एवं वासुदेव को वैष्णव धर्म में दीक्षित कर लिया गया था।

(06) हूण 500 ई० के लगभग इन विदेशियों ने उत्तरी भारत में राजसत्ता स्थापित कर ली थी। तोरमाण मिहिरकुल इनमें प्रसिद्ध राजा हुए हैं। इन्होंने भी मथुरा में मन्दिर बनवाये थे। हूणों का पराभव मौसरो वंश के यशोवर्मन (550 ई० पू०) एवं वर्धन वंशज सम्राट हर्ष (606-700 ई०) ने किया था। हूणों को भी शुद्ध कर के हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिया गया था। इनमें से ग्यारह राजाओं ने 300 वर्ष राज्य किया था।

(07) इसके अतिरिक्त 8 (आठ) यवन राजा सैल्यूकस, मिनेन्द्र, प्रभृति सीमान्त में, 14 (चौदह) तुषार राजा, 13 मुसुन्द राजा छोटे-छोटे राज्य बनाकर राज्य तो करते रहे थे, पर उन्हें तक्षशिला के प्रजातन्त्रीय गणों ने निरस्त कर दिया था।

11.01.03 सम्वाद रूप

इन आक्रमणों के बावजूद भारत का स्वातन्त्र्य कायम रहा और संस्कृति अक्षुण्ण रही। यह सम्वाद था क्योंकि देश में अविकल स्वाधीन देशीय रक्त का राज्य चलता रहा।



11.02 द्वितीय त्रिभुज—भारतीय संस्कृति में आत्मसात न होने वाले मुसलमान

11.02.01 वाद रूप-आक्रान्ताओं से 400 वर्ष का युद्ध

मूलतः इस्लाम के सिद्धान्तों को युद्ध और विजय द्वारा फैलाने के लिए खलीफाओं ने अरब से निकलकर पूरब और पश्चिम दोनों ओर प्रयाण किया। एक-दो युद्ध के बाद ही फारस और मिश्र जैसे देशों ने आत्म-समर्पण कर दिया और वे मुसलमान बन गये। केवल थोड़े अग्नि पूजक ही फारिस को छोड़कर बम्बई में भागकर आ बसे और पारसी कहलाये। 733 ई० में स्पेन-विजय के बाद इस्लाम ने पेरिस पर आक्रमण कया परन्तु सारी ईसाई शक्ति ने इकट्ठे होकर उनका मुकाबिला किया और मुसलमानों को वापस खदेड़ दिया। स्पेन में इस्लाम का प्रभुत्व 700 वर्ष और रहा। पूर्व में भारत पर पहला आक्रमण 729 ई० में मुहम्मद बिन कासिम द्वारा सिन्ध के अंचल पर हुआ। जिसमें राजपूत राजा दाहिर मारा गया था। परन्तु 31 वर्ष के बाद 765 ई० तक राजपूतों ने यह अंचल मुक्त करा लिया या। इसके बाद 200 वर्ष तक इस्लामी फौजें लूटमार के लिए आती रहीं। स्थानीय राजे उन्हें तुरन्त मारकर भगा देते ये। उनका यहाँ कोई राज्य नहीं स्थापित हो सका। दसवीं शताब्दी में राणा खोमा के काल में भी मुसलमानों ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया था, पर उनके सरदार को कैद कर लिया गया था। इस आक्रमण का कारण यह था कि शिसोदियों के आदि पुरुष ने ईरान, अफगानिस्तान और कन्धारादि विजित किये थे। चित्तौड़गढ़ पर आक्रमण बदले में किया गया था।

979 ई० में मुसलमानी लूटमार से दुखी होकर पंजाब के राजा जयपाल ने

गजनी पर आक्रमण किया था। परन्तु सुल्तान सुबुक्तगीन ने उसे हराकर लौटा दिया था। सुबुक्तगीन ने जयपाल से हरजाने का एक लाख रुपया मँगवाया। रुपया न मिलने पर 996 ई० में आक्रमण करके उससे पेशावर का प्रान्त छीनकर वहाँ अपनी चौकी बनायी थी। उसके पुत्र मुहम्मद गजनवी ने इनमें से तेरह पंजाब पर, एक काश्मीर पर, तीन कन्नौज पर, एक ग्वालियर पर और एक आक्रमण सोमनाथ पर किया था। 1011 में पंजाब के छठे आक्रमण के विरुद्ध मालवा के राजाओं ने पंजाब के राजा आनन्द पाल की सहायता की थी और 4000 अफगानी सैनिक खेत रहे थे। ग़जनवी भाग गया था। 1017 में वह पुनः आया और इस बार मथुरा के राजा फूलचन्द ने उससे युद्ध किया जिसमें 50000 हिन्दू सैनिक खेत रहे थे। 1025 ई० में गजनवी ने सोमनाथ (गुजरात) पर आक्रमण करके लूटमार की थी पर गायकवाड़ वंश के राजा विजय चन्द ने उस विजय के सब भग्नात उखाड़ फेंके और गजनी पर आक्रमण करके वहाँ के तत्कालीन शासक खुसरो को भी परास्त किया था। यह 1112 ई० की बात है। गजनी वंश और गौर के वंशों में लड़ाई रहती थी। 1152 ई० में गजनी पर गौर वंश का अधिकार हो गया। खुसरो ने भागकर पंजाब में शरण ली। 1186 में शहाबुद्दीन गौरी ने गजनी के पंजाब अंचल पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए। इधर पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता-हरण के काण्ड से दुःखी जयचन्द राठौर ने मुहम्मद गौरी को दिल्ली पर आक्रमण करने हेतु बुलाया। पृथ्वीराज चौहान ने अपने पिता को भी क्रुद्ध हो दिल्ली से निकाल दिया था। उसने भी गौरी को आक्रमण का संदेश भेजा था। गौरी ने 1191 ई० में पहला आक्रमण किया। उसे थानेश्वर में पृथ्वीराज ने परास्त करके 40 मील पीछे तक खदेड़ दिया। 1192 ई० की चढ़ाई में गौरी कैद कर लिया गया था। क्षमा-याचना पर छोड़ दिया गया। 1193 ई० में गौरी ने फिर आक्रमण किया। पर इस बार पृथ्वीराज के साथ पूर्व के 108 राजाओं के स्थान पर केवल 64 राजा थे। तो भी युद्ध चलने या टालने के रूप में गौरी ने पृथ्वीराज को भुलावे में डाले रक्खा और एक दिन यकायक आक्रमण करके पृथ्वीराज को कैद कर लिया और गजनी में कैद करके उसकी आँखें फोड़ दी थीं। वहाँ 1200 ई० में पृथ्वीराज ने आयोजित-शब्द-वेधी-वाण प्रतियोगिता में गौरी को वाण से मार दिया था। 1192 के ही वर्ष में गौरी ने कन्नौज पर भी आक्रमण करके विजय प्राप्त की थी। मेहरोली और कन्नौज के खण्ड-हर बीसियों आँसू रोते हैं, जहाँ पवित्र मन्दिरों के स्थान पर कुतुब की लाट तथा गौरी मस्जिद खड़े हैं। जयचन्द के वंशज राजस्थान की मरुभूमि में भाग गये और वहाँ उन्होंने जोधपुर तथा बीकानेर के राज्य स्थापित कर लिए थे।

11.02.02 प्रतिवाद रूप

726 से 1193 तक अर्थात् 467 वर्ष तक जिन्हें रोक रक्खा गया था, उन्होंने 1193 ई० के बाद एक के बाद एक शेष भारत के सारे प्रान्त 12 वर्षों में विजित कर लिए क्योंकि उनकी जनता और राजे प्रायः बौद्ध थे जो कहते थे कि—कोइ नृप होइ, हमें

का हानी ? वे संसार को अस्थिर मानते थे। गौरी के सेनापति वख्तियार खिलजी ने 1196 ई० में बिहार जीता और 1203 में बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन को नादिया में परास्त किया। 1203 में गरवड़ राजाओं ने समूचा पंजाब मुसलमानों से पुनः छीन लिया और सिन्ध में 1206 ई० से तत्कालीन सुल्तान का वध कर डाला। इस अवसर से लाभ उठा उसके गुलाम कुतुबद्दीन ने दिल्ली के तख्त पर कब्जा करके राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। उसी दिन से भारत की परतन्त्रता का भी श्रीगणेश हुआ। आक्रान्ताओं का राज्य 650 वर्षों के लिए स्थिर हो गया। उनके निम्न वंशों ने राज्य किया :

(1) गुलाम वंश—(1206-1290 ई०)
(2) खिलजी वंश—(1290-1320 ई०)
(3) तुगलक वंश—(1320-1410 ई०)
(4) लोदी वंश—(1410-1450 ई०)
(5) दक्षिण में जफर खाँ नामक एक अफगान ने बहमनी वंश की नींव डाल कर 1347 से 1525 तक राज्य किया। उसकी समाप्ति पर पाँच मुसलमानी रियासतें—आदिलशाही, कुतुबशाही, निजामशाही, इमादशाही और वरादशाही नाम की बनी। इन्होंने ही मिलकर 1565 ई० में ताल कोट के युद्ध में विजयनगर वंश को समाप्त कर दिया था। यद्यपि उसके कुछ मन्त्री मैसूर प्रान्त में स्वतन्त्र राज्य बनाये रख रहे थे।
(6) मुगल वंश – 1526-1540 ई० - राजा हुमायूँ।
विलराम के युद्ध में शेरशाह सूरी ने उसे हराकर भगा दिया था।
(7) सूरी वंश (1540-1556 ई०)—शेरशाह सूरी
(8) पुनः मुगल वंश (1556-1857) तक

हिन्दू राज्यों के मुगलों के समय दो दल थे। एक इनसे मिल गया था जिनमें जयपुर व जोधपुर प्रभृति घराने थे। दूसरे इनसे लड़ते रहे। उनका नेतृत्व मेवाड़ और चित्तौड़ ने किया था।

मुगलों के बादशाह आलमगीर के समय (1760 ई०) में अहमदशाह अब्दाली का चौथा आक्रमण हुआ था। पर उस युद्ध को आलमगीर की ओर से मराठों ने लड़ा था। मराठे हार गये, पर अब्दाली प्रचुर धन के बदले में मुगलों को दिल्ली का तख्त फिर लौटा गया था। आलमगीर के बाद शाहआलम गद्दी पर बैठा, पर 1771 में मराठों ने उसे बन्दी बनाकर अपने संरक्षण में 32 वर्ष रक्खा। सन् 1803 तक अंग्रेजों ने शाह आलम को मराठों से छीन लिया और 1806 ई० में उससे दिल्ली की दीवानी अपने नाम लिखा ली, यद्यपि अकबर सानी और बहादुरशाह जफर नाम मात्र के बादशाह बने रहे। 1857 ई० में जफर को रंगून में कैद कर दिया गया। और उसके दो पुत्र तथा एक पौत्र गोली से उड़ा दिये गये। मुगल वंश समाप्त हो गया, पर शासन बजाय मराठों के अंग्रेजों के हाथ में चला गया।

11.02.03 **सम्वाद रूप**

परतन्त्रता की बेड़ियों का उत्खनन राजपूत, मराठों और सिक्खों ने किया जो इस देश की खड्गवाहिनी कौमें बना दी गयी थीं।

1. **राजपूत**—मुस्लिम आक्रान्ताओं से वीर राजपूतों ने 700 वर्ष तक सन् 905 से 1681 तक 28 मुख्य युद्ध किये और उनकी प्रभुसत्ता कभी नहीं मानी। इसमें हम जयपुर और जोधपुर के राज घराने निकाले देते हैं जो प्रथम हार ही में मुगलों के सहयोग के पक्षपाती हो गये थे।

2. **मरहटे**—गुरू रामदास सन् 1606 ई० में जन्मे थे। उन्होंने सारे भारत में परतन्त्रता की बेड़ियों को देखा था। उन्होंने पुनर्जागरण का बीड़ा उठाया। बीस वर्ष तक शिवाजी को ट्रेनिंग दी। शिवाजी सिसोदियों का ही वंशज था। सन् 1637 से 1772 तक मराठों ने 31 मुख्य युद्ध मुसलमानों से लड़े। इस प्रकार मराठों ने दिल्ली का राज्य मुसलमानों से छीन लिया था।

दक्षिणांचल में फडनवीस के नेतृत्व में मराठा संघ के सब सदस्यों ने मिलकर 1792 ई० ने निजाम को कुर्दला के स्थान पर हरा कर तीन करोड़ रुपया एवं बरार तथा कुछ अन्य अधिक जिले उससे छीन लिए थे।

(वीर सावरकर कृत हिन्दू-पद-पादशाही से सारभूत)

3. **सिक्ख**—राजा जयपाल के असफल गजनी आक्रमण के बाद यह सिक्खों का ही सौभाग्य है कि उन्होंने सीमा-पार काबुल तथा गजनी पर विजय प्राप्त करके उसे अपने राज्यान्तर्गत किया। जैसे भारत में तिपेलंग (तैमूर लंग) का नाम भयावह है, वैसे ही गजनी में नलवा (हरीसिंह नलवा) का नाम बच्चों का डराने में काम आता है।

1469 में गुरू नानक देव ने जन्म लेकर देश-देशान्तर में अध्यात्म का प्रचार किया। तदन्तर उस परम्परा में गुरू अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुन, हरगोविन्द, हरराय, हरकिशन, तेग बहादुर और गोविन्द सिंहजी हुए। इन पर आकर गुरु परम्परा समाप्त कर दी गयी। वीर बन्दा बैरागी को ग्याहरवाँ गुरु नहीं बनाया गया। 1645 से 1836 तक सिक्खों को सैकड़ों युद्ध मुस्लिम आक्रान्ताओं से सरहिन्द से लेकर काबुल तक करने पड़े और अन्त में उन्होंने सारा पश्चिमोत्तर भारत स्वतन्त्र करा लिया। खैबर से सतलज तक सारा भूभाग अंग्रेजों के आते-आते सिक्खों ने मुसलमानों से स्वबल से छीन लिया था। इन तीन प्रकरणों के विशद वर्णन से स्पष्ट है कि मुसलमानों द्वारा 1206 में सृजित साम्राज्य को राजपूतों, मरहठों और सिक्खों ने नष्ट करके स्वराज्य स्थापित कर लिया था।

हाँ यह सच है कि यह प्रभुत्व अधिक काल नहीं ठहर सका। यह कहानी अगले समुल्लास में कहेंगे।

(भारतवर्ष का इतिहास—भाई परमानन्द एम० ए० कृत से संक्षिप्ती-कृत)

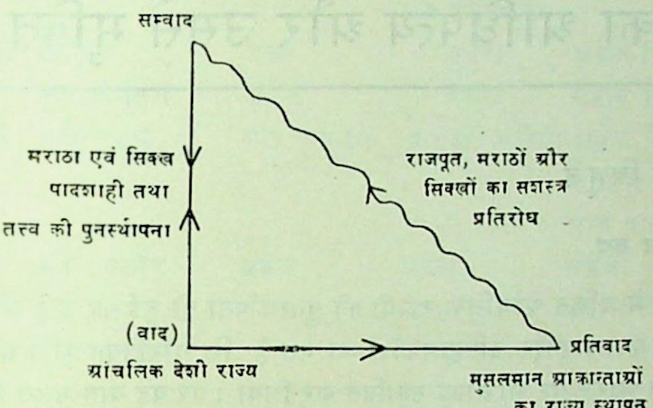
इन्हीं विजयों का सोल्लास वर्णन दयानन्द सरस्वती ने यह कहकर किया था—

जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने शिवाजी, गोविन्द सिंह जी ने खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया था।

(सत्यार्थ-प्रकाश=समु० 12 पृ० 280)

नोट—चूंकि राजपूत मुसलमानों से हतप्रभ हो गये थे, उनका नाम यहाँ नहीं आया। स्वामीजी राजपूत घरानों में इसीलिए गये कि उनकी भावना उनकी परास्त मनोवृत्ति से दुखी थी। इसीलिए परास्त मनोवृत्ति के अगुआ जोधपुर घराने में केन्द्र बनाकर वह रजवाड़ों में घूमते रहे।

इस प्रकार यह त्रिभुज इस प्रकार बनता है।



[कृपया तत्त्व के स्थान पर स्वत्त्व पढ़ें]

12

अंग्रेजों का आधिपत्य और उससे मुक्ति

12.01 तृतीय त्रिभुज

12.01.01 **वाद रूप**

पूर्व समुल्लास में वर्णित आंचलिक राज्यों की पुनर्स्थापना तो हुई पर उन्हें शीघ्र अंग्रेजों से लोहा लेना पड़ा। कुछेक इतिहासकारों का मत है कि योरुपियन आये और उन्होंने यकायक समूचे भारत पर साम्राज्य स्थापित कर लिया। पर यह बात गलत है। अंग्रेजों को भी सौ वर्ष से ऊपर सारा देश हथियाने में लगे हैं और 46 बड़े युद्ध करने पड़े हैं। बंगाल, सिंध, अवध और निजाम का क्षेत्र उन्होंने मुसलमानों से, पंजाब व पश्चिमोत्तर प्रान्त सिक्खों से और शेष सारा देश मरहठों से प्राप्त किया है। उनसे हुए क्रमशः युद्धों का हम वर्णन संक्षेप में करते हैं, जिन्हें अच्छे शस्त्रों के बलबूते पर उन्होंने जीता था।

(01) **मुसलमानों का चौदह युद्धों में पराभव**—निजाम और बंगाल व अवध के दीवानों या सूबेदारों से :

क्र०	सन्	अधिकारी का नाम	भारतीय पक्ष के राजा का नाम	युद्ध स्थल	परिणाम
1.	1745	डूप्ले (फ्रेंच)	नवाब अरकाट	मद्रास	नवाब की हार
2.	1751	(क्लाइव अंग्रेज)	डूप्ले (फ्रेन्च)	कावेरी पार	क्लाइव की जीत
3.	1757	सिराजुद्दौला	क्लाइव	कलकत्ता	नवाब की विजय
4	1757	क्लाइव	सिराजुद्दौला	प्लासी	नवाब की हार और मीरजाफर का नवाब बनाया जाना। केवल 6 अंग्रेज सिपाही मारे

क्र०	सन्	अधिकारी का नाम	भारतीय पक्ष के राजा का नाम	युद्ध स्थल	परिणाम
					गये। उन्हें चौबीस परगना की जमींदारी मिली।
5.	1731	मेजरफोर्ड	काउन्ट लिली (फ्रेन्च)	उत्तरी सरकार में कान्दोर मछलोपट्टम व पांडिचेरी	अंग्रेज विजयी और उत्तरी सरकार परगना प्राप्त होना।
6.	1758	क्लाइव	डच	बुढ़ेरा	अंग्रेज विजयी
7.	1763	मीर कासिम	अंग्रेज	पटना	नवाब विजयी
8.	1764	जान एडम	मीर कासिम	कटवा, घुरिया	अंग्रेज विजयी। मीर कासिम अवध की ओर भाग गया।
9.	1765	अवध वजीर + मीर कासिम	अंग्रेज	पटना बक्सर	अंग्रेजों की विजय। बंगाल बिहार-उड़ीसा की दीवानी प्राप्त तथा शाह आलम को अंग्रेजों ने प्रतीक रूप से 30 लाख का वार्षिक कर देना स्वीकार किया।

(02) **दक्षिण के सूबेदारों से :**

10.	1780	मैसूर	हैदर अली	अंग्रेज-मनरो कान्जी व वेली वरम।	हैदर की विजय
11.				आयरकूट, पोटोनिवी	अंग्रेज विजयी

अन्त में मंगलौर की सन्धि हुई, जो हैदर अली की असामायिक मृत्यु 1783 में होने से टीपू ने की थी। टीपू हैदरअली से भिन्न था। उसने नर गाँव के देसाई का वध कराकर उसकी कन्या बलपूर्वक अपने महल में भिजवाई थी। तथा वह जबरन धर्म परिवर्तन भी कराया करता था।

12.	1797	निजाम+मराठा	टीपू	श्रीरंगपत्तम	टीपू की पराजय तथा उससे आधे राज्य का छीना जाना।

13. 1835 जन० ऐलेनवरा विलोची सेना मियांनी अंग्रेजी विजयी
सिन्ध

14. 1848 कुप्रवन्ध का बहाना देकर डलहौजी ने अवध का राज्य नवाब वजीर से ले लिया ।

(03) **मराठों का ग्यारह युद्धों में पराभव**—रुहिल्ला नजीब खाँ शाहआलम को अंग्रेजों के चंगुल से दिल्ली मराठों के तत्वावधान में निकाल लाया तो अंग्रेजों ने उसे तीस लाख का कर देना बन्द कर दिया और कोरा एवं इलाहाबाद के जिले नवाबवजीर को बेच दिये । इधर मराठों ने मुगल सेना को परास्त करके शाह आलम से यह जिले अपने लिए लिखा लिए । अंग्रेज बंगाल की ही तरह यह देखते रहे कि पेशवाई का दूसरा दावेदार मिल जावे जिसका वह पक्ष लें । राघोवा जब भतीजे नारायण राव का वध कराकर पेशवा बना तो जनता उसके प्रतिकूल थी । तो भी अंग्रेजों ने राघोवा को सैन्य सहायता का प्रस्ताव भेजा जो उसने तत्काल स्वीकार कर लिया । सन् 1775 में उसने अंग्रेजों की सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये और सालसिट, बेसिन तथा छ: और जिले प्रत्युपकार में देने की प्रतिज्ञा की ।

राघोवा को ऐसा करने का अधिकार नहीं था, क्योंकि उसे बड़ौदा में नाबालिग पेशवा की सेना ने परास्त कर दिया था । अंग्रेजों ने सालसिट पर कब्जा भी कर लिया । फलत: निम्न युद्ध क्रमश: मराठों और अंग्रेजों में हुए :—

क्र०	सन्	आक्रामक पार्टी	उसका नेता.	विरोध में	उनका नेता.	युद्धस्थल	फल
1.	1775	अंग्रेज	कैंटिग	पेशवा	माधव नारायण राव	1. आरास 2. भड़ौच	अंग्रेज पराजित विजयी अंग्रेज

(परन्तु युद्ध बाम्बे कौंसिल ने किया था । गवर्नर जनरल कलकत्ता में था । उसके प्रतिनिधि आप्टन से नाना फडनवीस ने पुरन्धर में 1777 में सन्धि कर ली थी, क्योंकि वह बोम्बे कौंसिल की कार्यवाही से क्षुब्ध था । पर इंग्लैंड ने बाम्बे कौंसिल वाली सूरत सन्धि को ही पसन्द किया । तब नाना फडनवीस ने अंग्रेजों के खिलाफ व्यूह रचना की । पर उसे भौंसले तथा गायकवाड़ ने धोखा दिया ।)

क्र०	सन्	आक्रामक पार्टी	उसका नेता.	विरोध में	उनका नेता.	युद्धस्थल	फल
2.	1778	अंग्रेज	फार्मर जो बम्बई में कमांडर था	मराठे पेशवा	महादजी सिंधिया—होल्कर	तलेगाँव बड़गाँव	मराठा विजयी
3.	1779	अंग्रेज	बंगाल से आया हुआ गोडार्ड	गुजरात	· गायकवाड़ · पेशवा	श्रीभाई ओरघाट	अंग्रेजों की विजय मराठा विजयी

4. 1780	अंग्रेज	कप्तान पोपहम तथा गोहद का राजा	सिन्धिया—	ग्वालियर-अंग्रेज विजयी

इन चार युद्धों के फलस्वरूप सालवाई की सन्धि 1783 ई० में हुई, जिसका आधार पुरन्धर का सन्धि पत्र था। इसी वर्ष हैदरअली की मृत्यु हो गई। इसके अनुसार राघोवा को गोदावरी की जागीर मिली तथा हेस्टिंग्स इस बात पर राजी हुआ कि सिंधिया दिल्ली में जो कुछ चाहे करने को स्वतन्त्र है। सिंधिया ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। शाह आलम ने उसे सेनाध्यक्ष नियुक्त करके दिल्ली और आगरा के किले भी दिये। अंग्रेजों को सालासीट व बेसिन तथा सूरत की पट्टेदारी मिली। दुर्भाग्यवश सन् 1793 में महादाजी सिन्धिया परलोकवासी हुआ था, और 1800 में नाना फडनवीस भी स्वर्गस्थ हो गये। इन्दौर के यसवन्तराव होल्कर ने पहले सिंधिया से युद्ध ठाना। हार कर दक्षिण भाग गया और पूना पर कब्जा कर लिया। पेशवा बाजीराव भागकर वसीन पहुँचा और अंग्रेजों से सन्धि कर ली और 24 लाख वार्षिक कर देकर उसने वेलेजली की 6000 अंग्रेज सेना रखने (Subsidiary Alliance) वाले वेलेजली के फार्मूले के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया। अंग्रेज़ी सेना ने बाजीराव को पुन: पूना के सिंहासन पर आसीन करा दिया। वेलेजली ने सिंधिया से भी (Subsidiary Alliance) मानने को कहा पर उसने इन्कार कर दिया। बस उससे युद्ध छिड़ गये।

5. 1802/5

अंग्रेज	(1)	आर्थर वेलेजली	सिंधिया	दौलतराव-असई - अंग्रेज विजयी
	(2)	जनरल लैक	,,	फ्रा० पेरीन-कोयल-अंग्रेज विजयी (अलीगढ़)
	(3)	लेक	,,	फ्रा० पेरीन-दिल्ली-अंग्रेज विजयी
	(4)	जन० लेक	,,	दोलत राव-बिसवाड़ी-अंग्रेज की अपार हानि पर विजयी।
	(5)	जन० लेक	,,	अनेक योद्धा - मरगाँव - अंग्रेज विजयी

सुर्जो अर्जुन गाँव की सन्धि के अनुसार सिंधिया ने भी (Subsidiary Alliance) स्वीकार कर ली। मराठों का सूर्य अस्त होना प्रारम्भ हो गया।

6. 1806	अंग्रेज	ज० मानसून	होल्कर	जसवंतराव	दर्रामुकंदर	होल्कर विजयी
7. 1806	,,	,,	,,	,,	देरा	होल्कर की पराजय
8. 1806	,,	,ज० लेक	होल्कर व जाट		सम्मिलित-भरतपुर-जाट विजयी	

9. लार्ड वेलेजली ने अरकाट तथा कुर्ग पर भी इसी बीच छोटी लड़ाइयों द्वारा कब्जा कर लिया।
10. 1816 अंग्रेज-एलफिनस्टन-पेशवा-ट्रयम्बकराव-पूना-अंग्रेजों की विजय सन्धि में पेशवा ने (Subsidiary Alliance) पुनः मान ली। इस फौज हेतु उसने चौंतीस लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार कर लिया। पर कुछ रुककर पेशवा ने फिर यह फौज वापस हटाने को कहा। ऐसा न किये जाने पर फिर युद्ध हुआ।
11. 1817 पेशवा-गोकला-अंग्रेज-स्मिथ-पूना व किर्की-अंग्रेज विजयी—इस युद्ध के फलस्वरूप पेशवा का सम्पूर्ण राज्य ले लिया गया। सितारा के पास थोड़ा-सा भू-भाग शिवाजी के वंशजों को दे दिया गया। बाजीराव पेशवा को पेन्शनर बना कर गंगा-तट पर स्थित विठूर में रखने की आज्ञा दी गई। मराठों का सूर्य अस्त हो गया।

1848 ई० में, डलहौजी के सन्तान न होने पर गोद के अधिकार से वंचित करने और लावारिस स्टेटें ले लेने के सिद्धान्तान्तर्गत, सितारा—नागपुर एवं झांसी की अवशिष्ट स्टेटें भी ले ली गईं।

15. पुनः 1849 में तंजौर एवं कर्नाटक राज्य ले लिए गये और विठूर के पेशवा की पेन्शन भी बन्द कर दी गई और राज्य शक्ति के रूप में मराठों का पूर्ण तिरोभाव हो गया।

(04.) **सिक्खों का आठ युद्धों में पराभव** : रणजीत सिंह के बाद उसका पुत्र खड्ग सिंह तदन्तर नाती नौनिहाल सिंह और उसके बाद छोटा पुत्र शेर सिंह गद्दी पर बैठे थे। यहाँ भी अंग्रेज गद्दी के एक दूसरे दावेदार की खोज में थे। उन्हें दिलीप सिंह में वही मिल गया। वह रणजीत सिंह की रखेल रानी जिन्दा का पुत्र था। सिंधिया वाले सरदारों ने शेरसिंह का सपरिवार तथा पुराने प्रधानमंत्री ध्यान सिंह का वध कर दिया। और सेना ने दूसरे दिन सारे सिंधिया वाले सरदारों का वध कर दिया और दिलीप सिंह को राजा बना दिया। सैनिक बलवान हो गये थे और जिसे चाहते प्रधानमंत्री बनाते-बिगाड़ते थे। अंग्रेजों ने अवसर आया जान सतलज के इस पार की छावनियों में विशाल फौज इकट्ठी की और युद्ध ठन गये।

युद्ध	सन्	आक्रामक पक्ष	सेनापति	विरोध में	सेनापति	युद्धस्थल	विजयी पक्ष का नाम
1.	1842	सिक्ख	लालसिंह	अंग्रेज		रुड़की	अंग्रेज
2.	1843	अंग्रेज	,,	सिक्ख	लालसिंह तेज सिंह	फिरोज पुर	स्वयं सेनापति की मक्कारी से सिक्ख हारे व अंग्रेज विजयी हुए

3.	1844 अंग्रेज	गफ	सिक्ख	नजीर सिंह	धर्मकोट व दीवाल	सिक्ख विजयी
4.	1846 अंग्रेज	गफ दिलीपसिंह	सिक्ख	तेज सिंह	सुबराव	अंग्रेज विजयी

फलस्वरूप अंग्रेजों ने दोग्राब और जालन्धर ले लिया। काशमीर गुलाब सिंह को मिला, जो उसकी गद्दारी का मूल्य था। बचे हुए सिक्ख राज्य में भी सेना और अंग्रेज रेजीडेन्ट रक्खा गया।

5.	1847 अंग्रेज	गफ	सिक्ख	शेरसिंह	रामनगर-सिक्ख विजयी
6.	1847 अंग्रेज	वैकवेल-सिक्ख		शेरसिंह	सादुल्लापुर-सिक्ख विजयी
7.	1849				चिलियाँ-सिक्ख विजयी वाला
					रसूलसिक्ख-विजयी
					अटक सिक्ख विजयी
					कालरा-अंग्रेज विजयी

यद्यपि खालसा सेना का स्वत्व नष्ट करने को यह युद्ध लड़े गये थे ताकि दिलीप सिंह की स्थिति पुष्ट हो, पर डलहौजी ने पंजाब ब्रिटिश राज्य में मिला ही लिया। दिलीप सिंह को संरक्षण में विलायत भेज दिया गया, जहाँ वह ईसाई हो गया।

8. खालसा का अन्तिम प्रयत्न कूका आन्दोलन के रूप में 1853 में गुरु रामसिंह की अध्यक्षता में संगठित हुआ। उन्होंने 1874 में अमृतसर में पच्चीस गोवधी कसाइयों की हत्या कर दी, और फाँसी के लिए अपने को प्रस्तुत कर दिया। 1875 में मैनी साहब में अंग्रेजों से युद्ध आरम्भ करने की योजना बनाई गयी कि बुधुसिंह वाला दुर्ग पर आधिपत्य करके क्रान्ति प्रारम्भ कर दी जावे। और फिर मलेरकोटला पर कब्जा किया जावे। अंग्रेज बुद्धसिंह-वाला पर अधिकार किया जाना रोक न सके। पर मलेर कोटला पर जालन्धर से फौजें पहुँच गई। तोपें चलीं। 700 कूकों में से 60 तोप से उड़ा दिये गये। शेष को गिरफ्तार कर लिया। गुरु राम सिंह को माण्डले जेल में भेज दिया गया।

(05) **अन्य युद्ध** : (1-3) गवर्नर जनरल हैस्टिंग्स के कार्यकाल में नैपाल के विरुद्ध अंग्रेजी सेना भेजी गई, क्योंकि नैपाल दरबार यदा-कदा बंगाल पर आक्रमण करता रहता था। अंग्रेज सेना पराजित होकर भाग आई। 1815 ई० में ज० आक्टर लोनी ने सतलज के मार्ग से आक्रमण किया और वह नैपाल तक जाकर लौट आया। 1816 ई० में वह पटने के मार्ग से काठमान्डू में प्रवेश कर गया। अन्त में नैपाल ने विवश होकर सन्धि की। अंग्रेजों को शिमला—मंसूरी एवं नैनीताल के जिले मिले।

(4-5) 1827 ई० में ग० ज० ऐमहर्स्ट के काल में ब्रह्मा पर युद्ध करके उससे आसाम अराकान और तनासिरम के जिले ले लिए गये। वर्मा पर दूसरा आक्रमण

ग० जन० डफरिन के समय 1885 ई० में हुआ और माण्डले विजय से वर्मा अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। वहाँ राजा को कैद करके रंगून भेज दिया गया।

(6) 1828 ई० में भरतपुर का जाटों का किला जीत लिया गया। उसके नीचे सुरंग खोदकर एक स्थान से बारूद द्वारा उसकी दीवारें उड़ा दी गई थीं। (7-9) 1835 में ग० ज० आकलेण्ड के समय में काबुल पर आक्रमण करके दोस्त मुहम्मद को कैद कर लिया गया और अपने पक्ष के शाहशुजा को 1830 ई० में अंग्रेजों ने गद्दी पर बैठाया। परन्तु दो वर्ष बाद 1840 ई० में अफगानों ने सारी 16000 सेना को भगा दिया जो मार्ग में ही मारी गयी। अगले ग० ज० ऐलेनबरा ने काबुल पर विजय पाकर सारा नगर जला डाला। पर अपने राज्य में न मिलाकर दोस्त मुहम्मद को राज्य वापस कर दिया। 1878 ई० में जब लार्ड लिटन और रिपन गव० जन० थे, अफगानिस्तान से फिर युद्ध हुआ। दोस्त मुहम्मद के मरने पर शेरअली ने रूस से साँठ-गाँठ की थी, और अंग्रेज दूत निर्वासित कर दिये थे। नये आक्रमण से शेरअली वह दूत भाग गया। याकूब खाँ ने ब्रिटिश दूत रखना स्वीकार कर लिया। पर वहाँ शीघ्र ही भी मारा गया। तब फिर आक्रमण हुआ और याकूब खाँ को कैद करके भारत लाया गया। 1880 ई० में युद्ध समाप्त हुआ।

12.01.02 प्रतिवाद रूप

अंग्रेजी राज्य के पंजे का स्थायी होना : जब 1757 ई० में प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों ने बंगाल के नवाब को हरा दिया तो भारत में उनकी राज्य स्थापना हुई। परन्तु तब तक पश्चिमी गोलार्द्ध में उनके पैर यों जम चुके थे कि अमेरिका भूखण्ड में प्राटेस्टेन्ट लोग जाकर बस गये थे इस आशा में कि कैथोलिक नागरिकों और राजाओं के जुल्म वहाँ नहीं सहने पड़ेंगे। इनमें फ्रेंच, स्पेनिश, जर्मन तथा अन्य देशों के थोड़े-थोड़े लोग भी थे। परन्तु बहुसंख्या अंग्रेजों की थी। अतः वे लोग इंग्लैण्ड को मातृदेश कहते थे और उन्हीं के आश्रित अपने को समझते थे। इधर पूर्वी गोलार्द्ध में भारतवर्ष में तो 1776 ई० आते-आते उनकी ईस्ट इंडिया कम्पनी का आधिपत्य पंजाब तक को हो गया था। कहावत यह हो चली थी कि अंग्रेज़ों का साम्राज्य इतना विस्तृत है कि हर समय किसी न किसी उनके भू-भाग पर सूर्य का प्रकाश रहता ही था। अर्थात् अंग्रेजी राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था। अंग्रेज कहा करते थे कि ईश्वर ने इस भूभाग पर राज्य करने का यह कार्य उन्हें सौंपा है ताकि वहाँ के अशिक्षित एवं अविकसित लोगों को वे सभ्य बना दें और तब उन्हें स्वशासन सौंपकर वापस लौट जायेंगे।

प्रारम्भ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रायः सदा यही कहा है कि वे भारत के मुगल शासकों के लगान वसूल करने वाले ठेकेदार हैं। दिल्ली के शासक को वे सदैव सम्राट् कहते रहे। परन्तु इंग्लैंड की सरकार अपनी इस कम्पनी की जिम्मेदारी को सुरक्षित रखने का सदैव प्रयत्न करती रहती थी। जब-जब भारत में देशी राजाओं से युद्ध होते थे, ब्रिटेन के राजा की फौज आती, हथियार साथ लाती थी और यहाँ

आकर कम्पनी सरकार की वर्दी पहन लेती थी। ब्रिटेन की सरकार प्रति बीसवें वर्ष कम्पनी को राज्य करने का चार्टर देती थी; जो कि बाद में दसवें वर्ष ही दिया जाने लगा।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी ऐसी थी कि ब्रिटेन का शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी से भारत का राज्य स्वयं हस्तान्तरित करने को उद्विग्न था। भारतवर्ष के राजा और प्रजा, सामन्त और सैनिक, एवं मौलवी और पंडितों ने मिलकर सन् 1857 में प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध लड़ा तो अंग्रेज़ों को लेने के देने पड़ गए। दयानन्द सरस्वती उस समय 32 वर्ष के युवा पुरुष थे। और गंगा एवं नर्मदा से समुद्र-तट तक के क्षेत्र में वे इस युद्ध के आयोजन हेतु घूम रहे थे। क्योंकि अन्त में इस युद्ध में भारत हार गया था, और दयानन्द को अभी बहुत कुछ करना था, अतः अपने जीवन की यह कहानी उन्होंने बलपूर्वक प्रकाश में आने से रोक दी थी। इसका वर्णन अगले समुल्लास में है।

अपनी संगठनात्मक उन्नत प्रक्रिया और वैज्ञानिक उपकरणों तथा इस देश की ढ़ीली सामाजिक शृंखला और राष्ट्रीयता के अभाव के कारण इस 1857 के युद्ध में विजय-श्री अंग्रेजों के हाथ रही। ईस्ट इंडिया कम्पनी से ब्रिटिश सरकार ने राज्य अपने हाथ में ले लिया। गदर में भाग लेने वालों और उनका साथ देने वालों का भीषण भयावह नर-संहार किया गया। और सारी राष्ट्रीय शक्तियों का हनन कर दिया गया।

परतन्त्रता की बेड़ियों को ब्रिटेन की सरकार सतत लौह रूप देती गई। 1865 में ब्रिटेन की सरकार ने एक ओर तो भारत को कुछ प्रतिनिधित्व कौंसिलों में देने का प्रस्ताव किया तो दूसरी ओर (Colonial Rule Validity Act) भी पास किया, जिसके अनुसार कौलोनी की कौंसिलों द्वारा पास किया कोई भी कानून ब्रिटिश पार्लियामेन्ट द्वारा पास किए कानून के अनुसार ही हो सकता था। तथा वहां की संसद को कौलोनी के लिए कोई भी कानून बनाने का अधिकार था। कानून में 1931 में संशोधन हुआ कि कौलोनी अपना स्वयं कानून बना सकती थी, और केवल उनकी सहमति और प्रार्थना पर ही ब्रिटेन का निर्णय उन पर बाध्य हो सकेगा। इसी संशोधन को (Dominion status) कहते हैं। पर यह अधिकार भी भारत को 1947 तक नहीं दिया गया था, जब कि अन्य श्वेत कौलोनियों पर वह तुरन्त लागू कर दिया गया था। इधर 1870 के आसपास लार्ड रिपन ने स्थानीय अदालतों तथा प्रेस को जो विस्तृत अधिकार देने चाहे थे। अंग्रेज़ों के अनुरोध पर इन्हें भी वापस ले लिया गया। इसी बीच अंग्रेजों ने भारतीयों में अंग्रेज़ी शिक्षा का चलन किया। भारतीयों के धर्म-ग्रन्थों तथा संस्कृति को हेय सिद्ध किया गया। उनको धर्मच्युत करके ईसाई बनाने का भी भीषण कुचक्र रचा गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत की सारी भाव-भंगिमा धराशाई हो गई है। राष्ट्र के कवियों ने ब्रिटिश शासन की प्रशंसा में कवितायें रचीं। क्या यह कम कुण्ठा की बात है कि 1911 के दिल्ली दरबार में

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जार्ज (पंचम) पर तत्कालीन युवराज की प्रतिष्ठा में निम्न गीत गाया था :

जन-गण-मन अधिनायक
जय है, भारत भाग्य विधाता !
पंजाब, सिन्धु, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल, बंग,
विन्ध्य, हिमाचल, यमुना, गंगा उच्छल जलधि तरंग ।।
तब शुभ नामि जागे, तब शुभ आशिस माँगे,
गाहे तब जब गाथा, जय हे भारत भाग्य विधाता ।।
पतन अभ्युदय बन्धुपन्था जुग-जुग धावित यात्री ।
ऐ, चिर सारथी, तब रथ चक्रे मुखरित पथ दिन रात्रि ।।
जय हे भारत भाग्य विधाता !

अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में साम्राज्य की यहाँ तक निष्ठा उत्पन्न हो गई थी ।

12.02 सम्वाद का आरम्भ—अंग्रेज़ी राज्य के प्रति भारतीयों का विद्रोह

12.02.01 आर्य समाज की स्थापना (1875 ई०)

सन् 1857-58 की पराजय के बाद लगभग 17 वर्ष तक भारतीय जनता का आक्रोश दबा रहा । दयानन्द सरस्वती उत्तरी भारत के सब राजपूत राजाओं के रजवाड़ों में उन्हें विद्रोह के हेतु सन्नद्ध करने गए । सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने लिखा कि चाहे कैसा भी राज्य हो, जिसकी युद्ध-विजय सारे भूगोल में व्याप्त हो गई हो, उसके नष्ट करने वाले नर-पुंगवों का प्रकट होना सम्भव है । उन्होंने विगत भूत में शिवाजी और गोविन्द सिंह जैसे उदाहरणों की ओर संकेत किया । पुनः यह कहा कि माता-पिता के समान पालन करने वाले विदेशी राजा से भी स्वदेशी राजा का राज्य अच्छा होता है । भारतीय धर्म, भारतीय संस्कार और संस्कृति का मूल श्रोत वेद से और वेद का श्रोत ईश्वर से मानकर और सिद्ध कर उन्होंने इस देश के मनोबल को सर्वतोमना ऊपर उठाया । भारतीयता निष्ठ लोगों का एक संगठन 1875 ई० में उन्होंने आर्य समाज के नाम से स्थापित किया । इसके कार्यों का उल्लेख अगले समुल्लास में करेंगे ।

12.02.02 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना (1885 ई०)

इधर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेज़ी राज्य के गुण गा रहे थे । वे उसे ईश्वर का वरदान समझते थे । वे भी एक राजनैतिक पार्टी बनाकर अंग्रेज़ों से ऊँची नौकरियों की माँग करना चाहते थे, ताकि उनके व्यक्तित्व का उन्नयन हो । क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना इटावा के रिटायर्ड कलेक्टर श्री ए० ओ० ह्यूम ने ब्रिटिश पार्लियामेण्ट तथा तत्कालीन गवर्नर जनरल की सहमति से की थी । उन्होंने उसके विधान को इंग्लैंड जाकर तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को दिखा लिया था । योरुप में रूस का प्रभाव बढ़ रहा था

और इसके प्रभाव से एक बार फिर अफगानिस्तान को बचाने के लिए 1874 ई० में अंग्रेजी सरकार द्वितीय अफगान युद्ध लड़कर हार चुकी थी। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीय अधिक सुधारों की भी माँग कर रहे थे और भारत की संस्कृति में आसक्त दल आर्य-समाज स्वराज्य की प्रशंसा में गीत गा रहा था। अंग्रेज़ों ने सोचा कि भारतीय महत्त्वाकांक्षा को प्रगट करने के लिए एक सेफटी-वाल्व चाहिए जिसमें होकर उनका जोश टाँय-टाँय फिस हो जावे। अतः अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को मद्रास में इकट्ठा किया गया। इन्हें मद्रास के गवर्नर ने चाय पर भी बुलाया। बस कांग्रेस की स्थापना हो गई। (God save the King) प्रभु हमारे राजा की रक्षा करें—के गीत से कांग्रेस के अधिवेशन प्रारम्भ होते थे और उनमें माँग की जाती थी कि आई० सी० एस० की नौकरियों में भारतीयों को भी स्थान मिले, तथा राजकीय आय का कुछ भाग प्रजा-हित पर भी खर्च किया जावे। 1907 ई० में गांधी जी दक्षिणी अफ्रीका के बौर युद्ध में ब्रिटिश फौज में भर्ती होकर ऐम्बुलेन्स का कार्य करने के लिए गए थे। 1929 ई० में जाकर कहीं पूर्ण स्वतन्त्रता का ध्येय कांग्रेस ने घोषित किया यद्यपि वह 1931 तक डोमोनियन स्टेट्स स्वीकार करने को तैयार थी जो कि तब भी नहीं दिया गया। यह अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोग इंगरेज़ी भाषा, इंगरेज़ी खान-पान, रहन-सहन, साहित्य और संस्कृति के भक्त थे और आज भी हैं। रवीन्द्रनाथ के जन-गण-मन वाले गीत का हम पहिले उल्लेख कर ही चुके हैं।

12.01.03 आतंकवादी संगठन (1906 ई०)

सन् 1885 ई० में जिस कांग्रेस दल का जन्म हुआ उसका प्रारम्भिक उद्देश्य सरकार और जनता के बीच कड़ी का काम करने के लिए था। बाद में उसका उद्देश्य भले ही स्वाधीनता-प्राप्ति हो गया था। 1892 ई० के इंडिया कौंसिल एक्ट के विरुद्ध देश-भर में व्यापक असन्तोष था। इस असन्तोष के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय नेता गर्म दल तथा नर्म दल के नाम पर दो भागों में बँट गए थे। गर्म दल के नेता श्री लोकमान्य तिलक तथा नरम दल के नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले थे। इन दोनों दलों की नीति में आकाश-पाताल का अन्तर था। यद्यपि दोनों का लक्ष्य ऊँचा था, परन्तु उपाय भिन्न थे। नरम दल संवैधानिक उपायों से इस लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहता था और गर्म दल आन्दोलनों से। क्योंकि दोनों दलों की वैधानिक नीति असफल हो चुकी थी, इसलिए हिंसक उपायों को छोड़कर और कोई मार्ग शेष नहीं रह गया था। दो घटनाओं ने इस विचारधारा को प्रोत्साहन दिया। 1903 में एशियाई देश जापान ने श्वेत देश रूस की फौजों को शिकस्त देकर श्वेतों की विजया-परिहार्यता के सिद्धान्त को चुनौती दी। और दूसरी घटना थी सन् 1906 में लार्ड कर्जन द्वारा बंग-विच्छेद। फलस्वरूप 1906 के लगभग भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में आतंकवादी विचारधारा अपनाई गई और देश-भर में तोड़-फोड़ के कार्यों का संगठन आरम्भ हो गया। क्रान्तिकारी आन्दोलन का विकास इसकी उग्रवादी विचार-

धारा के कारण 1900 के आसपास हो ही चुका था। आतंकवादी संगठन के तीन प्रधान केन्द्र थे। ये पंजाब, महाराष्ट्र तथा बंगाल में थे। बंगाल में श्री अरविन्द घोष के छोटे भाई वारिन्द्र कुमार घोष तथा स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई श्री भूपेन्द्र नाथ दत्त ने क्रान्तिकारी तत्त्वों का संगठन व निर्देशन आरम्भ किया। यही कार्य महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक के उग्रवादी विचारों के कारण चांपेकर एवं सावरकर बंधुओं और फड़के ने किया। दयानन्द सरस्वती के विदेश भेजे शिष्य श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने योरुप में सावरकर को राष्ट्रीयता के व्रत में दीक्षित किया था। पंजाब में आतंकवादी विचारधारा का प्रचार करने में आर्य समाज के कार्यकर्ता श्री लाला लाजपतराय तथा भाई परमानन्द ने बहुत कार्य किया। इन तीनों प्रान्तों में क्रान्तिकारी समितियों के संगठन बन चुके थे। इनके प्रोग्राम में बम बनाना, राजकीय धन छीनना तथा सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा सरकार बदलाना था। परन्तु साधन-हीनता के कारण भारतीय क्रान्तिवाद केवल कुछ असफल षड्यन्त्रों तथा अंग्रेज़ की हत्याओं तक ही सीमित रह गया। इसका कारण केन्द्रीय निर्देशन का अभाव ही था। आतंकवादी प्रतिक्रिया अंग्रेज़ की दमनकारी नीति के परिणामस्वरूप चली थी। उन दिनों सरकार हिन्दुओं को तंग करने की तथा मुसलमानों का बढ़ावा देने की नीति बरत रही थी। यहां तक कि अंग्रेज़ न्यायालय भी मुसलमानों की खुली तरफदारी करने लग गए थे। यह व्यवस्था असह्य हो चुकी थी। हिन्दू-मुस्लिम झगड़े व्यापक रूप से होने लगे थे। सरकार को अपनी नीति बदलने को बाध्य करने के लिए आतंकवाद को छोड़कर कोई अन्य उपाय नहीं रह गया था।

मानवेन्द्र राय प्रभृति नेता (क्रान्तिकारी) रूसी ढंग की सशस्त्र क्रान्ति लाना चाहते थे। परन्तु भारतीय परिस्थितियाँ उनके लिए रूस के समान अनुकूल नहीं थी। यहाँ क्रान्तिकारी संगठन अथवा आन्दोलन केवल गुप्त रूप से ही चलाया जा सकता था। भारत को अंग्रेज़ी सरकार ने उसे सख्ती से कुचल दिया।

1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के बाद पंजाब का कूका आन्दोलन, बीसवीं शताब्दी का प्रसिद्ध बब्बर अकाली आन्दोलन और 1925 का काकोरी केस ये कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी पग हैं जिनका स्वतन्त्रता प्राप्ति में उल्लेखनीय योगदान रहा है। हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी के मुख्य नेता चन्द्रशेखर आजाद, राम प्रसाद बिस्मिल, सरदार भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरू और बटुकेश्वर दत्त जैसे देश भक्तों ने भारतमाता की विदेशी शासन से मुक्ति के लिए जो बलिदान किए हैं, वे कभी भुलाए नहीं जा सकते हैं। इनमें से अधिकांश क्रान्तिकारी आर्य समाजी थे।

04. आज़ाद हिन्द फौज—1940 ई०

गांधी जी के साथ स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपायों पर मतभेद हो जाने के कारण नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ने बैंकांक में आजाद हिन्द सेना की स्थापना की और इसका जाल जापानाधिकृत (पूर्व-ब्रिटिश-अंचलों) में भी बिछाया, जिससे ब्रिटिश

शासन का कड़ा मुकाबिला किया जा सके। यह मानी हुई बात है कि भारतीय सेना में ब्रिटिश सेना के प्रति विद्रोह भावना की ज्वाला आजाद हिन्द सेना की गतिविधियों को देखकर ही फैली। ब्रिटिश शासन इससे काफी भयभीत हो गया था। उसे भारतीय सेना की वफादारी पर सन्देह होने लगा। स्वाधीनता प्राप्ति में अँग्रेज़ों का यह भय भी काफी सहायक सिद्ध हुआ। और भारत की नौसेना ने 1945 में जो विद्रोह किया वह इन प्रयत्नों की अन्तिम कड़ी थी।

12.01.05 अहिंसात्मक प्रतिरोध और सविनय अवज्ञा

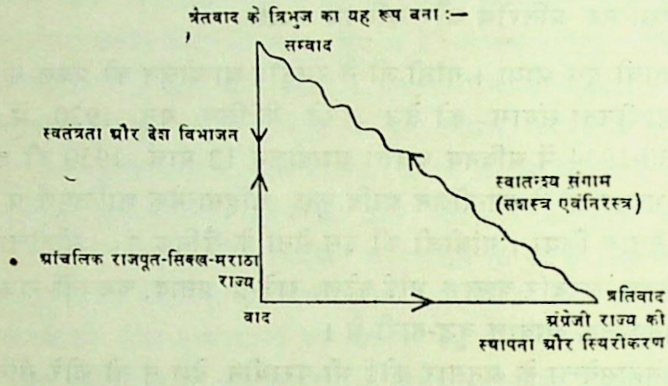
सन् 1919 में गांधी युग आया। गांधी जी ने राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रबल व गतिशील बनाने तथा स्वाधीनता संग्राम को तेज करने के लिए सन् 1920 में असहयोग आन्दोलन, 1930-1934 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन 12 मार्च 1930 की डांडी कूंच तथा 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन आदि कुछ अहिंसात्मक शान्तिपूर्ण व कुछ उग्र आन्दोलनों का नेतृत्व किया। गांधीजी की इस सेना के सैनिक पं० मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य प्रभृति अनेकानेक आवाल वृद्ध-नारी थे।

एक इतिहासवेत्ता के अनुसार कोई भी पराधीन देश न तो कोरे सैनिक बल के प्रयोग से और न केवल जन-आन्दोलनों के द्वारा ही स्वाधीन हो सकता है। यह तो दोनों शक्तियों का उचित सम्मिश्रण ही है जो किसी देश को स्वाधीनता दिला सकता है। भारत के विषय में भी यही बात शत-प्रतिशत सिद्ध हुई है, क्योंकि इस देश को स्वाधीन कराने में इन सब तत्त्वों ने महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा किया है। यदि जन-शक्ति को तैयार करने का श्रेय दयानन्द सरस्वती को तथा संगठित करने का श्रेय गांधीजी को प्राप्त है तो निश्चय ही अंग्रेजों के विरुद्ध सैनिक बल प्रयोग करने का श्रेय क्रान्तिकारियों को मिलना चाहिए। यह ठीक है कि गांधी जी ने अहिंसात्मक आन्दोलनों के द्वारा लोगों को सरकार के विरुद्ध करके देश के भीतर ब्रिटिश-सत्ता की स्थिति को काफी कमज़ोर कर दिया था। परन्तु फिर भी इससे स्वतन्त्रता प्राप्त होने की कोई आशा न थी। जब तक भारतीय सेना अंग्रेजों के पक्ष में थी तब तक भारत से विदेशी शासन समाप्त नहीं हो सकता था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब पुलिस की हड़तालों व सैनिक विद्रोहों का क्रम बढ़ने लगा तो उसी अवस्था में ब्रिटिश सरकार को भारत से चले जाने का निश्चय करना पड़ा। वह कांग्रेस को सत्ता सौंपकर 1947 में भारत से विदा हो गई।

12.03 सम्वाद का समापन, विभाजन और स्वतन्त्रता

इस प्रकार राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय संस्कृति के जिस अभाव में 1857 के स्वातन्त्र्य-युद्ध को विफल किया था उसी अभाव ने 1946-57 में गृह युद्ध का वह दृश्य उपस्थित किया कि अंग्रेज-शासन और फौज की विद्यमानता में कोई 10 लाख हिन्दू और

मुसलमान मारे गए । एक करोड़ लोग बेघरवार हुए और कोई 200 अरब रुपये की सम्पत्ति का विनाश हुआ। रक्त-रंजित इस परिप्रेक्ष्य में भारत विभाजित हो गया। भारत का चौथाई क्षेत्रफल और आबादी का आठवाँ अंश अब पृथक् पाकिस्तान में है। पाकिस्तान से 1947-72 के 24 वर्षों के बीच चार भीषण युद्ध लड़े जा चुके हैं। न जाने कितने और लड़ने पड़ेंगे । इस प्रकार त्रैतवाद के त्रिभुज का यह रूप बना :—



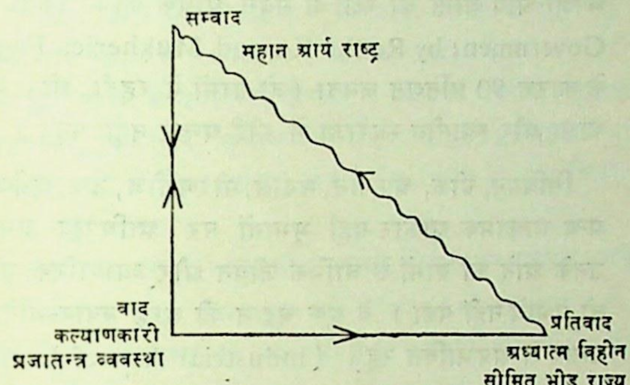
12.04 स्वतन्त्र-भारत का उपलब्धियाँ

अब 1974-75 में जब यह शोध लिखी जा रही है, भारत को स्वतन्त्र हुए 27 वर्ष हो गए हैं। इस बीच देश को अनेकानेक उपलब्धियाँ हैं :—

1. देश में लगभग एक सुस्थिर तथा व्यापक केन्द्रीय शासन की स्थापना हुई है ।
2. प्रजातन्त्र पद्धति में प्रजा की श्रद्धा दृढ़तर हुई है ।
3. लोगों में अच्छा जीवन रहने की महत्त्वाकांक्षा का सृजन हुआ है ।
4. देश में विज्ञान कला की उन्नति तथा प्रकृति का दोहन करके अधिकतम भोग्य पदार्थ प्राप्त करते रहने की योजनाएँ बनी हैं तथा उनमें भरपूर सफलता मिली है ।
5. युग-युग की ग़रीबी का उन्मूलन होना प्रारम्भ हो गया है ।
6. सेना का ध्रुवीकरण हुआ है । जिसके बल पर पाकिस्तान के 3 आक्रमण विफल किए जा सके हैं और पाकिस्तान को खंडित करके उसके विरोध में पूर्वी बंगाल के स्वतन्त्र मैत्रीपूर्ण राष्ट्र का गठन हुआ है । पर यह मैत्री संदेहहास्य है ।
7. सामाजिक सेवाओं यथा शिक्षा, चिकित्सा, अपंग-सहायता, नारी-उत्थान आदि को अभूतपूर्व गति मिली है ।
8. किसान की ऋणता समाप्त करके उसकी उपज के दाम बढ़ाकर उसे प्रसन्न रखा गया है ।
9. पिछड़े वर्ग तथा तथाकथित अछूत एवं जनजातियों का कल्याण हुआ है तथा अधिकाधिक उत्थान अभिप्रेत है।

10. अल्पसंख्यकों यथा मुसलमान, ईसाई आदि के साथ अत्यधिक उदारता का बर्ताव किया गया है और उनकी शिक्षा एवं संस्कृति को अभूतपूर्व संरक्षण मिला है जो विश्व के किसी देश में कभी अल्पमतों को नहीं मिला है।
11. संप्रदायों के प्रति विरक्ति पैदा करके संप्रदाय-निरपेक्ष दृष्टिकोण का फैलाव हुआ है जो ऐच्छिक विषयों में नितान्त आवश्यक है।

स्वराज्य से सुराज्य लाने की ओर किए गए प्रयत्नों के यह परिणाम हैं। हमारे अगले राजनैतिक त्रैतवाद का त्रिभुजीय प्रस्तुतीकरण इस प्रकार होगा :—



12.05 पराधीनता के साढ़े सात सौ वर्षों में अस्तित्व बनाए रखना :

सन् 1193 में दिल्ली-पति-चौहान मुहम्मद गौरी से पराजित हुये थे। 1206 ई० में गौरी के गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत पर राज्य स्थापित किया था। सन् 1206 से 1947 तक 741 वर्ष होते हैं, जिनमें परकीय राजाओं ने इस देश को अपने आधीन रखा। साढ़े सात सौ वर्ष के शासन पर लगातार इस देशवासियों को छल-बल तथा लोभ-लालच से विधर्मी बनाने हेतु सभी कुछ विदेशी शासकों ने किया। पर 1941 की जनगणना में हिन्दुओं का अनुपात यहां की जनसंख्या में 72 प्रतिशत था। हिन्दू कैसे बने रहे ? उनकी संस्कृति और संस्थायें क्योंकर जीवित बनी रहीं ? विश्व के किसी अन्य भूभाग में ऐसा करिश्मा नहीं हुआ। इस्लामी और क्रिस्तानी दोनों शक्तियों ने जहाँ कहीं पैर जमाए, वहाँ की संस्कृति नष्ट कर दी; खान-पान, पहिराव-संस्थान एवं चिन्तन और पूजा पद्धति सभी बदल दिए। इस्लामी उत्कर्ष के कवि अल्ताफ हुसेन ने कहा है कि—

वो दीने हजाजी का बापाक बेड़ा, किए पार जिसने सातों समन्दर।
न सेहूँ—में अटका, न कुलजम में भटका, हुआ वस्ल जिसके न कोई खटका।
वह आकर मुहाने में गंगा के लटका॥

अन्वेषण करने पर पता लगता है कि इस शोध में वर्णित-वेद द्वारा प्रतिपादित अष्ट-चक्रा-नवद्वारा, पद्धति ने ही उनका संरक्षण किया है ।

1. इस देश की जनता ने पेशा, वर्ण तथा जन्म-स्थान के आधार पर स्थानीय संगठन बना रखे थे और उनमें अपने को तन्मय कर लिया था ।

(अ) ग्रामों की सभाओं के बलशाली संगठन ऐसे थे कि एक वंश के बाद दूसरे वंश केन्द्रीय सत्ता पर आरूढ़ होते रहे, पर ग्राम-पंचायतों के कारण आन्तरिक जीवन-धारा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । टैक्स देकर वे आन्तरिक सुरक्षा और यहाँ तक कि जजिया कर देकर अपनी जीवन पद्धति को सुरक्षित रखते रहे । इन ग्राम पंचायतों ने अन्य बातों की अपेक्षा आर्य जाति की रक्षा में सबसे अधिक कार्य किया । (Local Government by Radha Kumud Mukherjea Page-3)। इन्हीं के कारण 90 प्रतिशत जनता (जो ग्रामों में रहती थी) की महत्त्वा-कांक्षा और स्थानीय स्वराज्य में कोई अन्तर नहीं पड़ा ।

सिथियन, ग्रीक, अफगान, मंगोल, पौरचुगोज, डच, अंग्रेज, फ्रैन्च और अन्य आक्रामक आकार यहाँ भूभागों पर आधिपत्य जमाते रहे, पर उनके आने का ग्रामों के धार्मिक जीवन और व्यापारिक संघों पर कोई तो प्रभाव नहीं पड़ा । वे एक चट्टान की तरह ज्वार-भाटे के चढ़ाव-उतार से अप्रभावित रहे । (Industrial Arts cf India by Sir George Berdwood Page-320)

(ब) व्यापारिक संघों को जन्म-जात करार देकर जातियाँ बना ली गईं और उन्हीं में विवाहादि सम्बन्धों को सीमित कर दिया गया । वंशानु-क्रक से इस प्रकार सारी कला और विज्ञान को नष्ट होने से बचा लिया गया । पिता पुत्र को हर फार्मूला बता जाता था । उसके जातीय संस्थान उनमें नैतिक अनुशासन कायम रखते थे । फल यह हुआ कि विदेशी नागरिक और उनके खेमे में सम्मिलित लोग देश के आर्थिक संचालन से, जाति-प्रथा ने बल-पूर्वक दूर रखे और वे श्रम-जन्य कार्यों पर ही लगाए रखे गए । देश की श्री और समृद्धि उन तक नहीं जाने दी गई, क्योंकि वे नये विदेशी शासकों के एजेन्ट मात्र थे । उन्हें दण्ड-स्वरूप देशीय चिन्तन और संगठन की अजस्र धारा से निष्कासित कर दिया गया । फलतः थोड़े से अपवादों के अतिरिक्त हम उन्हें इस देश में आर्थिक रूप से पिछड़ा ही पाते हैं ।

2. ईश्वर भक्ति और ईश्वरार्पण के गहन प्रचार के कारण जनता का स्वाभिमान बनाए रखा गया कि हमारा वास्तविक स्वामी ईश्वर है । मात्र उसी के हम दास हैं । अन्य पार्थिव राजा तो अनाधिकारी (usurpers) मात्र हैं । और

ईश्वर से अपेक्षा थी कि समय-समय पर अवश्यत्राता और उद्धारकर्ता भेजेगा।

3. उन्होंने अपनी शक्ति प्राकृतिक, मानसिक, आचारिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर केन्द्रित कर दी। उनकी संस्कृति इस पूरे परतन्त्रताकाल में उन्नति करती रही। उत्तर में काश्मीर में 1200 ई० में पूर्ण सोमदेव, क्षेमेन्द्र और विल्हण हुए। दक्षिण में रामानुज और माधवाचार्य 1150 ई० में इसी परतन्त्रता के काल में हुए। सन् 1325 में विद्यापति ने महाभारत का बंगला अनुवाद कराया। 1520 में वल्लभ और 1486 ई० में चैतन्य महाप्रभु प्रगट हुए। तैमूर के आक्रमण के समय बंगाल में कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति पर टीका लिखी।

 सन् 1469 में सिक्खों के गुरु नानक, 1546 में दादू एवं गुरु तुकाराम 16वीं और समर्थ गुरु रामदास 17वीं शताब्दी में हुए। 19वीं शताब्दी में राममोहन राय व दयानन्द, बीसवीं में तिलक, गोखले, लाजपतराय, गांधी, विवेकानन्द, सावरकर, सुभाष-बोस और जवाहरलाल नेहरू प्रभृति ने इस देश की आत्मा को जीवित रक्खा। खेद है कि 1947 के बाद किसी क्षेत्र में कोई दिग्गज नहीं दीखता।

4. संस्कृत अथवा उस परिवार की भाषाओं को अक्षुण्ण रखकर उसमें अपनी गाथा तथा प्रेरणा के श्रोत और महापुरुषों के जीवन को सुरक्षित रखा गया। उसमें थोड़ी सी ही मिलावट की जा सकी है। साहित्य ही किसी देश की आत्मा होती है।

5. राष्ट्रीयता को धार्मिक पर्व-प्रक्रिया का रूप दे दिया गया। नदी, पर्वत, कंदरा, और तीर्थ पवित्र घोषित कर दिये गए। विशाल जन-समूह इस मिट्टी के प्रति निष्ठावान बना रहा।

 यह पाँच योजनायें हमारे हमारे पुरखे स्वतन्त्रता के युग में बना गए थे, जिन्होंने हमारे स्वत्व को बनाए रखा है।

02. 06 स्वतन्त्र भारत की शेष समस्याएँ :

एक ओर सीमित उपलब्धियाँ हैं पर समस्याएं भी संख्या में उनसे अधिक हैं। एक स्वस्थ और बलवान तथा सन्तुष्ट राष्ट्र के रूप में इस देश के सुसंगठित होने में कुछ मूलभूत कमियाँ हैं जो इस समय के शासकों की नीति और चिन्तन का स्वाभाविक परिणाम है। उनको स्पष्ट करना आवश्यक है।

(1) आज मनुष्यों में भौतिक पदार्थों की प्राप्ति की उत्कट अभिव्यंजना पैदा की गई है। मनुष्यों को नैतिक और चारित्रिक शिक्षा नहीं दी गई है। अतः मनुष्यों में येन-केन-प्रकारेण अधिक भोग प्राप्त करने की होड़ लगी हुई है। उनमें से परोक्ष का भय जाता रहा है और लगभग प्रत्येक पेशे में लगी जनता, कृषक, व्यापारी, राज्य-कर्मचारी, नेता, मजदूर और

धर्म-संस्थान सब ही चरित्रहीन एवं बेईमान हो गए हैं । सब एक दूसरे की जेब काटने को सनद्ध है । हम वाम-मार्ग की ओर अभिमुख हैं ।

(2) राष्ट्र-प्रेम की भावना, जो उक्त बुराइयों को दबा सकती थी, उत्पन्न नहीं हुई है । भारत की कुछ जनता इस देश के प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा, श्रद्धालु नहीं है । उनकी डोर पाकिस्तान, अमेरिका, रूस या चीन की ओर लगी रहती है । इस देश की भाव-भंगिमा, चिन्तन दर्शन और संस्कृति से उन्हें कोई लगाव नहीं है । कुछ ऐसे वर्ग भी पैदा हो गए हैं जो भारत राष्ट्र से पृथक् होने की ही बात सोचते रहते हैं, जैसे मद्रास प्रान्तान्तर्गत द्रमुक खडगम ।

(3) हमारी कोई राष्ट्रीय फिलासफी या अर्थ नीति नहीं है । जो मान्यताएं विदेशियों ने आजमा कर निरस्त कर दी हैं हम उसे सुस्वादु समझ कर पुनः चाट रहे हैं । हम कोरे वाम-पक्षी हुए जा रहे हैं ।

(4) हमारी कुछ राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीतियाँ यह हिसाब लगा कर बनाई जाती हैं कि उनका देशस्थ वोटरों की रुझान पर क्या प्रभाव पड़ेगा । इसराइल से दुश्मनी तथा वेटिकन से दोस्ती का और कोई कारण नहीं है ।

(5) हम अल्पमतों को राष्ट्रीयता में आतमसात नहीं कर सके, उल्टे नए-नए कट्टर अल्पमत मना कर तैयार कर दिए हैं यथा हरिजन, गिरिजन तथा पिछड़े-वर्ग आदि जो सबकी उन्नति में अपनी उन्नति नहीं समझते ।

(6) भारत राष्ट्र की सीमित और संकुचित सीमाओं से हम सन्तुष्ट (Reconciled) हो गये हैं । राजनीतिज्ञ कृष्ण और कवि व्यास द्वारा प्रस्तुत महाभारत की निश्चित नीति से हम दूर जा पड़े हैं । हमारे देश की सीमायें अस्वाभाविक तथा बहु व्यय-साध्य हैं, जिन पर राष्ट्रीय आय का आधा से अधिक धन सुरक्षा की तैयारी में ही व्यय हो जाता है रुक-रुक कर हर पाँचवें वर्ष हमें जन-धन की होली खेलनी होती है ।

(7) हम मंडल-सिद्धांत की मुख्य बातों की उपेक्षा करके पड़ोसियों को मित्र बना सकने की क्षमता और सम्भावना में विश्वास करते रहे हैं; जबकि उन्हें सदा शंका की दृष्टि से देख कर संभावित शत्रु समझना चाहिए । और इस विषय में हम इतिहास से सबक नहीं सीखना चाहते है ।

(8) कर्म-फल-व्यवस्था को बालाए ताक रखकर, हम सभी में योग्य पदार्थ बलात् समान बांटने की मृग-मरीचिका में फंस कर अन्य सब आवश्यक कार्यों को आगे को टालते जा रहे हैं । इस अप्राकृतिक उद्देश्य को पूरा करने में सहस्त्रों वर्ष लग सकते हैं, और इस बीच हमारे स्वातन्त्रय का हनन भी हो सकता है ।

(9) राष्ट्र की एक कानून-व्यवस्था एक संस्कृति और एक भाषा बनाए बिना

ही केवल आर्थिक प्रलोभनों के आधार पर ही हम एक राष्ट्र बनाने का स्वप्न देख रहे हैं।

(10) प्रजातन्त्रीय-नास्तिक-वाद तथा धर्म-निरपेक्षता आदि के लोभ में आकर ईश्वर, ईश्वरीय ज्ञान, और ईश्वरीय न्याय आदि को धता-बताकर हमने बहुत बड़ा पाप किया है।

(11) परमाणु आयुध एवं राकेट प्रभृत अस्त्र-शस्त्र न बना कर केवल बड़े राष्ट्रों की सहायता का आसरा रखकर हमें भीरु और पराश्रयी बना कर हमारी आधी स्वतन्त्रता तो मानो समाप्त कर ही दी गई है।

(12) सब वर्गों में सहयोग के महालक्ष्य को ठुकरा कर हमने कुछ वर्गों को संरक्षण दिया है। कृषकों को सब कर भार से मुक्त कर दिया है और सारा भार नगर-निवासियों पर डाल दिया है। हमने कुछ वर्गों को क्रूर और बेईमान घोषित कर दिया है। कुछ वर्गों को करोड़ों अरबों रुपये यों ही बाँट दिए हैं जिससे अर्थ-व्यवस्था लड़खड़ा गई है। राज्य को सब वर्गों के साथ न्याय करना चाहिए, क्योंकि सब ही ईश्वर तथा मातृभूमि के पुत्र हैं; और उसके प्रति निष्ठावान हैं।

(13) बुद्धिमान और त्यागी लोगों को राजतन्त्र से निकाल कर उनके स्थान पर अर्ध-शिक्षित लोगों को हमारे विधान ने राज्यतन्त्र का सृष्टा और संचालक बना दिया है, जिससे शासन में मूर्खता, अन्धाधुन्धी, दूर तक देखने की शक्ति का ह्रास तथा अनियमिताए आ गई हैं।

(14) न्याय-पालिका को उसके आसन से गिराने का हमने इन पूरे पच्चीसों वर्ष अनथक प्रयास किया है।

(15) शासन को पूर्णतया केन्द्री भूत करके ग्राम-सभाओं, विशेषतया नगर निगमों आदि को कोई शक्ति साधन नहीं दिया है।

(16) राज्य को सब शक्तियों का केन्द्र मानकर अन्य संस्थाओं को नष्ट कर दिया है, और बहुलवादी-समाज नहीं बनने दिया है।

(17) नीतियों की अपेक्षा अवतारवादी परम्परा के वशीभूत व्यक्तियों में श्रद्धा और निष्ठा पैदा करके राष्ट्र का बौद्धिक विकास रोक दिया है।

(18) इस देश की संस्कृति और दर्शन के विश्व-व्यापी प्रचार और प्रसार की परम्परा को अवरुद्ध कर दिया है।

(19) जो साम्प्रदायिक अन्धविश्वास और असम्भव पौराणिक गाथाओं (Mythology) में आस्था युगों-युगों से यहाँ चली आती थी, धर्म-निरपेक्षता के नारे के वशीभूत हमने उसे समुदायों में अक्षुण्ण छोड़ दिया है और उनमें सड़ान्ध आने लगी है, पर उनके उन्मूलन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।

(20) विदेशी तत्त्वों को नागरिक जैसे अधिकार देकर उन्हें धन-बाँटने के प्रलोभन द्वारा धर्म-परिवर्तन करने के अधिकार सुस्थिर कर दिए हैं ।

(21) प्रत्येक नागरिक को कार्य न दे सकने के कारण देश में भयंकर बेरोजगारी का दानव खड़ा है । निठल्ला प्राणी शैतान का घर होता है । इन रोगों का आज अस्तित्व देखकर, उस अद्‌भुत प्रथम निदान की बरबस याद आती है जो दयानन्द सरस्वती ने पिछली शताब्दी में स्वातन्त्रय-प्राप्ति और स्वातन्त्रय सुस्थिरत्व हेतु प्रस्तुत किया था । तीन बार विन्ध्य-हिमालय के क्षेत्र में प्रदशिणा करके राजा, रजवाड़ों, जनता और जनता के धार्मिक और क्षेत्रीय नेताओं से सम्पर्क करके भारत माता के इस पुत्र ने इंगरेजी शिक्षा में दीक्षित न होते हुए भी 'आर्य समाज का महा-निदान' प्रस्तुत किया था । पाठकों की सेवा में उसके रखने के पूर्व स्वयं उसके प्रस्तुतकर्ता का संक्षिप्त जीवन वृतान्त और योग-क्षेम रखना आवश्यक है । इन दोनों की विशद चर्चा हेतु अगला समुल्लास समर्पित करना परमावश्यक है ।

13

दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज

13.01 वैदिक आर्ष दर्शन के पुनः प्रस्तोता-दयानन्द सरस्वती (1825-1883)

जन्म—भारत के गुजरात प्रान्त में मोरवी राज्य के टंकरा नाम के छोटे से गाँव में। करषनजी लालजी त्रिवेदी नामक सद्गृहस्थ के घर में इनका जन्म 12 फरवरी सन् 1825 ई० (सम्वत् 1881) में हुआ।

बाईस वर्ष की आयु में विवाह की तैयारियाँ शुरू हुई तो मूल शंकर एक दिन शाम को पूर्ण वैराग्यवान होकर और फिर लौटकर घर न आने का संकल्प कर स्नेह, स्मृति, वात्सल्य सभी कुछ त्यागकर अमर जीवन की तलाश में 1847 में घर से निकल गये। सिद्धपुर स्थित बाघेरों के शिव मन्दिर में एक ब्रह्मचारी ने उन्हें नैष्टिक ब्रह्मचारी बनने की प्रेरणा दी।

पवित्र नर्मदा के स्रोत अमर कन्टक पर्वत पर स्वामी शंकराचार्य ने भी संन्यास लिया था। 1849 में वहीं शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारी ने भी विधिवत संन्यास लेने का संकल्प किया। संन्यासाश्रम में दीक्षित करनेवाले दक्षिणात्य साधु पूर्णानन्द ने ही उन्हें दयानन्द सरस्वती नाम नर्मदा स्थित प्रसिद्ध तीर्थ चार्णादिक कर्णाली में दिया था।

(1) **प्रथम देशाटन-आबू से हरिद्वार तक** (1849-55) : कर्णाली से व्यासाश्रम एवं छिन्नाड़ा होते हुए वे अहमदाबाद लौटे और फिर आबू पर्वत पर तपस्या तथा योग सिद्धि-हेतु चले गये। आबू पर्वत पर उस स्थान पर रहे जो वाघेरादि क्षत्रियों का उद्गम स्थान है। वहाँ पूर्व में विशाल शुद्धि यज्ञ होकर मिश्रादि देशीय जातियों को चौहानादि क्षत्रिय की संज्ञा दी गई थी। आबू से पुष्कर, अजमेर, मारवाड़, जयपुर, दिल्ली, मेरठ होते हुए वे हरिद्वार के कुम्भ के मेले में शामिल होने 1855 में पहुँचे थे। यह वह समय था जब सारा उत्तरी भारत खून से खौल रहा था। डलहौजी ने पंजाब पर कब्जा कर लिया था। विजित रियासतों में से जो पुत्र-हीन थी, उन्हें अपने राज्य में मिला लिया था। उसने गोद लेने के अधिकार को नहीं माना था। जगह-जगह मिशन स्थापित करके लोगों को ईसाई बनाने का अभियान प्रारम्भ कर दिया था। फौज में एक ऐसा कारतूस दिया

गया था जिसमें गाय और सुअर की चर्बी लगी हुई थी, और जिसे चलाने के लिए पहिले दाँत से काटना पड़ता था। स्वनिर्मित जीवन चरित्र में (जो पं० दीनबन्धु उपाध्याय ने कलकत्ता में महर्षि के समवर्ती बंगाली महाशयों के घरों से सामग्री इकट्ठी करके संकलित किया और जिसे अब स्वामी सच्चिदानन्द योगी ने 1972 ई० में नारायण आश्रम नैनीताल से प्रकाशित किया है।) पृष्ठ 180 के बाद जो वर्णन दिये हैं, उनसे तत्कालीन स्थिति का बोध होता है। दयानन्द सरस्वती का यह नवीनतम प्रकाशित आत्म चरित्र है। उसी से उद्धरण देते हैं:—

अजमेर के अनुभव—रास्ते में मन्दिरों में, बाजारों में, दुकानों में, नहाने के घाटों में और अतिथि-शालाओं में अर्थात् सर्वत्र स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए आन्दोलन और आलोचना व्यापक रूप से चल रही थी।

सभी जगह चर्चा थी कि विदेशी राहु के ग्रास से स्वदेश की रक्षा करनी चाहिए। मारवाड़, अजमेर आने से पहले मारवाड़ में भी अनुभव मिला था कि जनता स्वधर्म और स्वदेश की रक्षा हेतु किसी शक्तिशाली और धार्मिक राजा को ढूंढ़ रही थी। उपयुक्त नेता और संचालक मिलने से युद्ध करने के लिए भी तैयार थी।

(पृष्ठ 181) जयपुर से दिल्ली—

मालूम हुआ है कि दिल्ली नगर महासमाधि में निमग्न है। दिल्ली में भी रास्ते में, बाजारों में, दुकानों में, पथचरी यात्रियों में, साधु संन्यासियों में तथा राज कर्मचारियों में, मुख्य रूप से यही चर्चा थी कि अब सहन करना कठिन है। अब तो जीवन को बाजी में रखकर भी स्वदेश और स्वधर्म का उद्धार करना ही चाहिए।

यहाँ एक लड़के ने व्यग्य में कहा कि देखो देश दुखी है और यह साधु लोग केवल पेट पूजा ही में व्यस्त हैं। देश और धर्म की रक्षा के लिए कुछ नहीं करेंगे। अन्य साधु तो वृद्ध हुए, पर इसने मेरी आँख खोल दी। मुझे वह देवदूत लगा।

पता चलने पर ज्ञात हुआ कि लगभग 34 वर्ष पूर्व इस लड़के के पितामह योद्धा दयाराम हाथरस के जमींदार थे और हाथरस के किले की रक्षा के समय लार्ड हेस्टिंग्स के अविराम बम्बवर्षण के सम्मुख युद्ध करके वीरगति को प्राप्त हुए थे। (प्रसिद्ध क्रान्तिकारी राजा महेन्द्र प्रताप इन्हीं दयाराम के वंशज हैं—लेखक)

(पृष्ठ 183) मैं लाल किले के सम्मुख बैठा था। एक साधु आया और कहा कि जाओ हरिद्वार में शुद्ध हो आओ। पर देश को राहु और केतु ने ग्रसा हुआ है। उसकी रक्षा का व्रत लो।

इस साधु से एकान्त में मेरी बहुत समय तक बात हुई थी। आगे ज्ञात हुआ कि वह एक मराठी पंडित साधुवेश में था। यह भी बताया कि कोई एक सौ पंडित इसी क्षेत्र में घूम रहे हैं।

(पृ० 185)—एक दक्षिणी भारतीय साधु से बैंलोर विद्रोह का मर्मान्तिक वृत्तान्त और उसे दबाने की प्रतिशोधात्मक कार्यवाही मुझे ज्ञात हुई।

(पृष्ठ 186) बंगाली साधु द्वारा बीस वर्ष पूर्व घटी बारिकपुर की घटना का

वर्णन मिला जहाँ आँग्लों की गोली से देशी सैनिक भूने गये थे।

(पृ० 187) आबू से हरिद्वार तक पैदल आने पर मैंने देखा कि सब आबाल-वृद्ध प्लासी युद्ध की पराजय का बदला लेने को उत्सुक हैं। सभी जगह गुप्त समितियाँ स्थापित हो गई हैं। क्रान्तिकारी लोगों में आपस में सांकेतिक और गुप्त भाषाओं का प्रयोग होता था।

(मूल पृ० 189 तथा प्रस्तावना पृष्ठ 109 से 113)—

हरिद्वार में नील पर्वत पर ठहरा। एक दिन पाँच आगन्तुक मेरी कुटी के सामने आकर खड़े हो गए। यह थे द्वितीय बाजी राव पेशवा के दत्तक-पुत्र धुन्धु पन्त (नाना साहब), द्वितीय थे उनके बन्धु अजीमुल्ला खाँ, तृतीय थे उनके भाई बाला साहब, चतुर्थ थे, ताँत्याटोपे और पंचम थे जगदीशपुर के जभींदार कुँवर सिंह। नाना के प्रश्न के उत्तर में मैंने कहा कि किसी विदेशी राजा को किसी विदेश पर हकूमत चलाने का हक नहीं है। भारत असभ्य देश नहीं है। अंग्रेज भारतीय से ज्यादा सुसभ्य नहीं है। इनके राज्य को सहन करना अधिक महा पाप है। बाला जी के दूसरे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि रजवाड़ों की अनैक्यता और हमारा आत्म-विरोध ही हमारी हुई दुर्दशा का कारण है। तात्याँ टोपे, अजीमुल्ला, कुंवर सिंह के प्रश्नों का भी उत्तर दिया था। और कहा कि युद्ध 100 वर्ष तक चल सकता है।

(पृष्ठ 195) में इन लाखों साधुओं को संगठित करूँगा। शेष जनता को तुम संगठित करो। सामरिक जनता में प्रचार के लिए कमल-पुष्प और असामरिक जनता में प्रचार के लिए चपातियों का व्यवहार होता है। पर विद्रोह की कोई तिथि निश्चित कर देनी चाहिए। नाना ने मुझे बिठूर आने का निमन्त्रण दिया जो मैंने स्वीकार कर लिया।

(पृ० 200)—चारों मठों के साधुओं ने हमारे संगठन को जगतमिथ्या कहकर टाल दिया। (पृ० 201)—वैष्णव सम्प्रदाय के साधुओं ने भी दूसरे ढंग की भाषा का प्रयोग करके मुझको निराश कर दिया। उन्होंने कहा श्री भगवान के स्थान में देश-समाज-राष्ट्र की सेवा करना महापाप है।

(पृ० 205)—दो-एक रोज के बाद ही झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और उनकी सहधरी रानी गंगाबाई ने तीन कर्मचारियों के साथ आकर प्रणिपात किया। रानी ने श्वसुर कुल का राज्य न देने की बात कही और युद्ध के लिए आशीर्वाद माँगा। मैंने कहा स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए जो अपने अस्थाई शरीर को देते हैं, वे कभी नहीं मरते। हम भगवान से आपके लिए शुभ और कल्याण की कामना करते हैं। उन्होंने एक हजार रुपया मेरे सम्मुख रख कर सम्मान दिखाया।

(पृ० 209)—नाना साहब और नये अपरिचित सज्जन सात-आठ रोज के बाद फिर हमसे मिलने आये। मैंने राजा गोबिन्द नाथ राय तथा रानी लक्ष्मीबाई के दिए सब रुपए उन्हें दे दिये। उन्होंने स्वातन्त्र्य युद्ध के लिए आशिर्वाद माँगा। मैंने आशीर्वाद दिया और उपदेश भी।

(पृ० 208) साधु लोग आते रहें और मैं स्वदेश रक्षा के लिए उन्हें तैयार करता रहा। साधु लोगों ने कहा कि करीब ढाई सौ साधुओं के नामों की तालिका बनाई है। यह स्वदेश रक्षा के लिए तैयार हैं। मैंने कहा 'सैन्यावासों की ओर सब दिशाओं में फैल जाओ। कमलपुष्प और चपाती का फैलाना आवश्यक है। मैंने इंगित मात्र में कहा कि उत्तर भारत में मेरठ की तरफ, पूर्व भारत में बारीकपुर की तरफ और दक्षिण भारत में बैंलोर की तरफ जाना। और दिल्ली के योग-माया मंदिर के पुरोहित त्रिशूल बाबा से सम्पर्क रखियेगा। वहाँ से नियमित समाचार मिलेगा और आप लोगों के समाचार हमें वहाँ से मिलने चाहिए।' हरिद्वार से फिर वे ऋषिकेश तथा टिहरी-गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर गये। वह से यात्रा यों हुई :—

केदारघाट – रुद्रप्रयाग-शिवपुरी, गुप्तकाशी-गौरीकुन्ड, भीमगुफा-त्रियुगी नारायण - गंगनाथ - ओखी मठ-बद्रीनारायण-वसुधारा-रामपुर (श्रीनगर के पास) काशीपुर।

थ्योसेफिस्ट पत्र में भी स्वामी जी महाराज के यत्र-तत्र वर्णित स्थलों के आधार पर उनका निम्न स्थानों पर निम्नतिथियों का होना लिखा है :—

द्रोण सागर काशीपुर=नवम्बर-दिसम्बर 1856

सम्भल-मुरादाबाद=जनवरी, फरवरी 1857

गढ़मुक्तेश्वर=मार्च 1857

"मैं कानपुर में कैन्टोनमैन्ट वाली सड़क से होकर प्रविष्ट हुआ।

कानपुर और इलाहाबाद के बीच इन पाँच महीनों में रहा।"

मिर्जापुर—मई, जून, जोलाई सन् 1857।

विन्ध्याचल—सितम्बर 1857

बनारस, अक्टूबर 57

चाण्डालगढ़=10 दिन

बनारस=मध्य नवम्बर 1857

तदनन्तर नर्मदा प्रान्त की ओर चला गया।

(उक्त इतिहास की भूमिका में पृष्ठ 102)

अब इन तिथियों का मिलान गदर की तिथियों से करें तो सिद्ध होगा कि जिस नगर में 1857 का विद्रोह-युद्ध हुआ स्वामी जी वहाँ उपस्थित थे। गदर के घटना चक्र की तिथियाँ यों थी :—

21 मार्च को सार्जेन्ट ह्यु मन को मंगल पाण्डे ने गोली मारकर निश्चित तिथि 31 मई से पहले ही (Premature) युद्ध छेड़ दिया।

10 मई को मेरठ में विद्रोह प्रारम्भ हुआ, जो गढ़मुक्तेश्वर के पास है।

1 मई को मुरादाबाद में विद्रोह

31 मई को लखनऊ में विद्रोह

५ जून को कानपुर में विद्रोह का समारम्भ तथा 6 जून को अधिकार।

15 जून को फतेहपुर में विद्रोह ।

25 जून को अंग्रेजों का समर्पण

27 जून को अंग्रेजों का नावों में इलाहाबाद को प्रस्थान और मेस्कर घाट पर आक्रमण ।

1 जौलाई को बिठूर में नाना का राजतिलकोत्सव

15 जौलाई को फतेहपुर के विद्रोह का शमन

15 जौलाई को बीबीघर (कानपुर) में अंग्रेजों का हत्याकाण्ड (मेमोरियल वैल में)

16 जौलाई को हेवलाक का शिवराजपुर के पास बाघेरों आदि से युद्ध ।

31 जौलाई बिठूर के महल और मन्दिरों का तोप से उड़ाया जाना ।

यह स्पष्ट है कि कानपुर में स्वामी जी 5 जून को विप्लवारम्भ वाले दिन भी थे । 22 जून को कैन्टोन्मेन्ट के उत्तरी पूर्वी भाग में स्थित मेस्कर घाट पर भी थे । 15 जौलाई और 31 जोलाई को वे बिठूर में थे जब बाघेर वीरता से लड़े और महल तोप से उड़ाये गये । यह सजीव चित्रण 1873 में अपने द्वारा लिखित सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने (अधिक विवरण दिए बिना) यों लिखा है :—

जब संवत 1914 वि० के पूर्व में तोपों के मारे मन्दिर-मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थी तब मूर्ति कहाँ गई थी ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग न तोड़ सकी । जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते ।

(सत्यार्थ प्रकाश समु० 11)

इससे अधिक 1873 ई० में लिखा नहीं जा सकता था । इसमें आँखों देखा वर्णन है । पराभव पर मर्मान्तिक पीड़ा है और भारतीय शौर्य पर महान गौरव की अनुभूति और विदेशी सत्ता के प्रति आक्रोश ।

बाघेर क्षत्रिय बिठूर के आसपास रहते हैं । इनको आबू के यज्ञ पर प्रगट किया गया था । ये गुजरात से निकलकर फैले थे । और रीवा का राजवंश इन्हीं का था ।

कानपुर क्षेत्र में विजय लाभ न होते देख नाना साहब तो गंगा पार करके बरेली क्षेत्र में युद्ध संचालन हेतु चले गये और स्वामी जी मिर्जापुर चाण्डालगढ़ और बनारस को । वहाँ सिक्ख फौज ने विद्रोह दबा दिया था । स्वामी जी नर्मदा के स्रोत अमरकन्टक की ओर चले गये जो बाघेर राजा रीवाँ वाले की सीमा में था । रीवाँ की सेना ने भी नवम्बर-दिसम्बर सन् 1857 में विद्रोह किया पर परास्त हुई । मध्य भारत क्षेत्र में दो वर्ष तक स्वामी जी और तात्याँ टोपे रहे । अप्रैल 1959 में तात्याँ टोपे की शक्ति समाप्त हो गई । आगे पं० दीनबन्धु जी की पुस्तक में पृष्ठ 236 पर यों वर्णन है :—

मैं धनुषकोटि से कन्याकुमारी आया। यहाँ रामेश्वरम् के भव्य मन्दिर में ठहरा। मन्दिरों में घूम-घूमकर साधु संगठन कार्य का प्रयत्न किया। संगठन पूरा न होने से विफल रहा। जो पचास हजार सैनिक बचे थे वे नेपाल में प्रविष्ट हुए, पर जंग बहादुर सिंह राना ने कड़ी भाषा में आश्रय देने से इन्कार कर दिया। अचानक एक दिन कुछ साधु आये और कहा हम दिल्ली के योगमाया मन्दिर से समाचार लाये हैं। वे मुंडित और गेरुआवस्त्र धारी थे। उनमें से मैंने एक नाना साहब को पहिचान लिया। मैंने कहा युद्ध, पराजय और नैपाल प्रदेश तक मैंने सब सुन लिया है। पर हताश या निराश होने का कोई कारण नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए युद्ध में जय या पराजय दोनों ही लाभदायक हैं। दूसरे सज्जन तात्याँ टोपे और तीसरे मेरे साथी दुर्जन राव थे। नाना साहब ने आत्म हत्या की कही। मैंने कहा, 'आत्महत्या पाप है।' भारत के पश्चिमी सीमा की तरफ किसी मठ-मन्दिर में रहकर जन-सेवा के लिए जीवनदान कीजिए। मैंने नाना साहब का सन्यास देकर उनका नाम दिव्यानन्द स्वामी रख दिया। शेष दोनों ने सन्यास लेने का साहस नहीं किया।

आगे भूमिका के पृष्ठ 114 पर भाष्यकार की एक और खोज तथा सूचना है कि नाना साहब मोरवी में अर्थात् स्वामी दयानन्द की जन्मभूमि में नगर सेठ की हवेली में प्रच्छन्न रूप में रहे। और वहीं उनकी समाधि है। मरने पर राजसी ठाटबाट से क्रिया-कर्म उस अथाह रकम से हुआ था जिसे वह अपनी छड़ी में शिवालय के पुरोहित के पास छोड़ गये थे।

सन् 1857 के युद्ध की बात वे किसी को भी बता न सके, यदि बता देते तो फाँसी पर लटका दिये जाते। हाँ अपने बाद के जीवन में उन्होंने श्याम जी कृष्ण वर्मा को जर्मनी बम्ब बनाना सीखने को भेजा था। श्याम जी कृष्ण वर्मा ने लाला हरदयाल और वीर सावरकर को इस हेतु सन्नद्ध किया गया था। दोनों से अस्त्र-शस्त्र भारत में भेजे भी थे। सावरकर ने अपने दादा गुरु की आज्ञानुसार 57 के स्वातन्त्र्य-युद्ध का इतिहास भी लिखा था, पर वह जब्त कर लिया गया था।

(2) **द्वितीय देशाटन : राजस्थान के रजवाड़ों में** : 1860 ई० के लगभग जब अंग्रेज शासक विद्रोह का पूर्णतया बदला ले चुके और वे शान्ति स्थापना का ढोंग रचने लगे तो दयानन्द सरस्वती दूसरी योजना बनाकर उत्तरी भारत की युद्ध-स्थली में पुनः प्रगट हुए। सन् 57 के युद्ध में जाटों और राजपूतों ने कोई विशेष भाग नहीं लिया था। वे जाटों की रियासत मुरसान में पहुँचे। वहाँ के शासक दयाराम को एक युद्ध में तोप से उड़ा दिया गया था। दयाराम के वंशज एक युवक ने ही उन्हें दिल्ली में भर्त्सना देकर क्रान्तिकारी बनाया था। जिन वंशजों को वहाँ का राज्य स्वपक्ष में कर के अंग्रेजों ने वहाँ की गद्दी दी थी, उनसे सम्पर्क किया। बाद में वहाँ के उत्तराधिकारी राजा महेन्द्र प्रतापसिंह प्रसिद्ध क्रान्तिकारी बने और अंग्रेजों ने उन्हें देश से निर्वासित कर दिया था।

मुरसान में उन्हें कुछ ऐसा भान हुआ था कि कुछ समय और गुप्त रहना

आवश्यक है। अस्तु वे गुरु विजयानन्द की कुटी में मथुरा पहुँचे और वेदाध्ययन की ओर ध्यान दिया। यों गुरुविजयानन्द ने स्वयं इस क्षेत्र में विद्रोह का बीज वपन किया था।

वहाँ एक सजातीय औदीच्य गुजराती ब्राह्मण अमरलाल ने उनके भोज-नाच्छादन का प्रबन्ध कर दिया। वे 3 वर्ष तक वहाँ रहे। 1863 में अपने मिशन पर फिर रजवाड़ों की ओर चल पड़े। प्रगट में धर्म का उपदेश करते थे, पर अन्तरंग में विद्रोह का सृजन। उनकी यात्रा का क्रम यह था। मथुरा, आगरा, धोलपुर, आबू पूर्वत ग्वालियर महाराज से सम्पर्क (1922 वि० अर्थात् 1865 ई०)—करोली स्टेट मई 1865 ई० जयपुर की अचरोल स्टेट, जयपुर, दूदू, किशनगढ़ स्टेट, अजमेर, पुष्कर सम्वत् 1922 अजमेर (कर्नल ब्रुक से गौ रक्षा पर वार्तालाप)—कृष्ण गढ़. संगरूर, आगरा 1923 वि० अर्थात् 1866 ई० मथुरा।

यह स्थान प्राय: छोटी-छोटी तत्कालीन स्टेटें हैं। जहाँ स्वराज्य के कुछ चिह्न शेष थे। उनके गुरु विरजानन्द ने उन्हें वहाँ भेजा था। यह राउन्ड पूरा करके वे गुरु जी के पास फिर लौट आये। प्रतीत होता है कि वे बड़े-बड़े घरानों से सम्पर्क नहीं कर पाये। जिनसे किया वे भीरु थे। तब उन्होंने इस योजना को फिर कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया।

(3) **तृतीय देशाटन=गंगा के देश में धर्म प्रचार**=1866-1876 ई०) : दयानन्द सरस्वती को पथ नहीं सूझ रहा था। इस बार उन्होंने गंगा के किनारे-किनारे फिर चलकर जनमत को टटोलने का प्रयत्न किया। भूत में भी महापुरुषों ने सारे देश का पर्यटन किया था। तभी जनता की नाड़ी की गति ज्ञात होती है। मथुरा से हरिद्वार पहुँचे और वहाँ पाखंड खंडिनी-पताका फहरा कर धर्म प्रचार प्रारम्भ किया था। वहाँ से उनके पर्यटन का यह क्रम रहा :—

ऋषिकेश, कनखल, तजौरा, शुक्रताल, परीक्षित गढ़, गढ़ मुक्तेश्वर, कर्ण वास, फरुखाबाद, चासी, रामघाट, कर्णवास, अनूप शहर, रामघाट (1924 वि०)—बेलोन, कर्णवास, गढ़ियाघाट (1925 वि०)—सोरों, कर्णवास (1925 वि०) का राव कर्णवास काण्ड, अम्बागढ़, सरदौल, शाहबाजपुर कादिरगंज, नरदोली, ककोड़ा (मेला स्थल)—कायमगंज, शग्सावाद, फर्रुखाबाद (1925 वि०) —जलालाबाद, कन्नौज (1926 वि०)—मदारपुर, कानपुर, काशी (1926 वि०) (22 अक्टूबर 1869)—प्रयाग, मिर्जापुर, बनारस (1927 वि०)—कासगंज, जलेसर, सोरों फर्रुखाबाद, अनूप-शहर, पटना, मुंगेर, भागलपुर, कलकत्ता (1929 वि०) (जून 1873) लार्ड नार्थब्रुक से भेंट, हुगली, भागलपुर, छपरा, आरा, मिर्जापुर, प्रयाग, कानपुर, फर्रुखाबाद, (1830 वि०)—कासगंज, जलेसर, अलीगढ़ (1930 वि०) हाथरस, वृन्दावन, (वि० 1930)—मथुरा, काशी, मिर्जापुर, प्रयाग में, सत्यार्थ प्रकाश पूर्ण किया, बम्बई (1931 वि०) (आर्य समाज की स्थापना)—सूरत, भड़ोंच (नर्मदा तट)—अहमदाबाद, राजकोट- नवलगढ़, बम्बई, बम्बई के उपनगर गिरगाँव में— विधिवत आर्यसमाज

का आरम्भ (7-4-1875) चैत्र शुक्ल प्रतिपदा (बुधवार)—(1931 वि०)।
अहमदाबाद, बड़ौदा, पूना आषाढ़ (1932 वि०) सतारा बम्बई (5-3-1876 ई० को मौनियर विलियम्स से भेंट) फर्रुखाबाद (9-5-1876 ई०) काशी, जौनपुर, अयोध्या, लखनऊ, शाहजहाँपुर, बरेली, मुरादाबाद, दिल्ली।

दिल्ली में जनवरी 1877 में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड लिटन ने राजकीय दरबार करना था, जिस पर देश-भर के प्रमुख पुरुष आमन्त्रित थे।

वहाँ रहकर स्वामी जी सर सैयद अहमद प्रभृति सब धर्मों के प्रमुखों से मिले और एकता स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे कि भारत के स्वातन्त्र्य में वे सब लोग मिल जायें। एक ईश्वर मात्र की पूजा को मानकर सब सम्प्रदाय मिल जायें। पर उनकी किसी ने न सुनी। सर सैयद अहमद के विचारों से उन्हें बड़ा दुख हुआ। इस अलीगढ़ी की सारी प्रवृत्ति उन्होंने भाँप ली थी कि वह व्यक्ति कितना भयंकर सिद्ध होगा। उन्होंने तब सत्यार्थ प्रकाश का उत्तरार्द्ध लिखकर मुस्लिम तथा क्रिस्टान मतों की टीका की और आर्य समाज के विस्तार को भी उन्होंने प्राथमिकता दी।
13.01.05 चतुर्थ देशाटन=आर्य समाज के विस्तान हेतु :—(1877-80) पंजाब की जनता ने सन् 1857 के विद्रोह में कोई भाग नहीं लिया था। उलटे उनके शमन में कोई कसर नहीं छोड़ी गई थी। अस्तु, दयानन्द सरस्वती अपने द्वारा निर्मित राजनैतिक पार्टी आर्य समाज का सन्देश लेकर इस बार उधर को चल पड़े। ताकि भारत के इस भूभाग में राष्ट्रीयता का बीज-वपन कर सकें। उनके इस देशाटन का क्रम यों था :—

(4) **चौथा देशाटन**—दिल्ली (1877)—**मेरठ, सहारनपुर, चांदपुर**—(**मार्च** 1877 ई०) : सहारनपुर लुधियाना (31-5-1877 ई०) लाहौर (18-4-77 ई०) यहाँ आर्य समाज के 10 नियम बनाये गये। अमृतसर (स० 1934 वि०) गुरुदास पुर (12-8-77 ई०)—जालन्धर (13-9-77 ई०)—फिरोजपुर, (26-10-77) लाहौर रावलपिण्डी (7-11-77 ई०) गुजरात, झेलम, गुजराँवाला, लाहौर (1?-1-74 ई०) मुल्तान, लाहौर, अमृतसर, रुड़की (जुलाई 74 ई०)—अलीगढ़, मेरठ, देहली, जयपुर अजमेर, मसूदा, नसीराबाद, रिवाड़ी, देवल, मेरठ, सहारनपुर, रुड़की, हरिद्वार—(27-2-79 ई०) ज्वालापुर, देहरादून, सहारनपुर, मुरादाबाद, बदायूँ, बरेली (14-8-79 ई०) शाहजहाँपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद, मैनपुरी, मेरठ, देहरादून, आगरा, **राजस्थान**।

यह सब वे स्थान हैं, जहाँ अंग्रेजों की फौजी छावनी थीं।

(5) **पाँचवाँ देशाटन-राजस्थान में**—(1881-1883) **ई०**) : पंजाब और निकटवर्ती तत्कालीन उत्तर प्रदेश में उर्दू भाषी भूभाग में हिन्दी भाव जगाकर वे पुनः राजस्थान के बड़े राजघरानों को समझाने के लिए पुनः राजस्थानकी ओर चल पड़े। इस बार यह आयोजन जाटों के भरतपुर से शुरू हुआ।

अब हम राजस्थान के इस दौरे का विशेष विवरण देते हैं। भरतपुर में दस

दिन रहकर 20 मार्च 1981 को वे जयपुर पधारे। ठहरने की व्यवस्था ठाकुर साहब अचरोल थी रघुनाथ सिंह जी ने गंगोपाल (बाहर मदनपुरा) स्थित अपने ही उद्यान में की थी।

मसूदा नरेश राव श्री बहादुर सिंह जी के व्यक्तिगत साग्रह निमन्त्रण पर स्वामीजी महाराज 22 जून 1881 का मसूदा आ विराजे जहाँ आप 18 अगस्त तक विराजमान रहे। यहाँ आपके ठहरने की व्यवस्था राजकीय उद्यान राम बाग में की गई।

स्वामीजी वहाँ से व्यावर होते हुए 19 अगस्त को रायपुर पहुँचे। ठाकुर साहब हरिसिंह जी ने स्वामी जी का भव्य स्वागत किया। यहाँ भी स्वामी जी महाराज के सार्वजनिक उपदेश होते रहे। महाराज ने परामर्श दिया कि यवन को राजमंत्री न बनायें। लगभग 20 दिन ठहरकर स्वामीजी यहाँ से व्यावर लौट आये।

व्यावर से स्वामीजी फिर मसूदा होते हुए 10 अक्टूबर को बनेड़ा पहुँचे। रास्ते में कुछ समय के लिए हुरडा, रूपाहेली व रतेड़ा रुके। बनेड़ा पहुँचने पर वहाँ के नरेश राजा गोविन्द सिंह जी ने आपका बड़ा ही सम्मानपूर्वक स्वागत किया। स्वामी जी महाराज ने राजा साहब और उनके पारिवारिक सदस्यों को विशेष कर उनके पुत्रों को राजनीति का सम्यक बोध कराया।

बनेड़ा से स्वामीजी महाराज 26 अक्टूबर 1881 को चित्तौड़ पधारे। यहाँ आपके निवासादि की सारी व्यवस्था मेवाड़ राज्य की ओर से की गई थी। गम्भीरा नदी के तट पर विशेष कैम्प लगाये गये थे और सशस्त्र पहरे का प्रबन्ध किया गया था। इन दिनों चित्तौड़ में बड़ी धूम-धाम थी। वायसराय लार्ड रिपन ने यहाँ बड़ा दरबार बुलाया था। जिसमें महाराणा साहब उदयपुर—श्री सज्जनसिंह जी को के० सी० एस० आई० से सम्मानित करना था। इस अवसर पर आस पास के राजे महा राजे और मेवाड़ राज्य के कई सामन्त सरदार यहाँ आये थे। अतः मेवाड़ राज्य के तत्कालीन दीवान श्री मोहनलाल विष्णुलाल जी पण्डया और कविराज श्री श्यामल दास जी ने स्वामीजी महाराज के इन्हीं दिनों यहाँ पदार्पण की विशेष व्यवस्था की थी, ताकि अधिक से अधिक राजे-महाराजे स्वामीजी के सत्संग से लाभ उठा सकें। शाहपुराधीष-राजाधिराज श्री नाहरसिंह जी ने स्वामीजी महाराज के सर्वप्रथम यहीं पर दर्शन किये थे और तभी से वह महाराज के पूर्ण शिष्य बने। महाराणा उदयपुर और अन्य सभी आगुन्तक राजे-महाराजे व सामन्ती सरदार प्रतिदिन स्वामीजी महाराज की सेवा में उपस्थित होते और उनके उपदेशामृत का पान करते। दरबार की समाप्ति पर भी कई दिनों तक यह सिलसिला जारी रहा।

पुनः बम्बई से लौटते समय महाराज खण्डवा, इन्दौर, रतलाम, जावरा, आदि नगरों में धर्मोपदेश करते हुए 11 अगस्त 1881 को उदयपुर पहुँचे। निम्बाहेड़ा से उदयपुर तक की यात्रा का पूरा प्रबन्ध सवारी आदि का—महाराणा साहब उदयपुर की ओर से किया गया था। उदयपुर में महाराज के ठहरने की सम्यक व्यवस्था सज्जन निवास उद्यान में की गई थी। महाराज साहब ने व अन्य गण्यमान्य सज्जनों ने महा

राज का स्वागत-सत्कार किया। श्री पण्डया जी व कविराज श्यामलदास जी के अलावा अन्य राज्याधिकारी श्री स्वामीजी महाराज से नियमित शिक्षण प्राप्त करते और उनकी देखादेखी महाराव साहब भी नित्य प्रति शिक्षण, के लिए उपस्थित होते। स्वामीजी महाराज ने उन्हें मनुस्मृति का राज्य प्रकरण विशेष रूप से पढ़ाया।

लगभग 4 मास तक दयानन्द सरस्वती हिन्दू-कुल-तिलक शिसोदिया घराने के स्वतन्त्र उदयपुर राज्य में टिके रहे जो महाराणा प्रताप के वंशज थे। उन्हीं के जय जगदीश हरे मन्दिर से वे आर्य आरती लाये थे। महाराणा ने उन्हें सार्वजनिक विदाई दी। विदाई से पूर्व दयानन्द सरस्वती ने वहाँ अपने उत्तराधिकार का प्रपत्र लिखा और परोपकारिणी सभा निर्मित करके उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। महाराणा उदयपुर को ही उसका उन्होंने प्रधान बनाया था।

उदयपुर से स्वामीजी चित्तौड़ होत हुए 9-3-83 को शाहपुरा पहुँचे। वहाँ भी महाराज को राजनीति के उपदेश दिये।

26-5-83 को शाहपुरा से चलकर वे अजमेर पहुँचे और 29 मई को पाली, रोहट होते हुए 31-5-83 को वे महाराज जोधपुर के निमन्त्रण पर वहाँ पहुँचे। राव राजा जसवन्त सिह ने नगर से 2 मील दूर जा उनका स्वागत किया और दीवान फेजुल्लाखाँ की कोठी पर ठहराया।

इन्हीं फेजुल्ला खाँ के पौत्र श्री वरकतुल्ला खाँ 1972 में राजस्थान के मुख्य मन्त्री थे। उन्होंने यह कोठी आर्य समाज को दिला दी है।

एक दिन स्वामी जी महाराज नियत समय पर जोधपुर नरेश के महलों में गये। तब नन्हीं जान वेश्या महाराज साहब के पास ही थी। स्वामी जी को आते देख महाराज साहब ने उसे तुरन्त चले जाने का आदेश दिया। कहारों ने डोली उठाई पर उठाने में देर होते देख महाराज साहब ने स्वयं सहारा लगाकर उसे उठवाया। स्वामी जी ने यह सब देख ही लिया। और महाराज साहब के निकट पहुँचकर बड़े ही दृढ़ शब्दों में महाराजा साहब को उपालम्भ दिया कि 'राजन्, राजा सिंह समान समझे जाते हैं और वैश्या कुतिया सदृश। वीर शार्दूल का कृपण कुतिया पर प्रेम करना सर्वथा अनुचित है। इससे मान मर्यादा को बट्टा लगता है। इस दुर्व्यसन को तिलांजलि देना ही चाहिए। प्रतिकार की धधकती ज्वाला वैश्या के हृदय में वहाँ जलने लगी। विरोधी तत्त्वों के साथ साँठ गाँठ करके स्वामी जी महाराज के प्राण हरण की योजना बनने लगी। कुछ ही दिनों में स्वामीजी के रसोइये जगन्नाथ को येन केन प्रकारेण फुसलाकर अपने विश्वास में लिया और उसके हाथों 29 सितम्बर 1883 की रात्रि को दूध में हलाहल विष (काँच का चूर्ण) स्वामी जी महाराज को पिलवा दिया गया।

विष देने का जब महाराज साहब को व सरप्रताप को पता लगा तो सभी उपस्थित हुए। उपचार का प्रबन्ध किया गया। स्वामी जी के भक्त डा० सूर्यमल जी का उपचार प्रारम्भ हुआ। पर न जाने क्यों दूसरे ही दिन एक अति ही साधारण

डा० श्रलीमदीन खाँ का इलाज चालू कराया गया। स्वामीजी महाराज को 26 श्रक्टूबर को श्रजमेर पहुँचाया गया। स्वामीजी महाराज को मिनाय भवन में ठहराया गया। 30 श्रक्टूबर सन्ध्या के लगभग 6 बजे दीवाली के दिन महा राज ने कहा, 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो।' श्रौर श्रपना पार्थिव शरीर छोड़ दिया।

(13.02) आर्य समाज

(1) **श्रार्य समाज की स्थापना** : दयानन्द सरस्वती ने 1857 का स्वातन्त्र्य युद्ध श्रौर उसमें देश की राष्ट्रीयता के ह्रास श्रौर सैनिक निर्बलता के फलस्वरूप मिली पराजय को देखा था। श्रस्तु, उन्होंने सारे समाज में श्रामूल परिवर्तन करने की योजना बनाई ताकि स्वतन्त्रता मिल सके श्रौर फिर स्वतन्त्र देश का स्वराज्य कायम रहे श्रौर उससे देश की सुख-समृद्धि में वृद्धि हो। श्रस्तु, ज्यों ही 1857 के दमन श्रौर प्रतिशोध की श्रवधि समाप्त हुई, उन्होंने 1875 ई० में श्रार्य समाज की स्थापना कर दी। इसके पहले उन्होंने सत्यार्थ प्रकाशादि ग्रन्थ रचे थे, जिसमें श्रपना प्रयोजन स्पष्ट किया।

वे गर्भ में बालक के श्राने के दिन से लेकर ही इस देश के हर श्रागन्तुक नागरिक को चरित्रवान, व्रती श्रौर दृढ़निश्चयपूर्वक राष्ट्रीय व्रत का व्रती बनाना चाहते थे। ऐसे घटकों से सम्पन्न परिवेश में उन्होंने ने 1870 में ही पूर्ण स्वराज्य की महत्त्वाकांक्षा जाग्रत की। 1857 में राजपूताने के राजाश्रों ने प्रमुख भाग नहीं लिया था। श्रतः उनके हरेक घराने में राजा के सानिष्य में रहने श्रौर उनमें स्वातन्त्र्य की उत्कट इच्छा जाग्रत करने की कहानी हम कह श्राये हैं। उस समय सारे देश के लोग श्रपने देश, धर्म श्रौर संस्कृति एवं भाषा को हेय समझने लगे थे। उन्होंने उनमें इन सब का गौरव पुनः स्थापित किया। उन्होंने कहा, श्रार्य इस देश में कहीं बाहर से नहीं श्राये हैं, वरन जब से श्राँख खोली है, श्रपने को इस देश में सुप्रतिष्ठित पाया है। पूर्व काल में संस्कृति का श्राह्वान लेकर इस देश के मनीषी बाहर जाते रहे हैं, श्रब इस पीढ़ी में हमें चक्रवर्तित्व प्राप्त करना है।

इन सब उद्देश्यों के लिये एक राजनैतिक दल की श्रावश्यकता होती है, जिसका एक घोषणा पत्र, एक विधान, उद्देश्य श्रौर नियमादि हों श्रौर उनके पीछे एक महान् दार्शनिक प्रेरणा हो। उन्होंने इस राजनैतिक पार्टी का नाम श्रार्य समाज रखा। श्रेष्ठ पुरुषों की कांग्रेस या ब्लाक या पार्टी या समाज। उन्होंने दल स्थापित करके राजनैतिक सत्ता प्राप्त करना ही नहीं वरन् एक पूरे समाज की रचना करने का उद्देश्य मस्तिष्क में रखा था।

1873 में उन्होंने श्रार्य नाम से इस समाज को सुप्रतिष्ठित कराना सोचा। श्रौर 1875 की 23 मार्च को उसके जन्म की घोषणा भी गिरगाँव (बम्बई) में कर दी। उस दिन चैत्र कृष्ण 9 सम्वत् 1939 विक्रमी थी। श्री गिरधारी लाल कोठारी श्रार्य समाज के प्रथम प्रधान थे।

(2) **आर्य समाज के नियम :**

1. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।
2. ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्यपवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।
3. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना, सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।
4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करना चाहिए।
6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।
7. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
8. सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।
9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, वरन सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना चाहिए।

13. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

नियमों की व्याख्या :

(क) पूर्वार्द्ध (नियम सं० 1 से 5 तक)—आचार परक :

इन नियमों में दर्शन, राजदर्शन और दैनिक राजनीति तीनों का समावेश है नियम संख्या 1 और 2 ईश्वर से सम्बन्धित हैं। प्रथम नियम के अनुसार सारी सत्य-विद्या (Philosophy) तथा पदार्थ विद्या (Physics and chemistry) प्रभृति विज्ञान का स्रोत ईश्वर कहा है। यह मूल ज्ञान विज्ञान विकास से प्राप्त नहीं होता। दयानन्द विकासवाद में आस्था नहीं रखते थे। अस्तु, शक्तिवान के जीवित रहने तथा अशक्त नष्ट हो जाने के वे प्रतिकूल हैं। ज्ञान का स्रोत ईश्वर को मानकर वे ईश्वर के मुख्य विशेषण दूसरे नियम में गिनाते हैं। इसमें न्यायकारी शब्द द्वारा विश्व में न्याय व्यवस्था को कायम रखने की अन्तिम जिम्मेदारी वे ईश्वर पर छोड़ते हैं। फलतः विश्व के वैशम्य का कारण ईश्वर का न्याय ही सिद्ध होता है। ईश्वर को वे सृष्टिकर्ता मानकर प्रकृति में ज्ञान रहने के अभाव को वे स्वीकार करते हैं।

इस नियम में बार बार सर्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्व-व्यापक और सर्वान्तरयामी। इस प्रकार ईश्वर का साहाय्य मनुष्य मात्र को है। किसी एक विशेष राष्ट्र या कौम को ही उसका आशय और प्रश्रय प्राप्त नहीं है। वही सभी के अन्तर में होने से सभी के हृदयों में प्रेरणा करता है।

कुरान सूक्त 45 आयत 15 में खुदा की ओर से कहा गया है : हमने बनी इसराइल जाति को पुस्तकऔर हिकमत (कौशल) और नवव्वत दी, और अच्छी वस्तुएं खाने को दीं। और समस्त संसार पर उनकी प्रधानतः प्रतिष्ठित की। पुन. सू० 44 आ० 31-32 में कहा है कि हमने जानबूझकर बनी इसराइल को सारे संसार के लोगों में से पसन्द किया है। और एक बार पुन. सूक्त 2 आ० 39 में कहा है कि मेरे उपकार याद करो जो मैंने तुम पर किए और यह कि सारे (जहान) जमाने के लोगों पर तुम्हारी प्रधानता प्रतिष्ठत की। यहूदी इटैलियन, रोम, ब्रिटिश सभी यह कहते रहे कि ईश्वर ने उन्हें विश्वोपरि बनाकर विश्व की ठेकेदारी सौंपी है। पर दयानन्द कहते हैं कि ईश्वर सर्वाधार है। मनुष्य मात्र की एकता, एक ईश्वर के पुत्र होने के धरातल पर ही स्थापित होती है।

फिर इस नियम में विधान है कि 'उसी की' उसी की ही उपासना करनी चाहिए। अन्य किसी की नहीं किसी जीवित या मृत मानव की उपासना नहीं करनी चाहिए। सम्प्रदायों के अस्तित्व पर यह भीषण कुठाराघात है। भिन्न-भिन्न इष्ट देवों की उपासना नष्ट किए बिना एकता असम्भव है।

तीसरे नियम में सत्य विद्या की एक ही पुस्तक स्वीकार की गई है। जो कि वेद है। वेद विधना का सृष्टि के हेतु प्रसारित विधान है। यह शाशवत है। एक लिखित विधान के प्रति निष्ठा, इस नियम में अभिप्रेत है। सबसे पुराना होने से वह पूर्ण है। अतएव उसको पढ़ना (स्वाध्याय करना) सुनाना, और फिर उसमें पाये सत्य सनातन सिद्धान्तों को दूसरों को सुनाना और जताना, इस राजनीतिक दल के प्रत्येक सदस्य का परम धर्म है। प्रचार की प्रणाली को बनाए रखना चाहिए। पृथ्वी के हर भूभाग के मानव इस ज्ञान को सीखने इस देश में आया करते थे। जब हमने यह प्रसार का काम बन्द कर दिया तो वे लोगजिन तक यह कल्याणमयी वाणी नहीं पहुँच सकी, वृषलत्व को प्राप्त होकर कुपथगामी हो गए।

प्रायः सब राजनैतिक दलों में सदस्यों की बुद्धि पर सील लगाने का प्रयत्न किया है और नेता की, प्रस्तोता की, पार्टी की, बहुमतों की बात मानने की विवशता अपने-अपने विधान में लादी है। पर दयानन्द जानते थे कि यह आज्ञा टिकाऊ नहीं होती और बुद्धि-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इससे भक्त और अनुगामी पैदा हो सकते हैं, पर मनुष्यता का ह्रास व नाश होता है। अतः उन्होंने चौथे नियम में कहा है कि सत्य का ग्रहण करने और असत्य को त्यागने में सदा उद्यत रहना चाहिए। सत्य की सदैव खोज रहे, और सत्य को प्राप्त करते ही दुराग्रह छोड़ देना चाहिए। मनुष्य को सदैव सत्याग्रही रहना चाहिए। यह तीसरे नियम का पूरक है।

यों तो स्वयं मार्क्स ने अपने जीवनान्त के समय कहा था (Thank God, I am not a Marxist) अर्थात प्रभु को धन्यवाद है कि मैं मार्किस्ट नहीं हूँ। तात्पर्य यह है कि सत्य के आधार पर वह अपने नियमों में संशोधन करने को प्रस्तुत था।

(Socialism by M. R. Masani p. 54) पर उसके अनुगामी उसके एक-एक वाक्य को वेद वाक्यवत मानते हैं।

व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य के लिए श्रेय कर्म वे हैं जो धर्मानुसार कानून और व्यवस्था के अनुसार किए जायें। जो असत्य कर्म हैं वे वर्जित हैं,। जो सत्य पर आधारित हैं वे ही धर्मानुसार हैं। अधार्मिक कृत्य सदा त्याज्य है, चाहे इसमें अधिक भोग्य-पदार्थ निहित हों। धर्म एक सर्वकालिक मर्यादा है, उसमें ईश्वराज्ञा और सत्याचरण दोनों समाहित हैं। इस प्रकार का विवेचन पाँचवें नियम में हैं। इस प्रकार यह प्रथम पाँच नियम मनुष्यों में चरित्र निर्माण की योजना प्रस्तुत करते हैं यह चार नियम सामाजिक और आर्थिक दर्शन के मूल सिद्धान्त हैं मानों गागर में सागर भर दिया गया हो। नियम संख्या 6 के द्वारा इस दल का मुख्य उद्देश्य संसार का उपकार करना बताया गया है। किसी एक या दो वर्गों का ऊपकार नहीं, जिन पर नोटों या बोटों का वाहुल्य हो। उपकार उसे कहते हैं जिसमें अपनी तुष्टि न होकर औरों की संतुष्टि हो और मानसिक चिन्तन इतने ऊँचे स्तर का हो कि दूसरे की उन्नति से ही आत्म-तोष हो। उपकार के काम तीन प्रकार के हो सकते हैं :

मनुष्य तीन ही वस्तुओं का समुदाय होता है।

(अ) स्थूल शरीर=इसकी शारीरिक उन्नति का अर्थ है सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं उपभोगार्थ पदार्थों का यथेष्ट उत्पादन और व्यक्तियों की प्रसन्नमुद्रा। यही आर्य समाज को अभिप्रेत है।

सामाजिक उन्नति अर्थात् शारीरिक सुख के अवलम्बनों का समाज में उचित वितरण। मैं भी भूखा न रहूँ, अरु साधु न भूखा जाये। सामाजिक श्रृंखला के प्रति सब को सावधान रखना और सब के द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह अपेक्षित है।

(ब) सूक्ष्म शरीर=जिसके विकास से मानसिक उन्नति होती है।

(स) आत्मा=की उन्नति से तात्पर्य है कि अपनी व्यक्ति गत आत्मा की आज्ञा मानना, उसका हनन न करके उसका प्रस्फुटीकरण करना।

तात्पर्य है शुभ कर्मों द्वारा आत्मा के लिए सुसंस्कृत कारण और सूक्ष्म शरीर का निर्माण करना जो जन्म-जन्मान्तर मे काम आ सके। समाज में न्याय की श्रृंखला के प्रसारण हेतु सातवाँ नियम कहता है कि सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए। प्रीतिपूर्वक से अर्थ है 'वर्ग सहयोगो न च वर्ग विरोधः'।

यथायोग्य से अर्थ है बिना हेतुम् न निग्रहोवा अनिग्रहो।

अर्थात बिना कारण किसी पर वरदान या आशीर्वादों की वर्षा न करना। अर्थात् जिसने जो श्रम से प्राप्त नहीं किया है, उसे वह प्राप्त न होने देना तथा श्रम से जिसका जो होता है, उसे वह बलपूर्वक प्राप्त कराना। धर्मानुसार का भाव यह है कि बहुमत तथा अल्पमत सबके साथ न्यायपूर्वक वर्ता जाये। इस प्रकार, यह तीन

नियम समाज की आधारशिला है। मनुष्य को, और राज्य को को ऐसे ही वर्तना चाहिए।

परन्तु इसमें एक खतरा (Risk) था। लोग आत्मलीन ही न हो जायें। अतः यह आदेश नवें नियम में दिया गया कि, अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, वरन् सबकी उन्नति में अपनी उन्नतसमझनी चाहिए। यह सर्वोदय की महान कामना ही सामान्य इच्छा (General Will) की पूर्ति की और मानव को लगाती है। इस नियम में प्रत्येक का विशेष्य व्यक्ति के अतिरिक्त, वर्ग भी है। कोई भी अपनी अथवा अपने वर्ग की सर्वांगीण उन्नति में लगा रहे, पर सब वर्गों के हित में तत्पर हो। इससे वर्गों के पारस्परिक विद्वेष के विरुद्ध वर्ग सहयोग का भाव अपेक्षित है। मनुष्य मात्र में यह विचार फैलाने के लिए विद्या की वृद्धि और अविद्या का नाश करना आठवें नियम में कहा गया है। अन्ध विश्वास तथा अबौद्धिक कार्य करने की कुटेव वर्गों और सम्प्रदायों में पड़ गई है, उसे संरक्षण न देकर उन प्रवृत्तियों का नाश करना, एक आवश्यक कृत्य है, अन्यथा संस्कृति का प्रवाह रुक जाएगा।

अतएव दयानन्द विद्या प्रचारार्थ एक पृथक विद्यार्य सभा की स्थापना करने को कहते हैं जो कि बहुलवादी विचारधारा के अन्तर्गत राजार्य और धर्मार्य सभा से पृथक पर उसके समान अधिकार-सम्पन्न (Autonomous) संस्था हो। शिक्षा पर धर्मार्य सभा का भी नियन्त्रण नहीं होगा। वह तो धर्म निरपेक्ष ही होगी। उसमें विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों का अध्ययन सम्मिलत होगा। वह राजार्य सभा के बन्धन से भी मुक्तहोगी। उसमें राज्य संस्थान के अस्तित्व लाभ-हानि, गठन और पुनर्गठन की समस्याओं पर चिन्तन होगा और एतदर्श योजनाओं के गुण दोनों का मूल्यांकन हो सकेगा। छान्दोग्यादि उपनिषदों में विद्या से प्रभु के पास जाकर निवेदन प्रदर्शित कराया है कि लोग मुझे कुपात्र को दिये डाल रहे हैं। पर दयानन्द इस मत के प्रतिकूल हैं। वे कहते हैं कि विद्या और विज्ञान को 'वदानीम् जनेभ्यः' मनुष्य मात्र के लिए कहा जाय। उन्होंने बलपूर्वक यह भी कहा कि अविद्या का अर्थात जो विद्या बुद्धि और विज्ञान के विरुद्ध रीति-रिवाज या कानून है, उन्हें नाश करने में सहयोग देना चाहिए। 'नाश करना' यह विधेयात्मक कर्म है। और विधान एवं बुद्धि-परिवर्तन से परे कानूनी बाध्यकारिता भी उसमें सम्मिलित है।

(ख) और दयानन्द का मुख्य राजदर्शन उनके दसवें नियम में समाविष्ट है।

वह नियम दो वाक्यों से बना है :

(अ) सब मनष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये।

(ब) प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

जो नियम सबके द्वारा और समाज के द्वारा सबके हित में बनाये जाते हैं, उनके पालने में लोग दूसरों द्वारा बनाये तन्त्र (कानून) के आधीन है। इन नियमों को विभिन्न संस्थाएँ बनायेंगी जिनकी सदस्यता मनुष्य स्वेच्छा से स्वीकार करता है।

परन्तु इन संस्थाओं पर बाध्यकारी शक्ति नहीं होती। इस कार्य को राज्य करता है। राज्यशक्ति यदि सबके हित की दृष्टि से कोई कानून बनाती है तो प्रजा-जन उसे मानने पर बाध्य हैं। पर यदि वे कानून एक वर्ग के हित के ही लिए बने हैं तो मनुष्य उनकी उपेक्षा करने और उन्हें चुनौती देने अथवा उनके प्रति विद्रोह करने को स्वतन्त्र है। दूसरी बात है कि वे नियम सामाजिक शृंखला के भी हो सकते हैं और समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले भी हो सकते है। सामाजिक हित में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बन्धन लगेगा ही। उन्हें मानने को हर राष्ट्र का हर नागरिक बाध्य है, पर वह बाध्यता भी तन्त्र के आधीन है। अतः बाध्यकारी पद्धति को पहले तन्त्र का रूप दिया जावेगा और फिर उस तन्त्र पर चलने के लिए सारे नागरिक बाध्य होंगे।

परन्तु यह दसवाँ नियम कुछ अधिकार मनुष्य मात्र के लिए सुरक्षित रखता है। वे हैं प्रत्येक हितकारी नियम। स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति का समाज में पृथक अस्तित्त्व है। वह समाज रूपी मशीन या तन्त्र का एक पुरजा मात्र नहीं है। कुछ प्रत्येक हितकारी बातें (Of Individual interest) आवश्यक हैं। इनके विषय में बाध्यता नहीं है, यदि वे अविद्या और अधर्म का अंग न हों जैसा कि पूर्व नियमों में कह आये हैं। वे प्रत्येक हितकारी विषय क्या हो सकते हैं। प्रति एक (हरेक) व्यक्ति के लिए जो पृथक-पृथक हित साधना करने वाले हो—वास्तव में हित करने वाले हों। वे विषय यों हो सकते हैं—

(अ) उसके शरीर के उन्नयन सम्बन्धी जिनसे उसके शरीर का हित अर्थात् शरीर बना रहे और स्वस्थ रहे। इसके अन्तर्गत सात्विक भोजन, वस्त्र, मकान, इलाज, मनोरंजन, विहार और बचे हुए समय को रुचिपूर्ण कलात्मक बातों में बचाने की उसे स्वतन्त्रता हो। सात्विक वस्तुओं में से वह जो कुछ जैसे चाहे खा सकता है। तामसिक वस्तुएँ उसको हितकारी नहीं हैं। वह आयुर्वेद पद्धति से इलाज करा सकता है या होम्योपेथिक से पर रोगिल नहीं रहने दिया जावेगा। क्योंकि वह हितकारी नहीं है। वह स्वस्थ मनोरंजन प्राप्त कर सकता है पर कामोत्तेजक मनोरंजन नहीं क्योंकि वीर्य स्खलन द्वारा उसके हितों का नाश होता है। वह सन्तान पैदा कर सकता है पर अधिक पैदा करना स्त्री पुरुष के स्वास्थ्य के लिए हितकारी नहीं है। इसी प्रकार सीमित सम्पत्ति उसे सुरक्षा देती है। अधिक उसके लिए हितकारी नहीं है।

(ब) उसकी आत्मा का विकास जिन उपब्धियों से हो उनमें वह स्वतन्त्र है। पर वास्तव में वह विकास हितकारी होना चाहिए। वह सुकर्मो का संचय करने को स्वतन्त्र है। दान-पुण्य द्वारा अपनी आत्मतुष्टि करने को स्वतन्त्र है यदि वह हितकारी हों। पर यदि कोई दूसरे मनुष्य रक्त बहाने में अपनी आत्मा की उन्नति माने, तो वह प्रत्येक हितकारी न होने से अनधिकृत है और सामाजिक अतिक्रमण करने से वर्जनीय है। अन्य बातें जिनसे आत्मिक हित होता हैं वह है, परस्पर बराबरी का भाव, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, उन्नति की साधना और ईश्वर की प्राप्ति अथवा प्राप्ति के प्रयत्न।

इनमें व्यक्ति स्वतन्त्र है। इस स्वातन्त्र्य के लिए व्यक्ति को अड़ जाना चाहिए, चाहे इनके संरक्षण करने में उसका अवसान ही हो जावे। इस स्वातन्त्र्य का रक्षण करने और परतन्त्र के निर्माण के लिए राज्यशक्ति की परमावश्यकता है। अतः दयानन्द सशर्त राज्यशक्ति की बाध्यता के कायल हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 10 जनवरी 1948 को व्यक्तियों के अधिकारों की संहिता बना दी है जो निम्न प्रकार है। भारतीय विधान के मूलभूत तथा प्रेरणात्मक संकल्प इन पर ही आधारित है :

(1) हरेक को जीवन, स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत सुरक्षा का अधिकार है।

(2) हरेक कानून के समक्ष समान है।

(3) हरेक को कानून के समक्ष एक व्यक्ति माने जाने का अधिकार है।

(4) हरेक को किसी एक देश के अन्दर, चाहे जहाँ जाने का, तथा उस देश को छोड़कर जाने का अधिकार है।

(5) हरेक को किसी राष्ट्र का नागरिक बनने का अधिकार है।

(6) हरेक को सम्पत्ति रखने की स्वतन्त्रता, विचार-स्वातन्त्र्य, धार्मिक मान्यता की स्वतन्त्रता तथा शान्ति पूर्वक मिल बैठने और संगठन बनाने की स्वतन्त्रता है।

(7) हरेक को सामाजिक सुरक्षा, सुखद वातावरण में काम करने और व्यवसायिक संघ बनाकर अपने अधिकार सुरक्षित रखने का अधिकार है।

(8) हरेक को पर्याप्त मात्रा में सुख भोग पदार्थ पाने और विद्यार्जन का अधिकार है।

(9) हरेक को कला पूर्ण जीवन रहने तथा वैज्ञानिक प्रगति से समान लाभ उठाने का अधिकार है।

(03) **आर्य समाज के उपनियम और अन्तः संगठन** : हरेक राजनैतिक पार्टी का विधान --उसके आन्तरिक संगठन हेतु होता है। आर्य समाज की स्थापना भी इन्हीं महत्त्वाकांक्षाओं के साथ हुई थी। भारतवर्ष में सर्वसाधारण को एक महान उद्देश्य के लिए एक ढाँचे में एकत्रित करने का यह पहला प्रयत्न था। भूत में बौद्ध-संगठनों ने, धर्म प्रचार के लिए संघ बनाये थे। आर्य समाज धर्म प्रचार, सामाजिक संगठन, और राजनैतिक उन्नयन-तीनों उद्देश्यों से प्रेरित होकर बनाया गया था। और उसमें नैतिकता तथा प्रजातन्त्र प्रणाली—दोनों का समावेश था। यह प्रजातान्त्रिक अकेन्द्रीकृत (Democratic Decentraligation) पर आधारित विधान था जो, पिरामिड टाइप है। नीचे से शुरू होता है। दस नियमों की बाध्यता के अन्दर सारी शक्ति नीचे की इकाइयों में सन्निहित है। सम्भवतः किसी राजनैतिक पार्टी का ऐसा विधान नहीं है। अंग्रेजी समाज-कला से अनभिज्ञ दयानन्द सरस्वती ने यह रूपरेखा स्वयं बनायी। हम इस विधान के मुख्य अंग यहीं देते हैं।

आर्य्य सभा सद :

जिनका न म किसी आर्य समाज में सदाचार से एक वर्ष अंकित रहा हो और वे अपनी आय का धतांश मासिक अथवा वार्षिक वा 250 रु० वार्षिक या अधिक धन उस समाज को देते रहे हों और जिनकी उपस्थिति साप्ताहिक सत्संगों में कम से कम 25 प्रतिशत हो तो वे आर्य सभासर हो सकते हैं।

सदाचार की परिभाषा इस प्रकार है—

सन्ध्या आदिनित्य कर्म, शुद्धवृत्ति, वैदिक संस्कार, पतिव्रत तथा पत्नीव्रत आदि सदाचार है। व्यभिचार, मद्यादि मादक द्रव्यों और मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन, जुआ, चोरी, छल-कपट, रिश्वत आदि दुराचार है।

2. जो आर्य समाज के उद्देश्य के विरुद्ध काम करेगा उसे अन्तरंग सभा आर्य समाज से स्थगित और साधारण सभा पृथक कर सकती है। परन्तु प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा को अधिकार होगा कि इस निर्णय को स्थगित करे या उलट दे।

प्रबन्धक सभा

9. वार्षिक—यह प्रतिवर्श नीचे लिखे प्रयोजनों के लिए हुआ करेगी—

1. अधिकारियों—अन्तरंग सभा के प्रतिष्ठित सभासदों, न्यायोपसभा के सदस्यों तथा आय-व्यय लेखा निरीक्षक के निर्वाचन के लिए।

2. समाज के पिछले वर्ष का वृतान्त सुनने तथा आय व्यय का आनुमानिक लेखा (वजट) बनाने के लिए।

3. अन्तरंग सभा के निश्चय के विरुद्ध अपील सुनाने के लिए।

4. उन विषयों का निर्णय करने के लिए जिन्हें अन्तरंग सभा ने निर्णयार्थ भेजा है।

5. इस सभा के होने के समय आदि का विज्ञापन 15 दिन पहले दिया जायेगा, जिसमें प्रवेशनीय विषयों के विवरण स्पष्ट लिखे जायेंगे। चुनाव सम्मति (रचियों) द्वारा हुआ करेगा और किसी झगड़े की अवस्था में अन्तिम फैसला प्रान्तिक आर्य प्रतिनिधि सभा का माननीय होगा।

अन्तरंग सभा

11. समाज के सब कार्यो के सम्बन्ध के लिए अन्तरंग सभा नियुक्त की जाएगी। और उसमें तीन प्रकार के सभासद होंगे।

1. अधिकारी 2. प्रतिष्ठित आर 3. प्रतिनिधि।

19. अन्तरंग सभा का कोई सभासद मन्त्री को एक सप्ताह पहले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदित किया जाए और यह विषय प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावेगा। परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरंग सभा के 5 सभासद या 1/3 भाग (जो संख्या न्यूनतम है) सम्मति दें वह अवश्य निवेदन किया जावेगा। 32. सब सभा और उप सभाओं का वृतान्त आर्य भागा तथा देवनागरी लिपि में लिखा जाया करेगा और उसको यदि कोई आर्य सभासद् चाहे तो मन्त्री, प्रधान की अनुमति लेकर उसे दिखला दिया जाया करेगा।

नोट—आर्यावर्त्त से बाहर की सभाओं में जरूरत पड़ने पर आर्य भाषा में वृत्तान्त लिखने का नियम शिथिल हो सकता है।

33. सब सभाओं का काम तब आरम्भ होगा जब 1/3 (एक तिहाई) सभासद उपस्थित हों।

34. सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित होंगे।

35. आय का दशांश स्थित निधि में रखा जायेगा।

36. सब आर्य और आर्य सभासदों को संस्कृत अथवा आर्य भाषा अवश्य जाननी चाहिए।

41 (क) आर्य समाज की वार्षिक साधारण सभा आर्यों वा आर्य सभासदों के पारस्परिक और समाज सम्बन्धी झगड़ों को निपटारा करने के लिए एक न्यायोप-सभा नियत किया करेगी।

45. प्रत्येक प्रान्त में एक मुख्य सभा होगी, जिसका नाम आर्य प्रतिनिधि सभा होगा। सब सभाओं की व्यवस्था उसी के आधीन तथा अनुकूल होगी। यह सभा अपने नियमादि स्वयं बनायेगी।

47. समस्त आर्य जगत के लिए एक मुख्य सभा होगी जिसका नाम 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' होगा। समस्त आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पुरुषार्थ को संयुक्त करके आर्य जगत की समुचित व्यवस्था करना, उसका मुख्य कर्त्तव्य होगा। यह सभा अपने नियमादि स्वयं बनावेगी।

48. यह उपनियम आवश्यकतानुसार 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' द्वारा ही संशोधित किये जा सकेंगे।

(4) **आर्य समाज का एक शताब्दी का विस्तार कार्य**—दयानन्द सरस्वती का स्वर्गवास अपने मिशन के पूरा होने के पहिले ही हो गया। आर्य समाज की स्थापना के बाद उन्हें केवल 11 वर्ष का जीवन और मिला। आर्य समाज अपने द्वारा दीक्षित लोगों को राजनैतिक प्रेरणा देकर स्वतन्त्रता के आन्दोलन हेतु क्रान्तिकारी संस्थाओं या कांग्रेस या हिन्दुत्व निष्ठ संस्थाओं में भेजता रहा है। अनेकों अन्य आर्य समाजी कार्यकर्त्ता निर्माणात्मक कार्यों में चले गये, यथा—हिन्दी प्रचार, गौरक्षा, विधर्मियों की शुद्धि, हिन्दू संगठन, नशा-निषेध, स्वदेशी-प्रचार, अनाथालय एवं विधवाश्रम स्थापना, शिक्षा-प्रचार, अछूतोद्वार, स्त्री-शिक्षा और संस्कृत भाषा उन्नयन। आर्य समाज संस्थान का प्रबन्ध द्वितीय श्रेणी के लोगों के हाथ में रह गया। ये लोग प्रायः सरकारी कर्मचारी थे। सरकारी कर्मचारी दूरदर्शी होते हैं। उनकी दृष्टि स्वराज्य के बाद की स्थिति पर भी थी, जब इस तन्त्र को चलाने के लिए अनेकानेक चरित्रवान व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती। अतः जाने अनजाने 100 वर्षों का समय संस्था ने स्थिर होने में लगाया है। उत्साही व्यक्तियों को विभिन्न राजनैतिक दलों में भेज दिया गया ताकि वे वहाँ अपने प्रभाव द्वारा नीति-निर्देशन को गलत दिशाओं में जाने से रोकें। 100 वर्ष की विस्तारात्मक उपलब्धि निम्न प्रकार है :

(1) सारे देश में आर्य समाजियों की संख्या 1971 में लगभग एक करोड़ थी।

(2) हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों और पंजाब में यह जन-जन में व्याप्त हो चुका है। यदि इसे दर्शन और सामाजिक रहन-सहन की एक पद्धति कहें, तो इन अंचलों की जनता का बहुमत आर्य समाज के प्रति आस्था वाला है।

(3) विदेशों में जहाँ कहीं भारत-वंशी जाकर बसे थे, आर्य समाज द्वारा उन्हें उन्हें विधर्मी होने से बचा लिया गया है; और उन्हें भारतीय दर्शन, भारतीय सभ्यता, भारतीय भाषा और भारतीय राष्ट्र के प्रति आस्थावान बना दिया गया है। आर्य समाज की शिरोमणि सभा श्रीमती सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मातहत विदेशों में भी संगठन स्थापित है, जो निम्न प्रकार है :

(1) ब्रह्मदेश (रंगून)
(2) गाइना (जार्जटाउन)
(3) ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका (नेरोबी)
(4) डच गाइना-साउथ अमेरिका (सूरीनाम)
(5) मारीशस (सन्ट पोर्ट लुइस)
(6) थाईलेन्ड (बेन्कोक)
(7) ब्रिटेन (टिथर्टन, लन्डन)
(8) साउथ अफ्रीका (सिडेनहम, वाशिंगटन)
(9) अमेरिका-आर्यनलीग (वाशिंगटन)

इनमें से मारीशस में तो आर्य-लोग बहुमत में होने से शासनतन्त्र इनके ही आधीन है।

(4) सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में भारतवर्ष के सब प्रान्तों में प्रतिनिधि सभाएं संगठित हैं। इन सबके अन्तर्गत उत्तरी भारत के सब जिला स्तरीय तथा तहसील स्तरीय नगरों में आर्य समाजें संगठित हैं। उनके अपने भवन हैं, पदाधिकारी हैं। वहाँ प्रति रविवार एकत्रित होकर उनका सत्संग होता है। इस सत्संग का निश्चित कर्मकाण्ड है। यज्ञोपदेश के बाद सदैव ऋग्वेद के संगठन-सूत्र का पाठ होता है।

(संगच्छध्वं सम्वदध्वं सभ्वोमनांसि जानताम्)
देवा-भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।

(हमारी बातचीत, मन व योजना एक-सी हों। हम सब समान हैं। हम मिलकर अपना वह भाग प्राप्त करें, जो हमारे पूर्वजों ने प्राप्त किया था)। शिक्षा संस्थानों के विकास के साथ हम इस विशाल वृक्ष के वितान का वृतान्त अगले पैरा में देंगे।

(5) **पत्र-पत्रिकाएँ** :—कोई 35 साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रचार कार्य में

दत्तचित हैं। अन्यों द्वारा संचालित हिन्दी दैनिक पत्रों का सम्पादन भी प्रायः आर्य समाजियों के हाथ में है।

(6) **शिक्षा संस्थानों की शृंखला :—** (अ) इसमें गुरुकुल पद्धति पर आधारित 30 महाविद्यालय आदि हैं जहाँ शिक्षा का माध्यम संस्कृत है। इनमें से निम्न तीन को विश्वविद्यालय का दर्जा (University Grants Commission) ने दिया हुआ है।

(1) गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार)

(2) गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार)

(3) गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन (मथुरा)

(ब) निम्न स्थानों पर डी० ए० वी० डिग्री एवं पोस्ट ग्रेजुएट कालेज हैं :

उत्तर प्रदेश : अमेठी, लखनऊ, कानपुर, मुजफ्फर नगर, उरई, वाराणसी, इलाहाबाद, देहरादून

पंजाब : लुधियाना, मोगा, नवाँशहर, चण्डीगढ़, जालन्धर, अमृतसर, पठानकोट, बंगा।

विभिन्न : सीवान, (बिहार), शोलापुर (महाराष्ट्र), दिल्ली, लाटूर (आन्ध्र), अजमेर (राजस्थान)

हरियाणा : रामामन्डी, पानीपत, अम्बाला, नांगल, हिसार, यमुनानगर, रोहतक।

(स) हाई स्कूल और इस तक के शिक्षा संस्थानों की संख्या कोई 500 के लगभग होगी।

ऐसा अनुमान है कि इन शिक्षा संस्थानों में कोई 50 लाख विद्यार्थी शिक्षा पा चुके हैं और लगभग 10 लाख इस समय शिक्षा पा रहे हैं। इन पर कोई सात करोड़ रुपया वार्षिक का व्यय होता है।

(ह) **आर्य समाज का संगठन एवं प्रान्तवार अन्य संस्थाएँ :**

संख्या	जिले का नाम	जिले में आर्य समाजों की संख्या	जिले में हाईस्कूल स्तर के स्कूलों की संख्या	संख्या	जिले का नाम	जिले में आर्य समाजी की संख्या	जिले में हाई स्कूल स्तर के स्कूलों की संख्या
1	2	3	4	1	2	3	4
पंजाब							
1.	गुरुदासपुर	80	4	4.	कपूरथला	19	1
2.	अमृतसर	26	6	5.	करनाल	145	10
3.	जालन्धर	38	33	6.	गुड़गाँव	52	3

1	2	3	4	1	2	3	4
7.	होशियारपुर	21	12	16.	रोहतक	218	10
8.	काँगड़ा	27	5	17.	दिल्ली	72	52
9.	लुधियाना	13	4	18.	हिसार	106	4
10.	फिरोजपुर	21	7	19.	जम्मूकश्मीर	12	5
11.	अम्बाला	80	22	20.	जीन्द	2	0
12.	शिमला	22	3	21.	पटियाला	7	8
13.	महेन्द्रगढ़	18	2	22.	नाभा	7	3
14.	भटिण्डा	13	5	23.	चण्डीगढ़	13	3
15.	संगरूर	56	3	24.	विभिन्न	50	9

मध्यप्रदेश व विदर्भ

1.	जबलपुर	11	2	16.	रायगढ़	3	
2.	दमोह	1		17.	सरगुजा	5	
3.	सागर	2	1	18.	रीवां	1	
4.	नरसिंहपुर	2		19.	छतरपुर	1	
5.	बालाघाट	1		20.	सतना	1	
6.	छिन्दवाड़ा	1		21.	शहडोल	4	
7.	सिवनी	1		22.	नागपुर	7	1
8.	मन्डला	2		23.	भंडारा	1	
9.	होशंगाबाद	6		24.	चान्दा	2	
10.	खण्डवा	3		25.	वर्धा	1	
11.	बेतूल	3		26.	अमरावती	9	
12.	रायपुर	6		27.	यवतमाल	5	
13.	दुर्ग	3	1	28.	अकोला	6	
14.	बस्तर	1		29.	बुलढाना	2	
15.	बिलासपुर	2		30.	विभिन्न	34	

राजस्थान

1.	अजमेर	22	11	6.	भरतपुर	9	1
2.	जयपुर	11	3	7.	अलवर	16	2
3.	जोधपुर	12	3	8.	गंगानगर	6	
4.	पाली	6		9.	बीकानेर	3	
5.	सिरोही	45		10.	चुरू	4	

1	2	3	4	1	2	3	4
11.	उदयपुर	6		18.	नागौर	12	
12.	चित्तौडगढ़	3	1	19.	सवाई माधोपुर	6	
13.	बाँसवाड़ा	2		20.	सीकर	3	
14.	भीलवाड़ा	7		21.	झुंझनू	3	
15.	बून्दी	2		22.	बाड़मेर	2	
16.	कोटा	15	2	23.	विभिन्न	29	
17.	झालावाड़	4					

मध्यभारत

1	2	3	4	1	2	3	4
1.	सिहोर	9	3	10.	भिन्ड	3	
2.	विदिशा	5		11.	शाजापुर	2	
3.	गुना	3		12.	राजगढ़	1	
4.	शिवपुरी	2		13.	ब्यावरा	2	
5.	देवास	2		14.	रायसेन	4	
6.	उज्जैन	5		15.	रतलाम	5	
7.	इन्दौर	5		16.	मन्दसौर	4	
8.	ग्वालियर	9	1	17.	झबुआ	4	
9.	मुरैना	6	1	18.	विभिन्न	30	

उत्तर प्रदेश

1	2	3	4	1	2	3	4
1.	अलीगढ़	84	4	14.	वाराणसी	20	1
2.	आगरा	38	12	15.	बरेली	24	4
3.	आज़मगढ़	28	1	16.	बाराबंकी	10	1
4.	इटावा	16	2	17.	बस्ती	10	3
5.	इलाहाबाद	24	3	18.	बिजनौर	28	8
6.	एटा	28	4	19.	बुलन्दशहर	32	4
7.	कानपुर	32	2	20.	मथुरा	40	5
8.	गढ़वाल	12	1	21.	मिर्जापुर	20	1
9.	गोंडा	10	1	22.	मुजफ्फरनगर	60	6
10,	गोरखपुर	40	1	23.	मुरादाबाद	38	3
11.	जालौन	22	4	24.	मेरठ	62	13
12.	झाँसी	12	2	25.	मेनपुरी	18	7
13.	देहरादून	16	1	26.	रायबरेली	22	1

1	2	3	4	1	2	3	4
27.	नेनीताल	10	2	34.	लखनऊ	20	2
28.	पीलीभीत	24	2	35.	लखीमपुर	26	1
29.	प्रतापगढ़	22	1	36.	शाहजहाँपुर	41	2
30.	फतेहपुर	18	1	37.	सहारनपुर	38	6
31.	फर्रुखाबाद	16	2	38.	सीतापुर	24	2
32.	फैजाबाद	24	3	39.	हरदोई	22	1
33.	बदायू	18	3	40.	विभिन्न	200	–
	विस्तार भय से पूर्ण वृत्तान्त नहीं दिया है।						
बंगाल							
1.	कलकत्ता नगर	14	6	3.	आसनसोल	6	2
2.	हुगली	9	1	4.	हावड़ा	5	1
	विभिन्न	22					
बिहार प्रान्त							
1.	छपरा	3	2	6.	समस्तीपुर	4	–
2.	मुन्गेर	6	–	7.	दरभंगा	3	–
3.	मोतीहारी	4		8.	भागलपुर	5	1
4.	मुजफ्फरपुर	16		9.	आरा	55	2
5.	पटना	21	3	10.	राँची	22	–
					विभिन्न	28	–

13.3 उद्‌बोधन

ऊपर आर्य समाज के फैलाव का सविस्तार वर्णन करने का प्रयोजन यह है कि पाठकों को आर्य समाज से परिचित कराया जा सके। बर्नाड शा ने ईसा मसीह पर दया प्रगट करते हुए लिखा है कि, उसने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कोई राजनैतिक-तन्त्र नहीं खड़ा किया। सो आज उस गरीब की मूर्ति ही पूजा के लिए रह गई है। उसने राज्य के क्षेत्र में सीजर को स्वीकार-सा कर लिया था, अतः राजदर्शन को ईसा की कोई देन नहीं मानी जाती है।

सम्राट कान्स्टेन्टाइन ने जब ईसाईधर्म स्वीकार कर लिया तो यहूदियों और रोमनों की कटुता समाप्त हो गई और ईसाई धर्म राज-धर्म हो गया। कहा जाता है कि सम्राट् ब्लाडी मोर फर्स्ट ने यहूदी—पारसी तथा ईसाई सब धर्मों के विद्वानों को बुलाकर उनके दर्शन शास्त्र पर चर्चा की। वह यहूदी धर्म वक्ता से प्रभावित था। उससे उसने पूछा कि तुम्हारा किस भूभाग पर राज्य है। वे चुप रह गए। ईसाइयों ने कहा कि रोमन सम्राट् कान्सटैन्टा स्वयं ईसाई हैं। तो ब्लाडीमोर ने कहा राजा को

सम्पर्क रखने के लिए राजा चाहिए। वह ईसाई हो गया। सारा रूस ईसाई हो गया।

अस्तु हर दर्शन की मान्यता वाला एक भूभाग होता है। उस भूभाग की एक राष्ट्रीयता होती है। उस राष्ट्रीयता के शासन के माध्यम से ही वह दर्शन विश्व में विकसित होकर विश्व संस्कृति के ह्रास का या विकास का कारण बनता है।

आर्य समाज का उद्देश्य :—हरियाणा से प्रारम्भ होकर यह समूचा भारत—राष्ट्र आर्यत्व की वैदिक श्रृंखला में आना है। दयानन्द का यही स्वप्न था। फिर यह वैदिक दर्शन, देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में जाना था। कृण्वन्तो विश्वमार्यम् के उद्घोष में यही महत्वाकांक्षा छिपी हुई थी। प्रागैतिहासिक काल में विज्ञान और यातायात के अभाव में आर्य-रक्त ने खैबर के दर्रे से निकलकर ब्रितानिया द्वीप तक संस्कृति का दान दुनिया को दिया था। कोई 5000 वर्ष पूर्व महात्मा कृष्ण ने भारत को एक महाभारत में बदला था। आज वैज्ञानिक सम्पन्नता के युग में यह थाति फैलाना आर्य समाज का यह कार्यक्रम है। यह सम्भव है, सम्भावना की परिधि में है।

4. करोड़ आबादी वाले योरुप के एक उपजाऊ और सुसंस्कृत देश इटैली में जब मुसोलिनी ने फासीवाद पर आधारित अपनी इयत्ता स्थापित की थी तब उसके समर्थकों की संख्या केवल 10 लाख ही थी। उसी प्रकार 16 करोड़ की आबादी वाले प्रदेश रूस में कम्युनिस्टों की संख्या केवल 30 लाख थी।

(Ancient Versus Modern Socialism by Dr. Bhagwan Das. Page 165 & 166) भारत में 1947 में कांग्रेस पार्टी के सदस्यों की संख्या 20 लाख से अधिक नहीं थी जबकि उन्होंने 50 करोड़ की आबादी वाले देश का शासन प्राप्त किया था। कोई कारण नहीं कि 1 करोड़ की आबादी वाले, आर्य समाजियों द्वारा जिनमें अवश्य ही 60 लाख वयस्क होंगे, राज्य संस्थान अपने हाथ में न लिया जा सके।

14
प्रतिवाद से सम्वाद की ओर

आर्य दर्शन द्वारा भारत की संघ राजनीति में सुझाये परिवर्तन की रूपरेखा

14.01 स्वतन्त्र भारत के प्रथम विधान-निर्माण की प्रक्रिया

द्वितीय विश्व युद्ध (1939-1945 ई०) के बाद ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार स्थापित हुई थी। उनकी मान्यता थी कि, उपनिवेशों (Colonies) के ब्रिटिश शासनान्तर्गत होने से उनके देश की पूंजी सस्ती मजदूरी के लालच में वहाँ जाकर प्रनिस्थापित हो जाती थी। उन्होंने हिसाब लगाकर देखा था कि, ब्रिटेनस्थ मजदूरों का इस प्रक्रिया में अनहित होता था। इधर भारत में, 1942 में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन तथा 1945 में नाविक सेना ने सशस्त्र विद्रोह किया था। सैनिकों का विद्रोह 1857 के बाद 1945 में, पहली बार हुआ था। फलतः ब्रिटिश सरकार ने भारत छोड़ने का निश्चय कर लिया। 1945 में वेवेल योजना लार्ड वेवेल ने प्रस्तुत करके नेताओं की कान्फ्रेन्स शिमला में की। उसने प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनाव भी नवम्बर 1945 में करवा डाले। ब्रिटिश लोक सभा मुसलमानों को सन्तुष्ट भी करना चाहती थी, पर वह भारत के विभाजन के विरुद्ध थी। अतः केबिनेट के तीन मन्त्री 1946 में आकर भारत में कांग्रेस और मुस्लिम लोग से लम्बी मन्त्रणा किये। निश्चय हुआ कि भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी बहुमत भागों के मुस्लिम बहुमत प्रान्तों में उपसंघ बना दिये जावेंगे। शेष प्रान्त भारत उपसंघ में रहेंगे। फिर तीनों का भारतीय महासंघ होगा जिसके पास प्रतिरक्षा, विदेशी मामले तथा अर्थतन्त्र का संचालन और संचार विभाग रहेंगे। सारे देश में अर्थात् देशीराज्यों वाला भाग छोड़कर, ब्रिटिश भारत में उस समय की अति न्यून वोटर संख्या में से ही प्रान्तीय विधान सभाओं का निर्माण कराने हेतु लार्ड वेवल चुनाव करा चुके थे। इनमें वोट का अधिकार नगर में

मकान मालिकों अथवा गृह-कर देने वालों का तथा ग्रामों में कृषिकर देनेवालों को ही था। वोटों की संख्या जनसंख्या का दसवां भाग मात्र थी। इस चुनाव में हिन्दू सीटों पर कांग्रेस तथा मुस्लिम सीटों पर मुस्लिम लोग विजयी हुई थी। कालान्तर में इन प्रान्तीय पार्षदों के वोटों द्वारा ही विधान-निर्मात्री-परिषद (Constituent Assembly) संगठित की गई। देश ब्रिटिश शासन से मुक्त होना चाहता, अतः राज-संचालन या राजदर्शन सम्बन्धी अथवा आर्थिक नीतियों के आधार पर कांग्रेस को कोई मैन्डेट नहीं मिला था। अंग्रेजी सरकार इस विधान-निर्मात्री-परिषद को उत्तराधिकारी घोषित करके चले जाना चाहती थी। 1946 के आते आते प्रान्तों में 1935 के एक्ट के अनुसार और केन्द्र में एक मिली-जुली अन्तरिम सरकार बना दी गई थी। इस अन्तरिम सरकार में तीन घटनायें हुईं। गृहमंत्री सरदार पटेल ने अपने निवास पर देशी ढंग से दरी, गलीचे आदि के बिछावन सरकारी खर्चे से खरीद लिए। नियमानुसार इसकी पूर्व स्वीकृति लियाकत अली खाँ के वित्त मंत्रालय से लेना आवश्यक था। यह आज्ञा न मिलने से विवश हो, सरदार पटेल ने यह भुगतान कांग्रेस फंड से करवा दिया। दूसरी घटना यह थी कि अन्तरिम सरकार में पंडित नेहरू अपना दर्जा उप-प्रधान का (वाइसराय के बाद) समझते थे। उन्होंने केबिनेट की कई बैठकें बुलाईं, पर उसमें लीगी प्रतिनिधि नहीं आये। उन्होंने कहा कि, उप-प्रधान के पद की व्यवस्था समझौते में नहीं थी। तीसरी घटना यह थी कि वे यह भी कहते थे कि, मुसलमानों के मात्र वे ही प्रतिनिधि हैं। अतएव कांग्रेस ने हिन्दूकोटा में से जो तथाकथित राष्ट्रीय मुसलमान ले रखे हैं, वे किराये के व्यक्ति-मात्र हैं। वे उनके साथ नहीं बैठ सकते। बाद में पंडित नेहरू ने उपसंघों के अधिकारों के सम्बन्ध में कुछ शंका प्रकट की। बस अन्तरिम सरकार का विच्छेद हो गया। मुस्लिम लीग ने बंटवारे और शुद्ध पाकिस्तान की मांग दुहराई। शीघ्र न माने जाने पर नौआखाली बंगाल में हिन्दुओं का कत्लेआम प्रारम्भ कर दिया। बदले में बिहार में मुसलमानों पर भी आक्रमण हुए जिन्हें नेहरू ने हवाई जहाज से हिन्दू ग्रामों पर बम वर्षा करके दबा दिया। सीमाप्रान्त और पंजाब में हिन्दुओं का भीषण रक्तपात हुआ तो पूर्वी पंजाब एवं दिल्ली व पश्चिमी-उत्तरी प्रदेश में मुसलमानों का खून बहा। उपरोक्त वर्णित विधान-निर्मात्री-सभा का प्रथम सूत्र 9-12-1946 को बुला कर पंडित नेहरू ने विधान के मूलभूत सिद्धान्त पास कर डाले थे। विधान को अल्पमतों द्वारा मान्य बनाये रखने की अपनी प्रक्रिया में चार बातें इन मूलभूत सिद्धान्तों में आई थीं :

(1) भारत एकात्मक (unitary) इकाई न होकर संघ-राज्य होगा (Federation) अर्थात् सूबों को स्थानिक स्वराज्य प्राप्त रहेगा।

(2) भारत की राजभाषा हिन्दी न होकर हिन्दुस्तानी (अरबी-फारसी मिश्रित) भाषा होती जो देवनागरी और खरोष्ट दोनों लिपियों में लिखी जा सकती।

(3) विधान सभाओं में अल्पमतों के स्थान सुरक्षित रखे जाते यद्यपि सम्मि-

लित चुनाव (Joint Electorate) होते ।

(4) अल्पमतों के धर्म, भाषा, लिपि, कानून, संस्कृति और संस्थाओं की पूर्ण स्वतन्त्रता सुरक्षित होती ।

परन्तु इसी बीच राज्य सत्ता शीघ्र प्राप्त करने के उद्देश्य से नेहरू-पटेल दोनों ने जून 1947 में माउन्टनबेटन की योजना अर्थात् भारत-विभाजन स्वीकार कर लिया । तब विभाजन को अंग्रेजों ने भी मान लिया, क्यों कि दोनों पृथक् पार्टियों ने स्वतन्त्र होने पर ब्रिटिश कामन वेल्थ में बना रहना स्वीकार किया था । 13 जून 47 को ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग को सत्ता सौंप कर भारत को एक वर्ष में स्वतन्त्र करने का कानून पास कर दिया । बाद में एक वर्ष का समय घटाकर 15 अगस्त 47 को ही यह कानून लागू करने की बात भी मान ली गई ।

कांग्रेस ने विधान निर्मात्री परिषद में योग्य आदमियों का अभाव देखकर विभिन्न गैर-कांग्रेसी कानूनवेत्ता लोगों को भी लिया । ईसाई, मुसलमान, पारसी और सिख सबके प्रतिनिधि लिये । पर वे सब प्रायः अंग्रेजी माध्यम से पश्चिमी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति थे । आर्य समाज प्रभृति विशुद्ध राष्ट्रवादी संस्थानों का उसमें कोई व्यक्ति नहीं था । 1947 से 1950 तक विधान बनता रहता । विधान निर्मात्री सभा ही लोक सभा करार दे दी गई और अन्तरिम काल में वही शासन भी करती रही ।

14.02 विधान की आधारभूत त्रुटियाँ

(1) एक भारत में मुस्लिमों को सन्तुष्ट रखने के लिए जिस संघ-व्यवस्था (Federation) को 1935 में अंग्रेजों ने स्थापित किया था, और विभाजन के निश्चय के पूर्व उन्हें प्रलोभन देने के लिए जो व्यवस्था 15-8-1947 से पहले प्रस्तावित की थी, वह विभाजन के बाद भी रहने दी गई ।

(2) अल्पसंख्यकों के पृथक् नागरिक कानून विभाजित-भारत में भी जैसे के तैसे रहने दिये गये हैं । इनका उद्देश्य अल्पसंख्यक वोटों का एकाधिपत्य बनाये रखना था । पर वास्तव में इन संरक्षणों ने अल्पमतों को राष्ट्र के अन्दर राष्ट्र (Nation with in a Nation) बने रहना दिया है ।

(3) प्रान्तीय व्यवस्थापक (M. L. A.) जिन्होंने विधान-निर्मात्री सभा का निर्माण किया था, स्वयं देश की 10 प्रतिशत आबादी द्वारा चुने गये थे । जिन्हें सम्पत्ति वाला होने के ही नाते वोट का अधिकार प्राप्त था । अतः उनके द्वारा बनाया गया यह विधान सब वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं करता ।

(4) इन प्रान्तीय विधायकों का चुनाव 1945 में किसी राष्ट्रीय-नीति या राजदर्शन या अर्थनीति के मेन्डेट के आधार पर नहीं हुआ था । उस समय देश का केवल एक ही नारा था, कि हमें स्वराज्य चाहिए और जिस नारे की प्रतीक कांग्रेस थी । इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्हें वोट दिया गया था ।

(5) तत्कालीन देशी राज्यों की जनता इस चुनाव से वंचित कर दी गई थी,

जो कि कुछ जनसंख्या की चौथाई होती थी।

(6) ब्रिटिश कामन वैल्थ में बना रहना स्वतन्त्रता की पूर्व शर्त थी, पर विधान में उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं था। फलस्वरूप 1947 के बाद होने वाले चीनी आक्रमणों को हमें अकेले सहना पड़ा और हम अपार जन-धन की हानि सहते हुए हार गये।

(7) विधान-निर्माण में देश के आस्तिक सम्प्रदायों, आर्यसमाज तथा भारत के प्राचीन गौरव में विश्वास रखने वाले किसी संगठन को नहीं बुलाया गया था।

(8) भारत के विधान में भारत का मौलिक चिन्तन कहीं परिलक्षित नहीं होता। वह राष्ट्रसंघ (United Nations) के चार्टर (Human Rights Charter) तथा अन्य योरुपीय राज्यों के विधानों की नकल मात्र है। उसमें गांधीजी के विचारों तक की भी गन्ध नहीं है। परिवार, वर्ण, आश्रम, गुरुकुल किसी भी भारतीय संस्था का प्रवेश नहीं है।

(9) वह अंग्रेजी भाषा में होने से क्लिष्ट तथा दो अर्थ रखने वाले कानूनी शब्दों से भरा हुआ है, और फलस्वरूप भीषण मुकदमा बाजी का कारण सिद्ध हुआ।

(10) उसमें योग्य और त्यागी तपस्वी व्यक्तियों के अधिकारों की सतत उपेक्षा करके और वयस्क मताधिकार एवं प्रत्यक्ष चुनाव का प्राविधान करके, अल्प-बुद्धि (Medicore) लोगों का तन्त्र स्थापित कर दिया गया है।

(11) उसमें वर्ग सहयोग न लाकर, वर्ग विरोध (Class war) का आह्वान किया गया है।

(12) नागरिकों के अतिरिक्त, व्यक्तियों मात्र को चाहे वे किसी देश के नागरिक हों, धर्म परिवर्तन कराने का अधिकार दिया गया है।

(13) बिना मुकदमा चलाये नागरिकों को जेल में डालने का विधान है।

(14) सम्पत्ति के अधिकार की दुर्दशा की गई है।

(15) उसमें भारत की नैसर्गिक तथा पूर्वापर की सीमा की पुनर्स्थापना की कोई महत्वाकांक्षा नहीं है।

(16) एक राष्ट्रीय भाषा के प्रचलन के प्राविधान बहुत लचर हैं।

14.03 विधानों के परिवर्तन की प्रक्रिया

(क) प्रायः विधान निर्मात्री शक्ति की कोई सीमाएँ नहीं होती। पर विधान संशोधन की प्रक्रिया विधान में ही दे दी जाती है। 1972 में इन्दिरा सरकार का 523 से अधिक बहुमत मिला बताया था। इस सरकार ने दो-तीन वर्ष में ही 1950 में निर्मित विधान को अत्यधिक बदल दिया है। एक बार बने विधान द्वारा समकालीन पीढ़ी ही शासित होती है। हालांकि विधान बनाने वाले ऐसी कल्पना करते हैं कि वे सर्वगुण सम्पन्न हैं, और आगे आनेवाले पीढ़ियों के लिए कीर्ति स्तम्भ माने जाने चाहिएँ।

1814 में फ्रांस की क्रान्ति के बाद बने विधान के (Preamble) आमुख में यह शब्द आये हैं :

"हम अपने और सदा के लिए यह विधान बनाते हैं।" यह उपहासास्पद है। विधान सदैव संशोधित किये जा सकते हैं। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

(ख) विधान संशोधन के विश्व में कई प्रकार हैं :

(1) चीन के विधान में एक स्थाई राष्ट्रीय सभा केवल विधान संशोधन के लिए बना दी जाती है, जो पृथक् चुनी जाती है और वह यथावश्यकता विधान बदलती रहती है।

(2) कहीं-कहीं लोक सभायें बहुमत मात्र से विधान बदल देती हैं, पर आधार-भूत परिवर्तन के मुद्दे नये चुनाव का मुख्य प्रश्न बना कर चुनाव में विजयी हो उसे उस परिवर्तन के सम्बन्ध में प्रजा का आदेश (Mandate) मान कर ही तत्सम्बन्धी प्राविधान करने की वहाँ की परम्परा होती है, जैसी ब्रिटेन में है।

(3) लोक सभाओं को 2/3 के बहुमत से विधान बदलने का अधिकार होता है जैसे रूस में।

(4) विधान में लोक सभा के 2/3 के बहुमत से पारित संशोधन सम्पुष्टि के लिए प्रजा के समक्ष (Referendum) के रूप में रक्खे जावें, जैसा कि स्विटजरलैंड में होता है।

(5) संघ राज्यों में यह संशोधन निर्माता राज्यों के बहुमत को सम्पुष्टि के लिए भेज दिये जाते हैं, जैसा संयुक्त राज्य अमेरिका में तथा आस्ट्रेलिया में किया जाता है।

(6) संयुक्त राष्ट्र का विधान बदलने की विशिष्ट प्रक्रिया है।

(अ) महासभा संशोधन अपने 2/3 के बहुमत से पारित करके सुझाव सदस्य राज्यों को भेजती है। बड़े पाँच (Big Five) में से हरेक तथा कुल सदस्य राज्यों के 2/3 राज्यों द्वारा स्वीकृत होने पर ही विधान संशोधित किया जा सकेगा।

(ब) पर ऐसा भी प्राविधान है कि विधान पारित होने (1945) के हर 10 वर्ष बाद सदस्य राष्ट्रों की एक बैठक चार्टर पर विचार करेगी और 2/3 के बहुमत से जिसमें पाँचों बड़े राष्ट्र सहमत हों, विधान को संशोधित कर सकेगी।

(7) इस विषय में भारत का विधान निम्न प्रक्रिया प्रस्तुत करता है— प्रत्येक संशोधन प्रस्ताव बिल का रूप लेता है। अर्थात् दोनों सदनों में पास होकर राष्ट्रपति की स्वीकृति से लागू होगा। दूसरे सदन द्वारा पारित होना भी आवश्यक है क्योंकि वह राज्यों का प्रतिनिधि है। पर पारित होने के लिए बहुमत की मिकदार भिन्न-भिन्न है :—

(अ) आर्टीकल 2-3 जिनमें राज्यों की सीमा व नामकरण का उल्लेख है साधारण बहुमत से ही संशोधित हो सकते हैं।

(ब) आर्टीकल—368 के अनुसार कुछ संशोधन हर सदन के स्पष्ट बहुमत

से तथा उपस्थित सदस्यों के 2/3 के बहुमत से ही पारित हो सकते हैं। पर राष्ट्रपति का चुनाव, संघ तथा राज्यों में विभाजित कार्यक्रम तथा स्वयं धारा 368 का संशोधन इतनी प्रक्रिया मात्र से संशोधित नहीं हो सकता।

(स) ऐसे महत्त्वपूर्ण संशोधनों के लिए भारत राष्ट्र के कुल राज्यों की संख्या के कम से कम आधे राज्यों द्वारा अपनी-अपनी विधान सभाओं द्वारा बहुमत से उक्त संशोधनों की सम्पुष्टि आवश्यक है। गोलकनाथ केस 1967 के अनुसार मूलभूत अधिकारों (Fundamental Rights) में संशोधन करने के लोक सभा के अधिकार को सर्वोच्च न्यायालय ने नहीं माना था। पर अप्रैल 1973 में 7 व 6 से दिये केशवानन्द भारती वाले मुकदमे के निर्णयानुसार यह अधिकार मान लिया गया है बशर्ते कि विधान के मूलभूत ढाँचे में परिवर्तन न किया जाय। 1975 में इन्दिरा गांधी की अपील वाले मामले में भी सुप्रीम कोर्ट की खण्डपीठ ने यह बात कायम रक्खी है। पर मूलभूत (Basic) शब्द की परिभाषा न हुई है, न हो सकती है। मूलभूत अधिकारों पर यथावश्यक बन्दिश लगाने का अधिकार विधान में ही दे दिया गया है। तदन्तर लोक सभा ने ऐसा संशोधन 1974 में विधान सभा में कर दिया है कि लोक सभा मूलभूत अधिकारों को भी बदल सकती है। वास्तव में एक पीढ़ी अपने जीवन काल तक के लिए ही विधान बना सकती है कि इन बन्दिशों की क्या सीमा हो। एक पीढ़ी की आयु 25 वर्ष हो सकती है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की नकल पर 10 के स्थान पर हर 25 वर्ष बाद यहाँ भी सारे देश से इसी उद्देश्य के हेतु चुने प्रतिनिधियों की एक विधान निर्मात्री कान्फ्रेन्स होनी चाहिए। भारत का विधान 1950 में पारित हुआ था। उस समय विधान पारित करते समय जिन बाध्यकारी परिस्थितियों की विद्यमानता थी, वे अब नहीं है। इनका पीछे उल्लेख हो चुका था। इस बीच एक नयी पीढ़ी वयस्क हो गई है। उसमें उदीयमान राष्ट्रीय अंश भी हैं। राष्ट्रीयता से विमुख अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के समर्थक अंश भी हैं। और इन दोनों के बीच मध्यम स्थिति वाले अंश भी है। अतः सब लोग मिल कर पुनः आगामी 25 वर्ष के लिए विधान की सीमाओं को वाद-विवाद और साधारण सहमति (Consensus) से पारित कर लें। इसमें राष्ट्र के विविधमना चिन्तकों को (Proportional Represantation) अनुपातिक मत-प्रणाली द्वारा चुनवाया जाये।

इस प्रणाली का प्रयोग इस प्रकार होवे कि विभिन्न चिन्तन प्रणाली वाले दल अपने प्रतिनिधि खड़े करें और सारे देश के लोग चाहे वे कहीं भी रहते हों, किसी को भी अपना प्रथम एवं द्वितीय मत दे सकें। कुल मतों की संख्या में कुल सीटों का भाग देकर एक मत संख्या स्थिर कर दी जाय। उतने प्रथम मत पाने पर उस प्रार्थी को सफल घोषित माना जाय। उसके शेष मत उसी पक्ष के द्वितीय मत वाले को दे दिये जायें। इस प्रकार ऐसी विधान संशोधन कर्त्री सभा का निर्माण होगा जिसमें देश के सब प्रकार से योग्यतम व्यक्ति अपनी बात सबके समक्ष स्वीकार करने हेतु प्रस्तुत कर सकेंगे। कुल के आधे तथा उपस्थित के 2/3 के बहुमत में संशोधन स्वीकार कर लिये

जावे । इस प्रकार देश को गृह युद्ध से भी बचाया जा सकेगा जो कि इंडोनेशिया और पुर्तगाल में पक्षों को लड़ने पड़े। ऐसा न्यायसंगत कदम देश में अवश्य उठेगा। इस विधान निर्मात्री में आर्य समाज सर्वतोभावेन भाग लेगा। और आर्य राष्ट्र एवं वैदिक संस्कृति के सिद्धान्तों को विधान सभा में निष्पन्न कराने का प्रयत्न करेगा। इन संशोधनों का क्या रूप हो, यह हम आगे प्रस्तावित करते हैं । प्रतिवाद से सम्वाद की ओर लौटने का यह भावी उपक्रम है जो आर्य समाज द्वारा ही पूर्ण हो सकेगा ।

विधान का इस समय का रूप एवं प्रस्तावित संशोधन दोनों देने से इस शोध का कलेवर अत्यधिक बढ़ जाता है । अतएव यहाँ उन्हीं मुख्य धाराओं को लिखते हैं जिनमें संशोधन अभीष्ट है, सो भी संशोधित रूप में । उनकी इस समय के रूप में स्थिति भी नहीं लिखी है। कुछ धारायें पूर्व-वत बनी रहेंगी । छोटे-मोटे परिवर्तन (Conssquential Changes) बाद में किये जा सकते हैं: पीछे वैदिक सभ्यता के बारे में जो कुछ पक्ष स्थापन कर आये हैं उन्हीं के परिपेक्ष्य में भारतीय, विधान का यह संशोधित रूप होना अभीष्ट है। विद्वज्जन मूल वैदिक सिद्धान्तों के अनुरूप इनमें और संशोधनों का भी सुझाव दे सकते हैं। यह तो इस शोध द्वारा प्रस्तुत ढाँचा है, जिस पर और उहापोह होना सर्वथा सम्मान्य भी है, और वांछनीय भी ।

अस्तु, इस प्रस्तावना के साथ दयानन्द के सपनों के भारत का वेद-सम्मत परिवर्तनीय प्रारूप प्रस्तुत है।

14.04 भारत के विधान में प्रस्तुत संशोधन ।

नोट :—आर्टिकल की संख्या यहां वही है जो भारत के मूल हिन्दी विधान में है।

भाग 1

भारत राष्ट्र और उसकी सीमा

(1) इस देश का नाम भारतवर्ष है ।

(2) इसकी सांस्कृतिक सीमा उत्तर में तिब्बत से लंका होकर मोरीशस तक तथा पश्चिम में बर्मा व यव द्वीप से आर्यस्थान (ईरान) तक है। इनसे मिलकर महाभारत बनता है ।

(3) इसकी राष्ट्रीयता आर्य राष्ट्र है जिसमें संस्कृत अथवा उससे निकली भाषायें बोली जाती हैं और जिसका सांस्कृतिक विस्तार पूर्व में यव द्वीप (जावा) से पश्चिम में सारे दक्षिणी योरुप समेत ब्रिटेन तक है।

(आ) भारत के राज्य क्षेत्र में ।

(क) इस समय के प्रान्तों के क्षेत्र ।

(ख) उन भाषा-भाषियों के क्षेत्र होंगे जिन भाषाओं का श्रोत संस्कृत नहीं है और वे केन्द्र के तुरन्त आधीन होंगे ।

(स) ऐसे अन्य क्षेत्र जो अर्जित किए जावेंगे ।

(2) संसद सम्बन्धित क्षेत्र के गृहस्वामी नागरिकों के परिवार के 3/4 के बहुमत से जनमत की प्रक्रिया (Plebicite) द्वारा देशान्तर्गत नए प्रान्तों का निर्माण, नाम-परिवर्तन, उनकी सीमाओं का घटाव-बढ़ाव कर सकती है। पर ऐतद्विशयक प्रतिवेदन का उस क्षेत्र के सब विधायकों के हस्ताक्षर युक्त राष्ट्रपति की सेवा में भेजा जाना आवश्यक है। एक बार के जनमत के फल के 5 वर्ष तक वैसा ही या लगभग वैसा ही विषय पुनः निर्णयार्थ नहीं उठाया जा सकेगा।

(3)-(4) अनावश्यक

भाग : 2

नागरिकता

(5) (क) जिस व्यक्ति के पिता, पितामह या प्रपितामह भारत में जन्मे हों और जो संस्कृत या धारा 345 में दी हुई उससे निकली कोई भाषा बोलते हों, उनकी सन्तान भारतीय नागरिक कही जावेगी। पर, भारत के बाहर सामान्यतया रहने वालों को नागरिकता तभी मिलेगी जब वे भारत में कम से कम 5 वर्ष रह लिए हों।

(ख) संस्कृतेत्तर भारतीय भाषा-भाषी के पिता, पितामह या प्रपितामह की सन्तान इस शर्त के साथ नागरिक माने जावेंगे कि वे भारत में उत्पन्न किसी दर्शन शास्त्र में आस्था रखते हों।

(ग) जनवरी 26 सन् 1958 को भारतीय सीमा में 5 वर्ष से अधिक से लगातार निवास करने वाले अन्त सब प्रजाजन कहे जावेंगे।

6-7 अनावश्यक

8-9-10-11 यथा पूर्व

भाग : 3

मूल अधिकार

(12) में राज्य के स्थान पर प्रान्त शब्द होगा।

(13 (अ)-(ब)-(स) पूर्ववत तथा (द) निकाल दिया जावेगा।

(14) भारत राजक्षेत्र में—के बाद 'किसी व्यक्ति' के स्थान पर 'किसी नागरिक या प्रजाजन' को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं किया जावेगा।

(15) अनावश्यक है।

(16) राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति तथा नौकरियों की अन्य व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता रहेगी। सुरक्षा

विभाग तथा अन्य गोपनीय स्थानों को छोड़कर यह अधिकार प्रजाजनों को भी प्राप्त होगा।

(अ)-(ब)-(स) भाग निकाल दिये जावेंगे।

(17)-(18) अस्पृश्यता सम्बन्धी—यथा पूर्व।

(19) पूर्ववत पर 6 भाग का रूप यों होगा (6) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का अधिकार होगा, पर इसमें अनैतिक, क्रूर एवं हिंसक कारबार शामिल नहीं है जिनका अनुबन्धन, संसद या प्रान्तीय सरकारों द्वारा किया जा सकेगा।

(अ), (ब), (स), यथा पूर्व

(द)—अनावश्यक, निरस्त।

(20-21) यथा पूर्व।

22-(अ), (ब), (स) यथा पूर्व।

(द), (थ), र) निवारक नजरबन्दी सम्बन्धी, अनावश्यक, निरवत (23-24) यथा पूर्व

25. धर्म स्वातन्त्र्य

नई उपधारा-3

परन्तु लोभ, लालच, आर्थिक सहायता, इलाज, उपचार या जोर-जबरदस्ती से किये या कराये धर्म परिवर्तन अवैध होंगे। एतदर्थ धर्म परिवर्तन करने वाले हर नागरिक को निकटस्थ द्वितीय श्रेणी तक के मजिस्ट्रेट के यहाँ शपथ पत्र देना होगा और मजिस्ट्रेट का कर्त्तव्य होगा कि वह सन्तुष्ट होवे तथा यदि कोई विरोधी-शपथ-पत्र भी तीन दिन के अन्दर दिया जावे तो उस पर भी सात दिन के अन्दर निर्णय दे दे।

(26-27) यथा पूर्व।

(28) अनावश्यक और निरस्त।

(29) यथा पूर्व-इसमें 'नागरिक और प्रजाजन' कर दिया जायेगा। पर संस्कृति शब्द निकाल दिया जावेगा।

(30) यथा पूर्व

(31) (1) कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जावेगा। पर यदि निम्न कारणों से उसकी सम्पत्ति लेना अनिवार्य हो जावे, तो उसे उतने ही मूल्य की सम्पत्ति उसी नगर, ग्राम या क्षेत्र में दी जावेगी और उस व्यक्ति द्वारा यह प्रस्तुत सम्पत्ति स्वीकार न किये जाने पर ही, उसे उस सम्पत्ति पर बाजार भाव का मूल्य सम्पत्ति के वास्तविक हस्तान्तरण वाले दिन ही दे दिया जावेगा। प्रयोजन, जिनके लिए राज्य द्वारा सम्पत्ति ली जा सकेगी:—

(क) नगर निगमों के स्वास्थ्य, विकास या सुधार की स्वीकृत योजनाओं के अन्तर्गत या

(ख) सार्वजनिक परिवहनों के मार्ग, विश्राम या सुधार हेतु

(ग) अन्य अलाभकर प्रयोजन हेतु जिनका राज्य ने राष्ट्रीयकरण कर दिया हो।

परन्तु इस अनिवार्य हस्ताधिकरण प्रक्रिया से पहले सम्पत्ति के स्वामी से बातचीत द्वारा क्रय की बात चलाई जावेगी, और प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के यह प्रमाण पत्र देने के बाद ही अधिग्रहण प्रक्रिया प्रारम्भ की जावेगी कि सम्पत्ति का स्वामी असम्भव शर्तें रख रहा है।

(2) यदि किसी नागरिक या प्रजानन के परिवार में कोई निस्सन्तान मर जाता है और उसके बाबा की किसी सन्तान का भी कोई और वंशज नहीं है तो वह सम्पत्ति वहाँ की स्थानीय निकाय की हो जावेगी। सन्तान से तात्पर्य, पितृप्रधान क्षेत्र में पुत्रादि तथा मातृप्रधान क्षेत्र में पुत्र्यादि से होगा।

(31)-(1) किसी सम्पत्ति को कुप्रबन्ध से नष्ट-प्रायः होते देखकर राज्य अल्पकाल के लिए उसका प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकता है, यदि उस संस्थान में 100 से अधिक कर्मचारी या कारीगर कार्य करते हों।

(शेष सारा भाग निरस्त)

(2) इस विषय में इस संशोधित विधान के पारित होने से पूर्व के कानूनों को केवल इस संशोधन के आधार पर निरस्त नहीं समझा जावेगा। 32 से 35 तक यथा पूर्व पर जम्मू काश्मीर सम्बन्धी धारा 35 निरस्त।

भाग 4

राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व

(36) यथा पूर्व

(37) जब कभी राज्य इन अनुबन्धों की भावना के विरुद्ध कोई निर्णय या कानून बनावेगा, न्यायालय से बाध्यकारी आदर्श प्राप्त किये जा सकेंगे।

(38) राज्य ऐसी व्यवस्था का जिसमें कर्मानुसार फल प्राप्त होने का न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक साधन रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।

(39) (क) हर व्यक्ति की शिक्षा के अन्त में शिक्षा संस्था का प्राध्यापक, उसे उसकी योग्यता और उत्पादन के विशिष्ट क्षेत्र में, उपादेयता का प्रमाण पत्र देगा। हर नागरिक और प्रजाजन को अपने लिए तदनुसार व्यवसाय चुनने का अधिकार होगा। राज्य इस हेतु सब को समान सुअवसर प्रस्तुत करेगा।

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का नियन्त्रण इस प्रकार होगा कि जिससे सार्वजनिक हित का सर्वोत्तम रूप से प्रसाधन हो।

(ग) राज्य किसी सम्प्रदाय में आस्थावान न होगा पर एक निराकार सर्वव्यापक सर्वज्ञ को सारे विश्व का नियन्ता और ज्ञानोतपरेक मानकर उसकी ओर

मात्र उसी की उपासना को प्रोत्साहन देना राज्य को उचित होगा। और इसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ की आदि पुस्तक ब्राह्मण भाग से भी रहित मूल संहिता भाग वेद का प्रसार और शोध करवाना, राज्य का कर्तव्य होगा, क्योंकि वेद धर्म-निरपेक्ष ग्रन्थ (secular) है।

(घ) नागरिकों में ऐसी व्यवहार एवं आचार संहिता बनाई जावेगी ताकि वे सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहें, सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य के विचार करके करें, वे सदैव संसार का उपकार करने को उद्यत रहें, सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तें, अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहकर सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझे तथा सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र एवं प्रत्येक हितकारी नियम पालने में सब स्वतन्त्र रहे।

(ङ) यथा पूर्व

(च) अनावश्यक

(40) ग्राम पंचायतों और नगर नियमों का संगठन योजनाबद्ध रूप से किया जावेगा। उन्हें स्थानीय-शिक्षा, यातायात, स्वास्थ्य, विकास, जल-वितरण, सीमित न्याय-व्यवस्था, कर लगाने, पुलिस सम्पर्क, स्थानीय व्यापारिक व औद्योगिक मंडी के विनियोजन बन-खान, के प्रबन्ध इत्यादि विषयों के महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये जावेंगे।

(41-42-43) यथा पूर्व

(44) भारत के समस्त क्षेत्र में नागरिकों और प्रजाजनों के लिए एक समान व्यवहार संहिता होगी।

(45) विद्या का प्रचार और अविद्या का नाश करना, राज्य का परम पुनीत कर्त्तव्य होगा।

(48) राज्य, कृषि और पशु-पालन को वैज्ञानिक पर अहिंसक प्रणाली से सम्पादित करेगा। विशेषतया या बछड़ों और गाय तथा अन्य दुधारू और भार-वाहक पशुओं के परिरक्षण और सुधारने के लिए प्रयत्न करेगा तथा उनके बध का प्रतिषेध करेगा।

(49) (क) ऐसे सभी स्मारक, स्थान या चलवस्तु, जिनको छल-बल-पूर्वक उनके वास्तविक स्वामी या वर्ग से भूत में छीन लिया गया हो, या नष्ट कर दिया गया हो, उनके स्वाभाविक और मूल स्वामियों को वापस करा दिये जावेंगे।

(ख) संसद द्वारा निर्मित विधि के द्वारा या आधीन राष्ट्रीय महत्त्व के घोषित, कलात्मक या ऐतिहासिक अभिरुचि वाले प्रत्येक स्मारक या स्थान या चल वस्तु का लुंठन, विरूपण, विनाश, अपनयन, व्ययन अथवा निर्यात से रक्षा करना, राज्य का आभार होगा।

(50) राज्य में कार्यपालिका से न्यायपालिका सर्वथा पृथक् होगी।

(51) विदेशी नीति सम्बन्धी यथापूर्व परन्तु अन्त में ऐसा नोट जोड़ा जावगा। नोट—पर इन सारे कार्यों में नीति निश्चित करते समय यह, देखा जावेगा कि हरेक

निश्चय या निर्णय मात्र भावना या वादों को ध्यान में न रखकर पूर्णतः राष्ट्र-हित में ही किया जावेगा।

भाग 5

केन्द्र

अध्याय 1 कार्यपालिका=राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति। नोट—सर्वत्र राज्य के स्थान पर प्रान्त शब्द पढ़ा जावेगा।

(52-53) यथा पूर्व।

(54) राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक-गण के सदस्य करेंगे जिसमें

(क) लोकसभा के निर्वाचित सदस्य

(ख) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य

(ग) भारतवर्ष की सब नगर निगमों (कारपोरेशनों) के सदस्य।

(घ) भारतवर्ष के सब नगर बोर्डों (म्यूनिसिपल बोर्डों) के अध्यक्ष।

(ङ) भारतवर्ष के सब स्नातकोत्तर महाविद्यालयों के प्राचार्य और भारतवर्ष के सब विश्वविद्यालयों के निर्वाचित उप-कुलपति।

(च) भूतपूर्व राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, प्रान्तों के मुख्यमन्त्री तथा नगर निगमों के भूतपूर्व अध्यक्ष, विश्वविद्यालयों के भूतपूर्व कुलपति तथा भूतपूर्व जल-थल-नभ सेनाध्यक्ष।

(55.) राष्ट्रपति के निर्वाचन की रीति

(1) यथापूर्व

(2.) (क) किसी राज्य की विधान सभा, नगर-निगम के सदस्य या नगर बोर्ड के अध्यक्ष के उतने मत होंगे जितने कि एक हजार से गुणित उस भागफल में हो जो राज्य कारपोरेशन की उस संस्था के निर्वाचित सदस्यों की संख्या में भाग देने से आवे। पर नगर बोर्ड के अध्यक्ष के वोट उस नगर की जनसंख्या में एक हजार का भागफल होगा।

(ख) यथा पूर्व। (ग) संसद के स्थान पर मात्र लोक सभा शब्द पढ़ा जावे।

(3) यथा पूर्व।

(57) अर्थात् एक व्यक्ति अपने जीवन में एक बार ही राष्ट्रपति चुना जा सकता है।

(58) यह उपभाग और जोड़ दिया जावेगा।

(ड) वह कम से कम किसी विश्वविद्यालय का स्नातक अवश्य होगा।

(च) चुनाव तिथि से एक वर्ष पीछे तक वह किसी राजनैतिक पार्टी का सदस्य न रहा हो।

(59) यथापूर्व

(60) शपथ का रूप मात्र यों ही होगा—

मैं अमुक······ईश्वर की शपथ लेहूँ हूँ। इसमें से 'विकल्प सत्यनिष्ठा से प्रतिमान करता हूँ' निकाल दिया जावेगा अर्थात् राष्ट्रपति चुने जाने पर उसका आस्तिक हो जाना अनिवार्य है। शेष भाग पूर्ववत।

61-62-63-64-65. यथा पूर्व।

(1) राष्ट्रपति के निर्वाचन में जिसे विजित प्रत्याशो से ठीक कम मत मिले हों वह उपराष्ट्रपति घोषित किया जावेगा।

(2) यथापूर्व।

(3) अनावश्यक।

97. (क) यथापूर्व

(ख) उपराष्ट्रपति भी उसी प्रणाली द्वारा हटाया जा सकेगा जो राष्ट्रपति पर लागू है।

68. (क) अनावश्यक।

(ख) उपराष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग या पदच्युता से उसके पद की रिक्तता की पूर्ति के लिए निर्वाचन रिक्तता होने की तारीख के पश्चात् यथासंभव शीघ्र किया जावेगा। यह निर्वाचन लोक सभा के समस्त निर्वाचित सदस्यों के मतों तथा राज्य-सभा के भी उन निर्वाचित सदस्यों के मतों पर जिन्हें लोकसभा के सदस्यों ने ही न चूना हो से निर्मित सम्मिलित निर्वाचन मण्डल द्वारा स्पष्ट बहुमत से किया जावेगा।

(69-70-71) यथापूर्व।

(72-73-74-75) यथापूर्व।

(76) भारत का महान्यायवादी – उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता रखने वाले संस्कृतज्ञ व्यक्ति को राष्ट्रपति स्व-विवेक से महान्याय-वादी नियुक्त करेगा।

(77-78) यथा पूर्व

अध्याय : 2—संसद=साधारण

(79) यथा पूर्व।

(80) 1-क-ख-ग-तथा 2 यथा पूर्व।

3. खंड 1 में उपखंड के अधीन, राष्ट्रपति द्वारा नाम निर्देशित किये जाने वाले सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें निम्न प्रकार के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है, अर्थात् धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान तथा सामाजिक सेवा।

4-5 राज्य सभा के लिए प्रत्येक प्रान्त के प्रतिनिधि उस राज्य की विधान सभा एव विधान मण्डल के निर्वाचित सदस्यों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित होंगे।

81.6 लोक सभा

(क) में प्रान्तों में प्रादेशिक निर्वाचित क्षेत्रों से चुने हुए पांच सौ से अनधिक

नागरिकों और प्रजाजनों के परिवारों के वरिष्ठतम मुखियाओं द्वारा चुने हुए सदस्य होंगे।

(ख) प्रत्येक प्रान्त के लिए लोक सभा में स्थानों की संख्यावांट ऐसी रीति से होगी कि उस संख्या से प्रान्त की जनसंख्या का अनुपात समस्त राज्यों के लिए यथा साध्य एक ही होगा।

(ग) इसी प्रकार हर प्रत्याशी के लिए इसी सिद्धान्त के अनुसार कम से कम वोटों की संख्या निश्चित कर दी जावेगी, जिन्हें प्राप्त करने पर वह संसद सदस्य घोषित कर दिया जावेगा। यह वोट संख्या उस प्रान्तों के कुल मतों में कुल क्षेत्रों का भाग देकर प्राप्त की जावेंगी।

परन्तु लोक सभा का प्रत्येक प्रत्याशी देश के किसी भी निर्वाचन क्षेत्र से संसद की सदस्यता हेतु अपने को प्रस्तुत कर सकेगा। और मत देने की अर्हता वाला घटक भारत के किसी भी क्षेत्र में खड़े प्रत्याशी को अपना मत दे सकेगा।

प्रत्येक इस प्रकार निर्वाचित संसद सदस्य अपने बचे हुए वोट अपने द्वारा घोषित कम मत पाने वाले को दे देगा। ऐसा पाये हुए मत वाला प्रत्याशी भी चुने गये पीछे अपने शेष मत अपने द्वारा घोषित तीसरे व्यक्ति को दे देगा और यह प्रक्रिया जारी रहेगी जब तक कि उक्त प्रकार दान हुए मत किसी को निर्वाचित घोषित होने में सहायक न हो :

खण्ड 2-3-यथापूर्व।

(82-83) यथापूर्व।

(85) (क) में 'नागरिक या प्रजाजन' शब्द प्रयुक्त होगा।

नई धारा—जब तक वह किसी विश्वविद्यालय का स्नातक न हो।

(85) (ख) अनावश्यक अर्थात् राष्ट्रपति किसी लोकसभा का विघटन न कर सकेगा।

(86-87-88) यथापूर्व

संसद के पदाधिकारी

89. यथापूर्व।

90. क, ख, अनावश्यक

91, 62, 93 यथापूर्व

94. (घ) नई धारा=किसी राजनैतिक पार्टी का नियम-पूर्वक सदस्य होने पर अध्यक्ष या उपाध्यक्ष दोनों पद-च्युत समझे जावेंगे।

(95, 96, 97, 98) यथापूर्व।

(99) यथापूर्व।

कार्य-संचालन

(100) (1-2) यथापूर्व ।

(3) संसद के प्रत्येक सदन का अधिवेशन गठित करने के लिए, गणपूर्ति सदन के सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या की 1/5 से कम न होगी ।

(4) यथापूर्व ।

(5) यदि कोई सदस्य बिना अध्यक्ष की पूर्वाज्ञा लिए अकारण सदन में अनुपस्थित रहे तो उसे उस मास का भत्ता नहीं दिया जावेगा । और (शेष पूर्ववत)

(102) यहाँ नागरिक और प्रजाजन शब्द प्रयुक्त होगा ।

(103) 104, 105, 106, 107 यथा पूर्व

(108) (1-2-3) यथा पूर्व ।

(4) बहुमत के स्थान पर 2/3 के बहुमत से अर्थात् दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन के निर्णय, उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों के 3/4 बहुमत से पारित होने पर इस संविधान के प्रयोजनों के लिए वह दोनों सदनों से पारित समझा जावेगा । शेष वोट काल एवं उपखंड 5 पूर्ववत

(109) (1-2-3-4-5) पूर्ववत ।

(6) परन्तु यदि राज्य सभा धन सम्बन्धी विधेयक में कोई संशोशन अपनी संख्या के 3/4 के बहुमत से पारित करती है तो वह संशोधन मान्य होगा ।

(110) यथापूर्व ।

(1-4) नया उपखण्ड-5 परन्तु भारत के बाहर किस देश राष्ट्र या संस्थान से कर्ज लिया जावे और किन शर्तों पर लिया जावे, कर्ज लिया जावे या नहीं, यह विषय धन विधेयक नहीं होंगे ।

नया उपखण्ड 6—घाटे की अर्थ व्यवस्था के चलन का सैद्धान्तिक निर्णय भी धन विधेयक नहीं है ।

(111) यथापूर्व ।

(112-113-114-115-116-117-118) यथापूर्व ।

(118-119-120) भाग 17 में किसी बात के होते हुए भी संसद में कार्य संस्कृत या संस्कृत निष्ठ हिन्दी में होगा । परन्तु यदि कोई सदस्य हिन्दी नहीं जानता है, तो वह कोई भी भारतीय भाषा प्रयोग कर सकता है । तथा उसके हिन्दी में साथ-साथ अनुवाद का प्रबन्ध वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा किया जावेगा ।

(2) निरस्त ।

(121-122) यथापूर्व ।

नोट—यदि राष्ट्रपति राज्य सभा द्वारा किसी विधेयक में दिए संशोधन से सहमत नहीं है तो वह राज्य सभा के निर्वाचन मण्डल में वह विषय ग्राम मतदान (Limited Refrendum) के लिए भेज सकेगा, पर यदि इस सीमित मतदान में संशोधन

के पक्ष में मत दियातो राष्ट्रपति त्यागपत्र दे देगा और उसका उत्तराधिकारी उस संशोधन से बाध्य होगा।

अध्याय : 3 राष्ट्रपति की विधायनी शक्तियाँ

(123) यथापूर्व

(124-1-6) यथापूर्व।

(7) कोई व्यक्ति जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में पद धारण कर चुका है, भारत राज्य क्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय में अथवा किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत नहीं कर सकेगा न ही वह किसी ऐसे कमीशन आदि किसी सरकारी नौकरी में नियुक्त हो सकेगा जहाँ पर उसे अपनी पेन्शन से अधिक वेतन मिलेगा।

व्याख्या 3—इस अनुबन्ध में राष्ट्रपति के सारे निर्णय उसके स्वविवेक से किये हुए होंगे।

(125-126-127-128-129-130-131-132-133-134-135) यथा पूर्व 136-(1) अनावश्यक

(2) यथापूर्व

(137 से 151 तक) यथापूर्व।

भाग : 6

प्रान्तीय शासन

अध्याय-1 साधारण

(152) जम्मू तथा काश्मीर राज्य को पृथक अस्तित्व देने वाली वह धारा अनावश्यक है।

(153-54-155-156) अनावश्यक

(157) कोई व्यक्ति राज्यपाल होने का पात्र न होगा, यदि वह (1) नागरिक भारत का नागरिक न हो। (2) पेंतीस वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो। (3) न्यूनातिन्यून 3 वर्ष से किसी सक्रिय राजनैतिक दल का (जिसे निर्वाचन आयोग ने स्वीकार किया हो)—का सदस्य रहा हो। (4) यदि अपने जीवन में विधान सभा या लोकसभा के चुनाव में वह पराजित हुआ हो। (5) यदि वह किसी विश्वविद्यालय का स्नातक न हो।

(158) इस शपथ में ईश्वर की शपथ लेता हूँ—भाग रहेगा। दूसरा विकल्प हटा दिया जावेगा। अर्थात् राज्यपाल पद पर पदासीन होते समय उसका आस्तिक होना आवश्यक है।

(160 से 164 तक) यथा पूर्व।

(165) उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता रखने वाले

संस्कृतज्ञ व्यक्ति को प्रत्येक प्रान्त का राज्यपाल उस प्रान्त का महाधिवक्ता नियुक्त करेगा।

(166-167) यथापूर्व ।

अध्याय : 3 प्रान्त का विधान मण्डल-साधारण

(168) प्रत्येक प्रान्त में एक विधान मण्डल होगा जो राज्यपाल तथा दो सदनों से मिलकर बनेगा। (2) एक सदन को विधान-परिषद कहेंगे तथा दूसरे को विधान-सभा।

(169) अनावश्यक ।

(170) (1)—प्रत्येक प्रान्त की विधान सभा में उस प्रान्त के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में चुने हुए 5 सौ से अनधिक तथा पचास से अन्यून सदस्य नागरिकों (न० कि० प्रजाजनों) द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुने हुए होंगे।

(2) खण्ड 1. के प्रयोजनों के लिए प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में ऐसी रीति से विभाजित किया जायेगा कि प्रत्येक निर्वाचन से क्षेत्र की जनसंख्या का उसकी आबंटित स्थानों की संख्या से अनुपात समस्त राज्य में यथासाध्य एक ही होगा। ऐसा करने में स्वाभाविक अंचलो या तहसील को भिन्न-भि न क्षेत्रों में न रख कर यथा साध्य एक ही साथ रहने दिया जावेगा। एक बार निश्चित हो जाने पर सिवाय अन्तिम प्रकाशित जनसंख्या परिवर्तन के, क्षेत्रों का पुनः आबंटन नहीं किया जावेगा।

(3) यथा पूर्व ।

(4) आबंटन करते समय प्रति क्षेत्र में जो मतदाताओं की संख्या का औसत आता है और यदि किसी नगर की पूर्व निश्चित सीमा की अन्तिम जनसंख्यानुसार, उतने मत लगभग विद्यमान हैं या उसके पूर्ण संख्या में गुणित मत हैं तो उतने क्षेत्र उस नगर के लिए आबंटित कर दिए जावेंगे। अकारण नगर को ऐसे क्षेत्रों में निकटस्थ ग्राम से जोड़कर उस क्षेत्र को ऐसा रूप नहीं दिया जावेगा कि किसी क्षेत्र में नगर निवासी अल्पमत में या निकट अल्पमत कर दिए जावें।

(5) हर प्रान्त में हर एक क्षेत्र में, उन वोटों की संख्या निश्चित कर दी जावेगी जिनके प्राप्त करने पर कोई प्रत्याशी निर्वाचित घोषित होगा। और यह संख्या कुल मतदाताओं में उस प्रान्त के क्षेत्रों की संख्या का भाग देकर प्राप्त की जावेगी।

(ग) विधान सभा का कोई प्रत्याशी प्रान्त के किसी भी क्षेत्र से निर्वाचित हो सकेगा और प्रान्त का मतदाता सारे प्रान्त के, किसी भी प्रत्याशी को अपना मत दे सकेगा।

(घ) खण्ड (ख) के अनुसार निर्वाचित विधान सभा का सदस्य वहाँ वर्णित निश्चित संख्या से अधिक अपने वोट अपने द्वारा घोषित कम मत वाले को दे देगा। ऐसे मत प्राप्त करने वाला प्रत्याशी यदि उन प्राप्त मतों के कारण निश्चित मत पा लेता है तो वह निर्वाचत घोषित होगा। तथा वह भी उस निश्चित संख्या से ऊपर के

वोट अपने द्वारा घोषित अन्य प्रत्याशियों को दे देगा। और यह प्रक्रिया जारी रहेगी जब तक कि उक्त प्रकार दिये हुए मत किसी प्रत्याशी को निर्वाचित होने में सहायक न हों।

अध्याय : 4 विधान परिषद

(171) (1) विधान परिषद में प्रान्त की विधान सभा के सदस्यों की संख्या के 1। 3 से अधिक सदस्य नहीं होंगे। (2) हर प्रान्त की विधान सभा का गठन इस प्रकार होगा—

(क) यथा शक्य तृतीयांश उस राज्य में की नगरपालिकाओं एवं जिला-मण्डलों के सब निर्वाचित सदस्यों तथा ब्लाक अध्यक्षों एवं ग्राम पंचायत प्रमुखों से बने, निर्वाचक मण्डलों द्वारा निर्वाचित होंगे। परन्तु इन स्थानीय निकायों के चुनाव में नागरिक और प्रजाजनों का मताधिकार ह ना आवश्यक है, पर उनका चुनाव जनसंख्या के मात्र आधार पर न होकर व्यवसायों समूहाधार पर (Functions) पर होगा। अर्थात् संसद द्वारा निश्चित महत्त्व के आधार पर, भिन्न-भिन्न पेशा वालों का अनुपात निश्चित किया जावेगा !

(ख) यथाशक्य द्वादशांश विश्वविद्यालय के तीन वर्ष की अद्यावधि वाले स्नातकों आदि से लेकर (शेष पूर्व गत) अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति द्वारा।

(ग) यथाशक्य-द्वादशांश अध्यापकों आदि से (शेष पूर्वगत) अनुपाती प्रतिनिधित्व द्वारा।

(घ) यथाशक्य तृतीयांश राज्य की विधान सभासे अनुपातीय चुनाव और एकल संक्रमणीय पद्धति द्वारा (Rapresentation by single Transferable Vote) उन व्यक्तियों में से जो विधान सभा के सदस्य नहीं हैं तथा पिछले आम चुनाव में पराजित नहीं हुए हों।

(ङ) शेष सदस्य साहित्य, विज्ञान, कला एवं सामाजिक सेवा के कारण एतद्विषयक पूर्व से मान्यता प्राप्त संस्थाओं द्वारा प्रेषित नामों में से राज्यपाल द्वारा स्वविवेक से छाँटकर घोषित किये जावेंगे।

(172) यथापूर्व

(173) क-ख-ग यथापूर्व

नई धारा (घ) मैट्रिक या हायर सेकेण्डरी (जैसी भी परीक्षा उस प्रान्त में होती हो। वह अवश्य पास हो।

(174 से 178) यथापूर्व)।

(179) क-ख-ग यथापूर्व।

नई धारा (घ) अध्यक्ष पद का प्रत्याशी चुनाव के एक वर्ष पूर्व से किसी मान्यता प्राप्त राजनैतिक दल का सदस्य नहीं रहा होगा। निर्वाचित हुए पीछे भी वह किसी ऐसे राजनैतिक दल से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रक्खेगा।

180-181-182 ययापूर्व ।

(183) क-ख-ग यथापूर्व ।

नई धारा (घ) विधान परिषद का अध्यक्ष निर्वाचित होते ही मान्यता प्राप्त राजनैतिक दलों से सम्बन्ध विच्छेद कर लेगा यदि उसका किसी से सम्बन्ध है या रहा हो ।

(184-185-186-187) यथापूर्व ।

(188)

(189) (1) (2) (4) यथापूर्व ।

(3) गणपूर्ति दशमाशं न होकर पंचमांश होगी ।

(190 से 196) यथापूर्व ।

(197) (1) क-ख-ग यथापूर्व ।

(2) यदि विधान सभा द्वारा विधायक के इस प्रकार दुबारा पारित हो जाने तथा विधान परिषद को पहुँचाये जाने के पश्चात् परिषद 2 । 3 के बहुमत से उस पूरे विधायक, अथवा उसके कुछ अंश को अस्वीकार करती है, तो उसका अंश अन्तिम रूप से निरस्त समझा जावेगा । परन्तु विधान परिषद यह सब निर्णय, एक मास के अन्दर ले लेगी, अथवा विधेयक उस रूप में विधान पारित समझा जावेगा जैसा विधान सभा ने भेजा था ।

(3) यथापूर्व ।

(198) (1) यथापूर्व ।

(2) विधान सभा द्वारा पारित धन विधेयक भी विधान परिषद की स्वीकृति हेतु भेजा जावेगा । विधान परिषद 3 । 4 के बहुमत से उसमें कोई भी संशोधन पारित कर सकेगी । पर यह सब कार्य उसे 14 दिन के अन्दर ही करना होगा । अन्यथा यह समझा जावेगा कि उसने जैसा का तैसा उसे स्वीकार कर लिया है ।

(3-4-5) अनावश्यक ।

(199) यथापूर्व ।

(200) यथापूर्व ।

नया नोट—पर यदि राज्यपाल विधान परिषद द्वारा दिये संशोधनों से असहमत है तो वह विधान परिषद के निर्वाचक मण्डलों में सीमित ग्राम मतदान (Limited Rafrendum) द्वारा उस पर अपने सुझावों की सहमति प्राप्त करेगा । यदि वह सहमति बहुमत द्वारा प्राप्त नहीं होती तो वह इस्तैफा दे देगा । तथा उसका उत्तराधिकारी उस निर्णय से बाध्य होगा ।

(201-202-203-204-205-296-207-208-209) यथापूर्व ।

210 भाग 17 में किसी बात के होते हुए भी हर राज्य के विधानमण्डल में सारा कार्य, उस प्रान्त की राजभाषा में या हिन्दी में होगा, अंग्रेजी में नहीं होगा ।

(211-212) यथापूर्व ।

(213) यथापूर्व ।

(214-215-216) यथापूर्व ।

(217) यथापूर्व । पर राष्ट्रपति हो या राज्यपाल, मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति में वह स्व-विवेक से कार्य लेगा । शेष पूर्ववत ।

(218-19-20-221-222-223-224-225-226-227-228-229-230-231-232-233) यथापूर्व ।

व्याख्या—राज्यपाल इस अनुबन्ध हेतु जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति में स्व-विवेक से कार्य करेगा ।

(233 (क) 234-235-236-237-238) यथा पूर्व ।

भाग : 7 निरस्त

भाग : 8

केन्द्रीय क्षेत्र

(239) यथापूर्व ।

(क) संघ राज्य केवल 4 ही प्रकार के होंगे—

(1) राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली का क्षेत्र ।

(2) प्रजाजनों के अर्थात् जैसे कि भाग 2 अनुबन्ध 5 स में कहे गये हैं, अर्थात् वह आबादी जो संस्कृतेतर भाषा से उदगठित भाषा के भाषी भी हैं और किसी भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन में आस्था नहीं रखते । गोआ, मिजोराम, काश्मीर, पांडिचेरी, दमन-दिव ।

(3) उन नागरिकों के बहुमतीय क्षेत्र जिन्हें भाग 2 अनुबन्ध 5ब में पारिभाषित किया गया है । अर्थात् संस्कृतेतर भारतीय भाषा के भाषी पिता, पितामह या प्रपितामह की सन्तान जो किसी भारतीय दर्शन में आस्था रखते हों ।

(4) समुद्रों से परिवेष्टित द्वीप समूह अंडमान, निकोबार, लकद्वीप, मिनिकीय अमीनी द्वीप ।

(239) (ख) यथापूर्व ।

(240) राष्ट्रपति संघ राज्य क्षेत्रों की शान्ति, उन्नति और सुशासन के लिए नियम बना सकेगा ।

(शेष सारा भाग अनावश्यक)

(242) यथा पूर्व ।

(243) हरेक केन्द्रीय क्षेत्र में राष्ट्रपति एक संस्कृति उन्नायक (Cultural Commissioner.) नियुक्त करेगा जो उस क्षेत्र के सांस्कृतिक एकीकरण का प्रयत्न करेगा और राज्यपाल एवं प्रशासक विवेकीय निर्णय से पहले उससे मन्त्रणा करेगा ।

यदि उन्नायक इन निर्णयों से सहमत नहीं है तो वह गोपनीय ढंग से राष्ट्रपति को अपना प्रतिरोध भेज सकेगा। तथा राष्ट्रपति वह विषय मन्त्रिमण्डल को निर्णयार्थ सौंप देगा।

भाग 9

निरस्त

भाग 10

आदिम जाति क्षेत्र

(244) (1) यथापूर्व।
(2) अनावश्यक
(3) अनावश्यक

भाग 11

केन्द्र और प्रान्तों के सम्बन्ध

(245 से 252 तक 253 से 255 तक यथा पूर्व।

नोट—अनुच्छेद 250 जम्मू व काश्मीर पर भी वैसा ही लागू होगा, जैसा अन्य प्रान्तों पर।

अध्याय : 2 प्रशासन प्रबन्ध (साधारण)

(256 से 258 क) तक यथा पूर्व।

(260) भारत सरकार किसी ऐसे राज्य क्षेत्र की सरकार से जो भारत राज्य क्षेत्र का भाग नहीं है, करार देकर या युद्ध विजय में प्राप्त करके ऐसे राज्य क्षेत्र की सरकार में निहित किसी कार्य पालक, विधायी या न्यायीक कृत्यों को लौटाया जाना, बिना संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति के, न कर सकेगी। भारत सरकार का कर्त्तव्य होगा कि इस वापसी से पहले उस क्षेत्र में ग्राम मताधिकार करवा कर वहाँ का बहुमतीय मत जान ले, और उस मत तथा फौज के तीनों चीफ आफ स्टाफ के मत के साथ ही, यह विषय संसद के सदनों को भेजा जावेगा।

(261-262-263) यथा पूर्व।

भाग 12

वित्त, सम्पत्ति, संविदाएँ और व्यवहारवाद

अध्याय : 1 वित्त-साधारण

(264-265-266-267-268) (1) यथापूर्व।

(2) परन्तु मुद्रांक औषधीय और प्रसाधनीय सामग्री पर उत्पादन शुल्क की

सारी आय, राज्य स्थिति टाउन एरिया, नोटिफाइड एरिया एवं नगरपालिकाओं को बाँट दी जाया करेगी।

(269) (1) क-ख में जो कृषि भूमि पर केन्द्र को उत्तराधिकार या सम्पत्ति विषयक सम्पत्ति शुल्क लगाने से रोका गया है, वह प्राविधान समाप्त कर दिया जावेगा। शेष पूर्ववत।

(270-271-272) यथापूर्व।

(273) अनावश्यक।

(274) यथापूर्व।

(275) यथापूर्व। परन्तु आसाम राज्य सम्बन्धी उल्लेख, अनावश्यक।

(276) (1) (2) (3) यथा पूर्व।

व्याख्या—परन्तु नागरिक या प्रान्तीय प्रशासन, केन्द्रीय सरकार के उन कर्मचारियों पर व्यवसायिक या नौकरी कर न लगावेगी जो अपने प्रान्त के बाहर तथा उस प्रान्त या नगरपालिका क्षेत्र में नियुक्त हों।

अनुबन्ध (277) में वर्णित स्वायत्त संस्थाओं के करारोहण अधिकार होते हुए भी हर नगरादि द्वारा, वस्तु-प्रवेश पर चुंगी की व्यवस्था बिलकुल समाप्त कर दी जावेगी।

(278-279) यथापूर्व।

(280) यथापूर्व पर वित्त आयोग की नियुक्ति 5 के बजाए हर 10 वर्ष बाद ही होगी।

(281-282-283-284) यथापूर्व।

(285) बिक्री कर की व्यवस्था में विक्रेताओं से कर वसूल कराने का काम, बेगार रूप होने से निषिद्ध किया जाता है।

(287-288-289) यथापूर्व। (290) निरस्त।

(291-292-293-294-295-296) यथा पूर्व।

(296) (ख) नई धारा

परन्तु जिस व्यक्तिगत चलाचल सम्पत्ति के मालिक निसन्तान हैं और उसके पिता के भाइयों या पितामह के भाइयों की भी कोई और सन्तान नहीं है, वह सम्पत्ति उस स्वायत्त संस्था की हो जावेगी, जहाँ वह स्थित है।

(297) यथापूर्व।

(298) निरुस्त। उसके स्थान पर।

(क) केन्द्र सरकार, प्रान्तीय सरकार, अथवा स्वायत्त-संस्था में से किसी को कोई व्यापार करने का अधिकार नहीं है, हाँ वे उस पर विधिपूर्वक नियन्त्रण कर सकती हैं।

(ख) केन्द्र सरकार, प्रान्तीय सरकार अथवा स्वायत्त संस्था किसी उद्योग (कुटीर) अथवा ऐसा उद्योग जिसमें ऐसी मशीन का उपयोग न होता हो, जिसका

मूल्य 5 लाख रुपया हो, या जिसमें 20 हार्स पावर शक्ति हो, न तो स्थापित करेगी न अधिग्रहित ।

(ग) 50 हार्स पावर से 1500 हार्स पावर पर आश्रित सब उद्योगों में कम-से-कम 51 प्रतिशत स्वामित्व पर अधिकार प्रान्तीय सरकार का होगा और प्रान्तीय सरकार तदनुरूप प्रबन्ध के सिद्धान्त निश्चित करके, उन्हें योग्यतम संस्थानों को हर 10 वर्ष बाद, नवीनीकरण की शर्त पर ठेके पर दे दिया करेगी ।

(299-300) यथा पूर्व ।

भाग 13

भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर व्यापार, वाणिज्य एवं समागम

(301) यथापूर्व ।

(302) संसद विधि द्वारा, एक प्रान्त और दूसरे प्रान्तों के बीच अथवा भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग के भीतर, व्यापार वाणिज्य समागम की स्वतन्त्रता पर ऐसे निर्बन्धन आरोपित कर सकेगी, जो लोकहित में हो, पर किसी व्यापार को पूर्णतया अधिग्रहीत न कर सकेगी ।

(303-304-305-306-307) यथापूर्व ।

भाग 14

केन्द्र और राज्यों के अधीन सेवायें

(308) काश्मीर पर व्यतिरेक देने वाला होने से निरस्त ।

(309-310-311-312-313) यथापूर्व ।

(314) अनावश्यक

अध्याय : 2 लोक सेवा आयोग

(315) यथापूर्व ।

(316) यथापूर्व पर अध्यक्षादि की नियुक्ति राष्ट्रपति या राज्यपाल स्व-विवेक से करेंगे ।

(317-318-319-320-321-322) यथापूर्व ।

(323) (1) (2) यथापूर्व ।

(3) नई उपधारा—परन्तु इस प्रतिवेदन के दो भाग होंगे । एक नियुक्तियों से सम्बन्धित, दूसरा शेष विषयों वाला । उपखण्ड (1) (2) इस दूसरे भाग के बारे में है, क्योंकि नियुक्तियों के बारे में आयोगों की सम्मति को निरस्त करने का अधिकार केवल राष्ट्रपति एवं राज्यपाल को स्वविवेक से ही होगा, सरकारों को नहीं ।

भाग 15

निर्वाचन

(324) (1) इस संविधान के अधीन, संसद और प्रत्येक राज्य विधानमंडल एवं स्वायत्त संस्था (यथा—जिला मण्डल, ब्लाक मण्डल, ग्राम पंचायत और नगर-निगम) की तथा सीमित रिफिरेन्डम के लिए नामावली तैयार कराने का तथा उसके समस्त निर्वाचनों के संचालन का तथा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों के निर्वाचनों का अधीक्षण एक आयोग में निहित होगा, और इसे निर्वाचन आयोग कहा जावेगा।

उप-खण्ड (2-3-4-5-6) यथापूर्व।

(325-326-3-7-328) अनावश्यक।

(329) किसी निर्वाच्य या उन निर्वाचन की तिथियों के निश्चय या निर्वाचन क्षेत्रों के आयोग द्वारा पुनः बंटवारे के बारे में, इस आधार पर न्यायालय में चुनौती दी जा सकेगी कि वह शासनारूढ़ दल के हित में नहीं किया गया है। इस वाद की सुनवाई और निर्णय, निर्वाचन-न्यायालय द्वारा पन्द्रह दिन में दे दिया जावेगा और अन्तिम होगा।

नई धारायें (325) हर जिले में एक स्थाई निर्वाचन न्यायालय होगा। उस जिले में मुख्य सेशन्स या जिला जज हो न्यायालय का कार्य करेगा। संसद ऐसी व्यवहार संहिता बना देगी कि अधिक-से-अधिक 4 मास में हर निर्वाचन विवाद का निर्णय दिया जा सकेगा। निर्वाचन विवादों में कोई कोर्ट फीस नहीं लगेगी।

भाग 16

आदिम जातियों से सम्बद्ध विशेष उपबन्ध

(330) अनुसूचित जातियों और आदिम जातियों के लिए लोक सभा में स्थानों का संरक्षणादि—अनावश्यक और निरस्त।

(331) आंग्ल भारतीयों का प्रतिनिधित्व—अनावश्यक और निरस्त।

(332) राज्यों की विधान-सभाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए संरक्षण—अनावश्यक और निरस्त।

(333) आंग्ल भारतीयों का प्रान्तीय विधानमण्डलों में संरक्षण—अनावश्यक और निरस्त।

(334) अनावश्यक।

(335) सेवाओं और पदों के लिए अनुसूचित जातियों के लिए संरक्षण अनावश्यक हैं, पर अनुसूचित आदिम जातियों के लिए 1985 तक संरक्षण रक्खा जा सकता है।

(336) सेवाओं

336. सेवाओ में आंग्ल भारतीयों का सरक्षणअनावश्यक।

333. आंग्ल भारतीयों के लिए विशेष शिक्षा अनुदान अनावश्यक।

338. केवल अनुसूचित आदिम जातियों के लिए 1985 तक विशेष पदाधिकारी होगा, जो उनकी स्थिति पर राष्ट्रपति को प्रतिवेदन देता रहेगा।

339. 340-341-अनावश्यक।

342. यथापूर्व।

भाग-17
राजभाषा
अध्याय : 1 संघ की भाषा

343. संघ की राजभाषा संस्कृत निष्ठ हिन्दी और लिपि देवनागरी ही होगी। संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप होगा।

(शेष भाग आवश्यक)

344. राष्ट्र भाषा आयोग सम्बन्धी--अनावश्यक। उसके स्थान पर एक स्थायी अनुवाद आयोग गठित किया जावेगा जिसमें संघ एवं प्रान्तों की राजभाषाओं के तथा प्रतिष्ठित साहित्यिज्ञ होगें। इनका सभापति संस्कृत का तथा उपसभापति अंग्रेजी का विद्वान होगा। राष्ट्रपति स्वविवेक से इनकी नियुक्ति 5 वर्ष के लिए करेंगे तथा संसद इनके वेतनादि के सम्बन्ध में नियम बनावेगी और इनके लिए वार्षिक अनुदान निश्चित करेगी। यह अनुवाद-आयोग अपनी संख्या के आधे के बराबर न्यायिक, उद्योग पति एवं फौजी रिटायर्ड जनरल अपने में मनोनीत करेगा।

आयोग का कार्य सब प्रान्तीय एवं संघीय भाषाओं में प्रशासनीय, न्यायिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक और फौजी शब्दावली एव विभिन्न विषयों की छात्रोपयोगी पुस्तकें अनूदित करना होगा।

शब्दावली संस्कृत से बनाई जावेगी, प्रचलित शब्द भी अपनाये जा सकते हैं। आयोग विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य का चयन कर के उसे विभिन्न दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में अनूदित करावेगा।

आयोग द्वारा प्रसारित संघीय हिन्दी में सब प्रान्तीय भाषाओं के चालू शब्द लिये जायेंगे और उसका हिन्दी प्रान्तों की हिन्दी के अनुरूप होना आवश्यक न होगा।

अध्याय : 4 प्रान्तीय भाषायें

345. प्रान्तों में विधान मण्डल, अपने-अपने प्रान्त में चालू भाषओं का, जो निम्न भाषाओं में से कोई हो सकती है, चलन निश्चित करेगा परन्तु किसी राज्य में हिन्दी के चलन पर रोक न होगी और अंग्रेजी में कोई राजकाज नहीं होगा।

संस्कृत-हिन्दी-पंजाबी-गुजराती-मराठी-कन्नर-मलयालम-तमिल-उड़िया-बंगला-असमिया-सिन्धी-नेपाली-डोंगरी तैलगू।

346. दो प्रान्तों में परस्पर तथा प्रान्तों और केन्द्र शासन के मध्य पत्राचार संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में होगा।

347. तद्विषयक मांग की जाने पर किसी जिले में वहाँ की जनसंख्या के 50 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति उक्त 14 में से कोई ऐसी भाषा बोलते हैं जो कि वहाँ की प्रान्तीय भाषा नहीं है, तो राष्ट्रपति उस प्रान्त की सरकार को कतिपय विषयों हेतु उस भाषा के उस जिले में राजकीय चलन एवं शिक्षा-दीक्षा के प्रबन्ध को आदेशित कर सकते हैं।

348. उच्च न्यायालयों के निर्णय की भाषा प्रान्तीय भाषा होगी, पर उनके निर्णयों का हिन्दी अनुवाद एक सप्ताह के भीतर प्रकाशित कर दिया जाया करेगा। यही बात विज्ञप्तियों तथा विधानों पर लागू होगी। उच्चतम न्यायालय की भाषा हिन्दी होगी, पर एक सप्ताह के अन्दर उसका अन्य 14 भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित कर दिया जाया करेगा।

349. अनावश्यक।

अध्याय : 4 विशेष निर्देश

350-350 (क)-(ख) —यथापूर्व।

351. अनावश्यक।

भाग-18

आपात् उपबन्ध

352. 353-354-355—यथा पूर्व।

356. राज्यों से संवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था में उपबन्ध। यथा पूर्व—परन्तु अन्त में यह टिप्पणी जोड़ दी जायेगी। टिप्पणी—परन्तु यदि लोक सभा या राज्य सभा के निर्वाचित सदस्यों के तृतीयांश अपने हस्ताक्षर-युक्त विरोध-पत्र संघ न्यायाधीश को देवें, कि इस व्यवस्था का उपयोग पदारूढ़ दल द्वारा अपनी पार्टी के हितों हेतु अवांछित रूप से किया जा रहा है, तो संघ न्यायाधीश के सम्मुख प्रधान मन्त्री को उपस्थित होकर स्पष्टीकरण करना होगा और यदि पीठ का बहुमत विरोधपत्र के अनुकूल मत दे तो राष्ट्रपति ऐसा आदेश वापिस लेने को बाध्य होगा। ऐसे वाद पर संघ न्यायपीठ को एक सप्ताह में निर्णय दे देना चाहिए।

357-358-359-360—यथा पूर्व।

भाग-19

प्रकीर्ण

361. यथा पूर्व, परन्तु जम्मू-कश्मीर सम्बन्धी उपखण्ड 5 निरस्त।

362. (क) राजाओं की निजी थैली का समाप्त किया जाना अवैधानिक था। वह वापस कर दी जावेगी। पूर्व निश्चित समझौते के अनुसार इस संसोधन के पास

होते समय का प्रत्येक राज्य का वारिस जिस अनुदान का अधिकारी हुआ होता, वह उसे पुनः प्रारम्भ करा दिया जावेगा। कोई पिछला अनुदान देय न होगा। पर उन राजाओं का देय बन्द कर दिया जावेगा जिन्होंने 1947 में भारत संघ से पृथक् स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की घोषणा की थी।

(ख) राजाओं का अपने-अपने प्रान्त में एक मण्डल तथा केन्द्र में एक महा-मण्डल बना दिया जावेगा। जिन बातों में राष्ट्रपति या राज्यपाल इस विधान के अनुसार स्वविवेक से कार्य करने को बाध्य हैं, उनमें वे इस मण्डल से परामर्श लेंगे, पर उस परामर्श से वाध्य न होंगे।

(ग) प्रत्येक मण्डल का एक बहुमतेन निर्वाचित सदस्य प्रान्त की विधान परिषद के तथा महामण्डल के तीन सदस्य संघ की राज्य सभा के सदस्य होंगे। पर इन्हें वोट देने का अधिकार न होगा।

भाग-20

संविधान का संशोधन

368. (1) इस संविधान को संसद अपनी संविधानीय शक्ति के प्रयोग में, इस अनुच्छेद में, प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार परिवर्द्धित, परिवर्तित या निरस्त कर सकेगी, पर मूल अधिकारों या मूल ढाँचे में परिवर्तन या तो दोनों सदनों के पृथक्-पृथक् निर्विरोध होने से हो सकेगा अथवा इस हेतु विधिवत बुलाई गई विधान निर्मात्री-सभा द्वारा हो सकेगा जिसका गठन हर 25 वर्ष बाद नागरिकों के परिवारों द्वारा बहुमत से विशेष निर्वाचन में किया जाया करेगा। और जिसमें 100 से अधिक सदस्य निर्वाचित नहीं किये जावेंगे।

(2) यथा-पूर्व, पर तत्र वर्णित संशोधनों के लिए प्रान्तों के कम-से-कम आधे विधानमण्डलों की सहमति के स्थान पर उतने विधान मण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होगी जिनकी जनसंख्या देश की आधी आबादी से अधिक हों।

(3) अनावश्यक।

भाग-21

विविध

369. अनावश्यक।

370. जम्मू व कश्मीर विषयक-अनावश्यक।

उसके स्थान पर व्यवस्था = राष्ट्र-संघ के तत्त्वावधान में जम्मू प्रान्त और काश्मीर प्रान्त दोनों के परिवारों के मुखियाओं का अभिमत (Plebicite) कराया जावेगा कि वे भारत संघ में रहना चाहते हैं कि नहीं। यदि बहुमत पक्ष में हुआ तो उनका भारत स्थित अन्य प्रान्तों का-सा दर्जा हो जायेगा। यदि बहुमत विरुद्ध होता है तो उसे स्वतन्त्र राष्ट्र बना दिया जावेगा, यदि राष्ट्रसंघ उसकी सुरक्षा और अस्तित्व की गारण्टी देता है। यदि राष्ट्रसंघ ऐसी कोई गारण्टी नहीं देता है तो आम जनमत का प्रश्न ही नहीं है और उसका भारत में विलय पूर्ण घोषित कर दिया जावेगा।

371-372-यथापूर्व ।
373-374-अनावश्यक ।
375. यथापूर्व । 376-377 अनावश्यक । 378-378 (क) अनावश्यक ।
392. 393, 394-395 यथापूर्व ।

भाग-22

अनुसूचियाँ

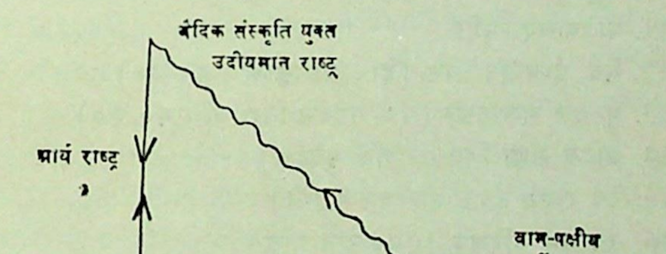
प्रथम अनुसूची=प्रान्तों को सूची यथापूर्व । पर मद्रास और मेघालय प्रथम से निकालकर द्वितीय सूची में होंगे ।

द्वितीय अनुसूची : राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, राज्यपाल, संघ एवं प्रान्तीय सभा के अध्यक्ष उपाध्यक्ष एवं सदस्यों का वेतन उपर्युक्त ही होगा । उन्हें भत्ते के रूप में कोई वस्तु या सेवा निःशुल्क न देकर उसका मूल्य व किराया लिया जावेगा । उनकी कोई आय आयकर से मुक्त न होगी । संसद कानून द्वारा ऐसा वेतनक्रम निश्चित कर पकेगी ।

भाग (घ)

यथापूर्व ।
तृतीय अनुसूची--यथा पूर्व ।
चतुर्थ अनुसूची—यथापूर्व ।
पंचम अनुसूची—भाग-क-ख-ग-घ-यथापूर्व ।
षष्ठ अनुसूची—यथापूर्व ।
सप्तम अनुसूची—उपसूची-1 यथापूर्व ।
उपसूची-2 राज्य सूची=इसको संसद विधि द्वारा मुख्यसूची तथा स्वायत्त संस्थाओं की सूची में विभक्त कर देगी ताकि ग्राम स्वराज्य के आदेश कार्य रूप से परिणित हो सकें ।
उपसूची—3-यथापूर्व ।
नवम अनुसूची—यथापूर्व ।
अष्टम अनुसूची—अनावश्यक ।

विधान में उक्त संशोधनों से भारत में वैदिक राजदर्शन में स्वीकृत अष्टचक्र और नवद्वार वाला उदीयमान राष्ट्र स्थापित हो जावेगा । त्रैत के सिद्धान्तानुसार यह अवश्वम्भावी है । तब हमारे राजनैतिक त्रिभुज का यह रूप होगा ।



इसके बाद के त्रिभुज पर अभी लिखना समीचीन न होगा ।

धन्यवाद ज्ञापन

उल्लिखित ग्रन्थ-सूची (Biblography)

यह शोध निम्न पुस्तकों के स्वाध्याय का फल है। शोध-कर्त्ता नत मस्तक हो, उनके लेखकों के प्रति प्रभूत कृतज्ञता प्रदर्शित करता है। प्रूफ-संशोधन हेतु पं० रामलाल शास्त्री एम० ए० प्रधान आर्यसमाज रोहताश नगर, शाहदरा भी धन्यवाद के प्रात्र हैं।

दर्शन शास्त्र विषयक

1. वेद भाष्य (पं० जय देव विद्यालंकार)
2. वेद भाष्य (वेदमूर्ति पं० सातवलेकर)
3. आर्याभिविनय (दयनन्द सरस्वती)
4. वैदिक-ज्योति (पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)
5. वैदिक सम्पत्ति (पं० रघुनन्दन शर्मा)
6. वैदिक सम्पदा (पं० वीरसेन वेदश्रमी शास्त्री)
7. सांख्य समालोचना (पं० उदयवीर शास्त्री)
8. तीन अनादि सत्तायें (डा० रामनाथ चोपड़ा)
9. ब्रह्म-दर्शन (स्वामी ब्रह्म मुनि परिव्राजक)
10. मनुस्मृति (भाष्य कर्त्ता पं० आर्य मुनि)
11. याज्ञवल्क्य स्मृति
12. वेद, ईश्वरीय ज्ञान (डा० बालकृष्ण एम० ए०)
13. गुरुदत्त लेखावली (पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए०)
14. वैदिक संज्ञा विज्ञान (पं० गुरुदत्त)
15. वेद रहस्य (म० नारायण स्वामी)
16. सर्व धर्म परिचय (एम० राय गुप्त)
17. उपनिषद भाष्य (म० नारायण स्वामी)
18. उपनिषद भाष्य (पं० देवेन्द्रनाथ तर्क शास्त्री)
19. उपनिषद भाष्य (स्वा० दर्शनानन्द सरस्वती)
20. उपनिषद भाष्य (विनोबा भावे)
21. गीता रहस्य (लोकमान्य तिलक)

22. गीता भाष्य (म० गांधी)
23. आस्तिकवाद (पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०)
24. जीवात्मा (पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०)
25. धर्म का आदि स्रोत (पं० गंगाप्रसाद जी चीफ जज)
26. सर्व दर्शन संग्रह
27. बुद्ध मीमांसा (विश्वनाथ प्रसाद एम० ए०)
28. मृत्यु और परलोक (म० नारायण स्वामी)
29. वैदिक विचारधारा का अन्यत्र प्रभाव (इन्द्र विद्यावाचस्पति)
30. इस्लाम के दीपक (पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०)
31. ब्रह्म सूत्र (वैद्य गुरुदत्त एम० एस० सी०)
32. जरदुस्त्री धर्म (विशम्भरनाथ पाण्डे-प्रयाग)
33. शतपथ ब्राह्मण
34. आश्वालयन ग्रह्य सूत्र
35. वशिष्ठ धर्म सूत्र
36. बौद्धायन स्मृति
37. पुष्पांजली का अनुवाद (पं० सत्यकाम विद्यालंकार)
38. कौटिल्य का अर्थशास्त्र
39. श्रीमद्भागवत
40. चाणक्य नीति

PHYLOSOPHY

41. Introduction to Commentary of Vedas by Dayanand, Translated, by Pt. Ghasi Ram M. A.
42. Eclesia Divinia (Swami Bhumanand M. A.)
43. Vedas—Holy Scriptures of Aryas (Pt. Ganga Prasad Upadhyai M. A.)
44. Sanskrit Literature (Adling)
45. Hindu Philosophy (Dr. Radha Krisnan)
49. Jainism (Herbert Warren)
47. The Bible in India (Justice Jecolliot)
48. New Testament : Bible
49. Yoga
50. After Yoga What ? Hidden Teachings Beyond Yoga (Paul-Bruntun)

राजनैतिक

51. सत्यार्थ प्रकाश (दयानन्द सरस्वती)
52. वैदिक समाजवाद (म० नारायण स्वामी)
53. वेद और साम्यवाद (स्वामी सदानन्द)
54. वैदिक संवैधानिक विधि के प्रमुख भाग (चन्द्र मोहन प्रधान)
55. रूस का साम्राज्यवाद (प्राची प्रकाशन—श्री रामस्वरूप)
56. वैदिक साम्यवाद (म० नारायण स्वामी)
57. संस्कृति के चार अध्याय (रामधारी सिंह दिनकर)
58. धर्म और समाजवाद (गुरुदत्त वैद्य एम० एस० सी०)
59. शतपथ में एक पथ (पं० बुद्धदेव विद्यालंकार)
60. काया-कल्प (स्वामी समर्पणानन्द जी)
61. इन्द्र शतकम् (पं शिवदयालु जी वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर)
62. वर्ण व्यवस्था (पं० ज्ञानन्द्र एम० ए०)
63. अन्तर्राष्ट्रीय विधि (हरिदत्त वेदालंकार)
64. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (आर० आर० अग्रवाल एम० ए०)
65. मेरे सपनों का भारत (प्रकाशवीर शास्त्री)

POLITICAL SCIENCE

66. Fundamental Unity of India (Dr. Radha Kumud Mukherjea)
67. Local Govenments in India (Dr. Radha Kumud Mukherjea)
68. Industrial Arts of India (Sir George Bredwood)
69. Socialsm by Minoo Masani
70. Ancient Versus Modern Socialism (Dr. Bhagwan Das)
71. Social Contract (Rouseasau)
72. We and Our Nation—Hood Defined (Guru Golwalker)
73. Language Law and Diplomacy (Alexander Oslower)
74. Political Theories (Savine)
75. Nationalism—A myth (Boyd C. Shafer)
76. American Minority Relations (James W. Vander Zanden Ohio Uaiversity)
77. A Minority Group in American Society (J. Hiltop Younger)

78. Soviet Deportation of Minorities (R. Conquest)
79. Ambers in Cathay (Stanley Ghash)
80 Discovery of India (J. Nehru)
81. My Autobigraphy (Dr. Rajendra Prashad)
82. India Wins Freedom (Maulana Azad)
83. Young India (M. K. Gandhi)
84. History of Congress (Dr. Sitaramaiya)
85. Verdict on India (Nicholas)
86. Verdict on England (K. L. Gauba)
87. India (Miss Mayo)
88. Unhappy India (Lala Lajpat Rai)
89. International Law and Relations
90. वाल्मीकीय रामायण
91. महाभारत
92. रामचरितमानस (गो० तुलसीदास)
93. राजतंरगिनी (कल्हण)
94. भारतवर्ष का इतिहास भाग 1 व 2 (पं० भगवतदत्त रिसर्च स्कालर)
95. इतिहास गुरुद्वारा शहीदगंज (ज्ञानी खजान सिंह)
96. भारतवर्ष का इतिहास (रामदास गौड़)
97. भारतवर्ष का इतिहास (अमृत श्रीपाद डाँगे)
98. भारत वर्ष का प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध (वीर सावरकर)
99. भारतवर्ष का इतिहास (भाई परमानन्द एम० ए०)
100. हिन्दू पद पादशाही (वीर सावरकर)
101. रघुवंश (कवि कालिदास)
102. Indianizatio (Balraj Madhok)
103. जैमिनीपुराण (नवल किशोर प्रेस, लखनऊ)
104. ब्रज का इतिहास (कृष्ण दत्त वाजपेयी)
105. पृथ्वीराज रासो (चन्द्र वरदाई)
106. सविता का सुपर्णांक
107. गदर का इतिहास
108. भारत में अंग्रेजी राज्य (पं० सुन्दर लाल)
109. इंग्लैण्ड का इतिहास (ईश्वरी प्रसाद)
110. वयं रक्षामः (आचार्य चतुर सेन शास्त्री)
111. History of India (R. C. Dutt I. C. S.)
112. Earth's Contents are Adrift (Ronald Schiller)

113. Hindu Superiority (Diwan Harbilas Sharda)
114. A Vision of India (Sydney)
115. Annals of Rajasthan (Tod)
116. Anient Egypt (Gerauld Massey)
117. Landmarks of Indian History (Taylor)
118. India, What Can it Teach us ?
119. India Divided (Dr. RaJendra Prashad)
120. Indian Archipelego

समाजशास्त्र

121. हिन्दू-परिवार मीमांसा (पं० हरिदत्त वेदालंकार)
122. हिन्दू-संस्कार (पं० राजबलि पाण्डेय, एम० ए०, हिन्दू विश्वविद्यालय-वाराणसी)
123. जाति-विच्छेद (डा० भीमराव अम्बेडकर),
124. जाति-निर्णय (पं० शिवशंकर शर्मा—काव्यतीर्थ)
125. जातियों का विस्तार (अल्तेकर)
126. Sex (Petrik Geddas)
127. An Introduction to Sociology (Euzabeth J. Walkins)
128. Castes in India (J· M. Hutton)
129. Peoples of India (Sir Herbert Rislcy)
130. Family and Kin in Indo-European Culture—by—(G. S. Ghurige)

आर्य समाज विषयक

131. स्वामी दयानन्द का जीवन चरित्र (देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय)
132. सार्व देशिक सभा का इतिहास
133. आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का इतिहास
134. आर्य समाज (ला० लाजपत राय)
135. पंजाब और आर्य समाज (रघुवीर सिंह शास्त्री)
136. योगी का आत्म-चरित्र (मूल लेखक—पं० दीनबन्धु शास्त्री-कलकत्ता-भूमिका-स्वामी सच्चिदानन्द योगी)
137. आर्य समाज के सौ वर्ष ।
138. दयानन्द, राममोहन राय और केशव चन्द्र सेन
139. दयानन्द और थ्योसोफिस्ट आन्दोलन

T.E.)

जुएट

एवं

गर,



लेखक के विषय में

जन्म—१ मई १९२०।

डाक्टर प्रोफेसर रामेश्वर दयाल गुप्त

एम० ए०, पी एच० डी० (भोपाल)।

सिद्धान्त शास्त्री (अजमेर), बी० एस० सी० (A.M.I.E.T.E.)

भूतपूर्व—मंडल अभियन्ता (संचार विभाग)

वर्तमान—प्रवक्ता राजनीति-विभाग शि० द० पोस्ट ग्रेजुएट कौलेज गाजियाबाद (उ०प्र०)

सम्पादक—आर्यों का त्रैत-वाद, उरु-तन्त्र एवं Service-Matters

अध्यक्ष—त्रैत-वाद-पीठ। रामेश्वर-कुंज, आर्यनगर, हरिद्वार रोड, ज्वालापुर (उ०प्र०)

अन्य कृतियां :

व्रती-नागरिक.

वर्ण-व्यवस्था.

आध्यात्मिक त्रैत-वाद.

ब्रह्म-यज्ञ.

देव-यज्ञ.

निराकार की स्तुति.

निराकार का स्तवन.

शिव और विष्णु का ऐतिहासिक व्यक्तित्व। इत्यादि।

Jacket Printed at New Deer Art Printers New Delhi-2